Government Oriental Library Series.

BIBLIOTHECA SANSKRITA—No. 24

# माधवीया धातुवृत्तिः.

# THE

# DHATUVṚITTI.

OF

## MADHAVACHARYA.

**Vol. I.—Part II.**

EDITED BY

A MAHA'DEVA S'A'STRI, B. A,

*Curator, Government Oriental Library, Mysore,*

AND

PANDITARATNAM K RANGA'CHA'RYA,

*First Pandit, Government Oriental Library, Mysore*

Published under the Authority of the Government of His Highness the Maharaja of Mysore.

MYSORE:

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS.

1900

# विषयसूचिका.

## भ्वादयः.


| धातवः. | पुटसङ्ख्याः | धातवः | पुटसङ्ख्याः |
|---|---|---|---|
| ईक्ष दर्शने | ३५३ | द्राह निद्राक्षये | ३६४ |
| ईष गतिहिंसादर्शनेषु | ,, | काशृ दीप्तौ | ३६५ |
| भाष व्यक्तायां वाचि | ३५४ | ऊह वितर्के | ३६६ |
| वर्ष स्नेहने | ,, | गाहू विलोडने | ३६७ |
| गेषृ अन्विच्छायाम | ,, | गृहू ग्रहणे | ३६८ |
| एषृ प्रयत्ने | ,, | घुषि कान्तिकरणे | ३६९ |
| जेषृ णेषृ एषृ प्रेषृ गतौ | ३५५ | घुषिरविशब्दनार्थ | ३७० |
| रेषृ हेषृ अव्यक्ते शब्दे | ,, | अक्षू व्याप्तौ | ३७१ |
| कासृ शब्दकुत्सायाम् | ,, | तक्षू त्वक्षू तनूकरणे | ३७३ |
| भासृ दीप्तौ | ३५६ | उक्ष सेचने | ३७४ |
| णासृ रासृ शब्दे | ३५७ | रक्ष पालने | ३७५ |
| णस कौटिल्ये | ३५८ | णिक्ष चुम्बने | ,, |
| भ्यस भये | ३५९ | तृक्ष स्तृक्ष णक्ष गतौ | ,, |
| आट शसि इच्छायाम् | ,, | वक्ष रोषे सङ्घात इत्येके | ३७६ |
| ग्रसु ग्लसु अदने | ३६० | मृक्ष सङ्घाते | ,, |
| ईह चेष्टायाम् | ,, | तक्ष त्वचने | ,, |
| बहि महि वृद्धौ | ३६१ | ष्णक्ष आदरे | ३७७ |
| अहि गतौ | ३६२ | काक्षि वाक्षि माक्षि काङ्क्षायाम् | ,, |
| गर्ह गल्ह कुत्सायाम् | ,, | द्राक्षि ध्राक्षि ध्वाक्षि घोरवासिते च | ,, |
| बर्ह बल्ह प्राधान्ये | ,, | चूष पाने | ३७८ |
| वर्ह वल्ह परिभाषणहिंसादानेषु | ३६३ | तूष तुष्टौ | ,, |
| ष्णिह गतौ | ,, | पूष वृद्धौ | ,, |
| ष्वेह जेह ष्णाह प्रयत्ने | ३६४ | मूष स्तेये | ३७९ |

| धातवः. | पुटसङ्ख्याः. | धातवः. | पुटसः |
|---|---|---|---|
| शप आक्रोशे .. | ३७९ | शमु स्तुतौ | |
| यूष हिंसायाम् .. | ,, | चह परिकल्कने . | |
| जूष च . | ३८० | मह पूजायाम् | |
| भूष अलङ्कारे | ,, | रह त्यागे . | |
| ऊष रुजायाम् . | ,, | रहि गतौ | |
| ईष उञ्छे . | ३८१ | दृह दृंहि बृह बृंहि वृद्धौ | |
| कष खष शिष जष झष शप वष मष रुष रिष हिंसार्था | ,, | बृंहि शब्दने | |
| | | तुंहिर् दुंहिर् उंहिर् अर्दने | |
| भष भर्त्सने .. | ३८५ | अर्ह पूजायाम् .. | |
| उप दाहे ... | ,, | द्युत दीप्तौ .. | |
| जिषु विषु मिषु सेचने .. | ३८६ | श्विता वर्णे .. | |
| पुष पुष्टौ .. | ३८८ | ञि मिदा स्नेहने | |
| श्रिषु श्लिषु प्रुषु प्लुषु दाहे | ,, | ञि ष्विदा स्नेहस्य मोचने च | |
| पृषु वृषु मृषु सेचने । मृष्ट सहने च । इतरौ हिंसासक्लेशनयोश्च | ३९० | रुच दीप्तावभिप्रीतौ च | |
| | | घुट परिवर्तने . | |
| द्रुप सङ्क्लेपे .. | ३९२ | रुट लुट लुठ प्रतीघाते | |
| हृषु अलीके | ,, | शुभ दीप्तौ . | |
| तुस ह्रस ह्लस रस शब्दे .. | ३९३ | क्षुभ सञ्चलने . | |
| लस श्लेषणक्रीडनयो | ३९४ | णभ तुभ हिंसायाम् . | |
| घस्लृ अदने .. | ,, | स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु अवस्रंसने | |
| जर्ज चर्च झर्झ परिभाषणहिंसातर्जनेषु . | ३९५ | ध्वंसु गतौ च .. | |
| | | स्रम्भु विश्वासे . | |
| पिसृ पेसृ गतौ . | ३९६ | वृतु वर्तने .. | |
| हस हसने .. | ,, | वृधु वृद्धौ . | |
| णिश समाधौ . | ३९७ | शृधु शब्दकुत्सायाम् .. | |
| मिश मश शब्दे रोपकृते च | ३९८ | स्यन्दू प्रस्रवणे .. | |
| शव गतौ . | ,, | कृपू सामर्थ्ये .. | |
| शश प्लुतगतौ .. | ,, | घट चेष्टायाम् . | |
| शसु हिंसायाम् .. | ३९९ | व्यथ भयसञ्चलनयोः .. | |

| धातवः. | पुटसङ्ख्याः. |
|---|---|
| प्रथ प्रख्याने | ४२५ |
| प्रस विस्तारे | ४२७ |
| भ्रः मर्दने | ,, |
| स्खद स्खदने | ४२८ |
| क्षजि गतिदानयो | ,, |
| दक्ष गतिशासनयोः | ४२९ |
| क्रप कृपाया गतौ | ,, |
| क्रदि क्रदि क्लदि वैक्लव्ये | ४३० |
| त्रि त्वरा सम्भ्रमे | ४३१ |
| ज्वर रोगे .. | ४३२ |
| गट सेचने .. | ,, |
| हेड वेष्टने | ४३३ |
| वट भट परिभाषणे | ४३४ |
| नट नृत्तौ . | ,, |
| ष्टक प्रतिघाते | ,, |
| चक तृप्तौ . | ४३५ |
| कखे हसने ... | ,, |
| रगे शङ्कायाम् | ,, |
| लगे सङ्गे .. | ४३६ |
| ह्वगे ह्वगे पगे ष्टगे सवरणे | ,, |
| कगे नोच्यते . | ४३७ |
| अक अग कुटिलायां गतौ | ,, |
| कण रण गतौ | ,, |
| चण शण श्रण दाने .. | ४३९ |
| श्रथ क्रथ क्रथ क्लथ हिंसार्थाः | ,, |
| चन च .. | ४३९ |
| वनु च नोच्यते . | ,, |
| ज्वल दीप्तौ ... | ४४० |
| ह्वल ह्वल चलने . | ,, |

| धातवः. | पुटसङ्ख्याः. |
|---|---|
| स्मृ आध्याने .. | ४४१ |
| दृ भये .. | ,, |
| नृ नये .. | ४४२ |
| श्रा पाके .. | ,, |
| मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा | ४४३ |
| कम्पने चलि . | ४४४ |
| छदिर् ऊर्जने . | ,, |
| जिह्वोन्मथने लडि .. | ४४६ |
| मदी हर्षग्लेपनयो .. | ,, |
| ध्वन शब्दे . | ,, |
| स्वन अवतंसने .. | ४४७ |
| शमोऽदर्शने . | ४४९ |
| यमोऽपरिवेषणे | ४५० |
| स्खदिरवपरिस्या च .. | ,, |
| फण गतौ .. | ४५१ |
| राजृ दीप्तौ .. | ४५२ |
| टु भ्राजृ टु भ्राशृ टु भ्लाशृ दीप्तौ | ४५५ |
| स्यमु स्वन ध्वन शब्दे . | ४५६ |
| षम ष्टम अवैक्लव्ये . | ४५९ |
| ज्वल दीप्तौ . | ४६० |
| चल कम्पने .. | ,, |
| जल घातने . | ४६१ |
| टल टुल वैक्लव्ये | ,, |
| ष्टल स्थाने | ४६२ |
| हल विलेखने | ,, |
| णल गन्धने . | ४६३ |
| पल गतौ | ४६४ |
| बल प्राणने धान्यावरोधे च | ४६५ |

| धातवः. | पुटसङ्ख्या. |
|---|---|
| पुल महत्त्वे .. | ४६५ |
| कुल संस्त्यानें बन्धुषु च | ४६६ |
| शल हुल पत्लृ गतौ | ४६७ |
| हुल हिंसासंवरणयोश्च . | ,, |
| क्रथे निष्पाके | ४७५ |
| पथे गतौ | ,, |
| मथे विलोडने | ,, |
| टु बम उद्गरणे | ४७६ |
| भ्रमु चलने | ,, |
| क्षर संचलने | ४७९ |
| षह मर्षणे | ,, |
| रम क्रीडायाम् ... | ४८३ |
| षदॢ विशरणगत्यवसादनेषु | ४८६ |
| शदॢ शातने | ४८९ |
| कुश आह्वाने रोदने च ... | ४९० |
| कुच सम्पर्चनकौटिल्यप्रातिष्ठम्भवि-लेखनेषु ... | ४९१ |
| बुध अवगमने | ४९२ |
| रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च | ४९३ |
| कस गतौ .. | ४९४ |
| हिक्क अव्यक्ते शब्दे | ४९५ |
| अञ्चु गतौ याचने च . | ,, |
| टु याचृ याच्ञायाम् | ४९६ |
| रेटृ परिभाषणे . | ४९७ |
| चते याचने च .. | ,, |
| प्रोथृ पर्याप्तौ | ५०१ |
| मिदृ मेदृ मेधाहिंसनयो... | ,, |
| मेधृ संङ्गमे च .. | ५०२ |
| णिदृ णेदृ कुत्सासंन्निकर्षयो | ,, |

| धातव. | पुटसङ्ख्याः. |
|---|---|
| शृधु मृधु उन्दने . | ५०२ |
| बुधिर् बोधने . | ५०३ |
| उ बुन्दिर् निशामने .. | ५०४ |
| वेणृ गतिज्ञानचिन्तानिशामनवादि-ग्रहणेषु . | ,, |
| खनु अवदारणे | ,, |
| चीञ् आदानसंवरणयो | ५०८ |
| चायर् पूजानिशामनयो . . | ,, |
| व्यय गतौ . | ५०९ |
| दाशृ दाने | ,, |
| भेषृ भये . | ५१० |
| भ्रेषृ गतौ | ,, |
| अस गतिदीप्त्यादानेषु . | ,, |
| स्पश बाधनस्पर्शनयो | ,, |
| लष कान्तौ | ५१२ |
| चष भक्षणे . | ,, |
| छष हिंसायाम् ... | ,, |
| झष आदानसंवरणयो | ५१३ |
| ष्लक्ष अदने | ,, |
| दासृ दाने | ,, |
| माङ् माने . | ५१४ |
| गुङ् संवरणे | ,, |
| श्रीञ् सेवायाम् . | ५१६ |
| भृञ् भरणे | ५१८ |
| हृञ् हरणे . | ५२० |
| धृञ् धारणे | ५२५ |
| णींञ् प्रापणे .. | ५२७ |
| धेट् पाने . | ५३२ |
| ग्लै म्लै हर्षक्षये .. | ५३७ |

| धातव: | पुटसङ्ख्या: | धातव | पुटसङ्ख्या: |
|---|---|---|---|
| वै न्यक्करणे .. | ५३८ | ध्रु स्थैर्ये ... | ५८८ |
| व्रै स्वप्ने . | ,, | द्रु गतौ .. | ,, |
| व्रै तृप्तौ .. | ,, | जि ज्रि अभिभवे | ५९१ |
| ध्यै चिन्तायाम् . | ,, | ष्मिङ् ईषद्धसने | ५९२ |
| रै शब्दे | ५३९ | गुङ् अव्यक्ते शब्दे . | ५९१ |
| स्त्यै ष्टयै शब्दसङ्घातयो | ५४० | गाङ् गतौ | ५९४ |
| खै खदने | ५४२ | कुङ् घुङ् उद् डुङ् शब्दे | ५९६ |
| क्षै जै षै क्षये | ,, | च्युङ् ज्युङ् प्रुङ् प्लुङ् गतौ | ५९७ |
| कै गै शब्दे | ५४३ | रुङ् गतिरेषणयो | ५९८ |
| श्रै खै पाके . | ५४५ | धृङ् अवध्वंसने | ,, |
| पै औ वै शोषणे | ५४६ | मेङ् प्रणिदाने . | ,, |
| ष्टै वेष्टने | ५४७ | ढेङ् रक्षणे | ६०० |
| दैप् शोधने | ५४८ | ष्यैङ् गतौ | ,, |
| पा पाने | ,, | ष्यैङ् वृद्धौ | ६०१ |
| घ्रा गन्धोपादाने | ५५३ | त्रैङ् पालने . | ,, |
| ध्मा शब्दाग्निसंयोगयो | ५५ | पूङ् पवने | ६०२ |
| ष्ठा गतिनिवृत्तौ | ५५५ | मूङ् बन्धने .. | ६०३ |
| म्ना अभ्यासे . | ५६३ | डीङ् विहायसा गतौ .. | ,, |
| दाण् दाने | ५६४ | तॄ प्लवनतरणयो | ६०४ |
| ह्रू कौटिल्ये | ५६७ | गुप गोपने । तिज निशाने । मान पूजायाम् । बध बन्धने | ६०७ |
| स्वृ शब्दोपतापयो. | ५६८ | गभ गाभस्त्ये | ६०९ |
| स्मृ चिन्तायाम् | ५७० | डु लभष् प्राप्तौ | ६१० |
| सृ गतौ | ५७१ | ध्वञ्ज परिष्वङ्गे | ६१२ |
| ऋ गतिप्रापणयो | ५७५ | हद पुरीषोत्सर्गे | ६१४ |
| गृ घृ सेचने . | ५८० | जि क्विदा अव्यक्ते शब्दे | ,, |
| ध्वृ हूर्छने . | ५८१ | स्कन्दिर् गतिशोषणयो ... | ६१४ |
| सु गतौ . | ,, | यभ विपरीतमैथुने . | ६१६ |
| षु प्रसवैश्वर्ययो ... | ५८३ | णम प्रह्वत्वे .. | ६१७ |
| श्रु श्रवणे ... | ५८५ | | |

| धातवः. | पृष्ठसङ्ख्याः. | धातव. | पृष्ठसङ्ख्या |
|---|---|---|---|
| गम्लृ सृप्लृ गतौ | ६१८ | षच समवाये . | ६५० |
| यम उपरमे . | ६३१ | भज सेवायाम् . | ६५१ |
| तप सन्तापे | ६३३ | रञ्ज रागे . | ६५२ |
| त्यज हानौ | ६३६ | शप आक्रोशे . | ६५५ |
| षन सङ्भे | ६३७ | ष्टिप दीप्तौ | ६५६ |
| दृशिर् प्रेक्षणे . | ६३९ | यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु | ६५७ |
| दंश दशने | ६४२ | टु वप् बीजासन्ताने . | ६६१ |
| कृप विलेखने . | ६४३ | वह प्रापणे | ६६२ |
| दह भस्मीकरणे | ६४५ | वस निवासे ... | ६६५ |
| मिह सेचने | ६४६ | वेञ् तन्तुसन्ताने . | ६६९ |
| कित निवासे रोगापनयने च | ,, | व्येञ् संवरणे . . | ६७१ |
| दान अवखण्डने .. | ६४७ | ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च . | ६७२ |
| शान तेजने . | ,, | वद व्यक्तायां वाचि | ६७५ |
| टु पचष् पाके . | ,, | टु ओ श्वि गतिवृद्धयो . | ६७८ |

## ईक्ष दर्शने ॥ ६०१ ॥

ईक्षते । ईक्षाञ्चक्रे । ईक्षिता । ईक्षिष्यते । ईक्षताम् । ऐक्षत । ईक्षेत । ईक्षिषीष्ट । ऐक्षिष्ट ॥ ईचिक्षिषते ॥

ईक्षयति । ऐचिक्षत् ॥

देवदत्तायेक्षते । नैमित्तिकः पृष्टस्सन् शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः । 'राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः' अनयोस्तत्कारकं सम्प्रदानं यस्य विप्रश्नः । यद्विषयं पृच्छ्यते इत्यर्थः । स्वसम्बन्धिनः शुभाशुभस्य विप्रश्नयोग्यत्वात् कारकमपि तथोच्यते । तदिह धातुः अर्थात् शुभाशुभपर्यालोचनवृत्तिः । अन्यत्र देवदत्तमीक्षत इति द्वितीयैव ॥

सुखं प्रतीक्षते सुखप्रतीक्षः—सुखप्रतीक्षा—'ईक्षिक्षमिभ्यां चेति वक्तव्यम्' इति कर्मण्युपपदे णप्रत्ययः ॥

## ईष गतिहिंसादर्शनेषु* ॥ ६०२ ॥

ईषते । ईषाञ्चक्रे । ईषिता । इत्यादि । 'नीषसहलुभरुषरिषः' इत्यत्र ह्रस्वादेर्ग्रहणात् ईषिता इत्यादौ नेड्विकल्पः ॥

ईषा । मनस ईषा मनीषा—पृषोदरादिः ॥

ईष्वः आचार्यः—'सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपट्वप्रह्वेष्वा अस्वतन्त्रे' इति वक्तन्तस्य निपातनमस्येति मैत्रेयः । उणादिवृत्तौ तु इषु इच्छायामित्यस्य तौदादिकस्य निपातनमुच्यते ईष्वः इति ह्रस्वादिः । तन्मतेऽयमिच्छार्थः ॥

परस्मैपदिषु 'इष गतौ' इति दिवादौ । अयमिच्छार्थः तुदादौ । आभीक्ष्ण्यार्थः क्रचादौ ॥

*हिंसादानेषु.

## भाष व्यक्तायां वाचि ॥ ६०३ ॥

भाषते । बभाषे । भाषिता ॥

बिभाषिषते । बाभाष्यते । बाभाषीति, बाभाष्टि ॥

भाषयति । अबभाषत्, अबीभषत्—'भ्राजभास' इत्युपधाह्रस्वविकल्पः ॥

व्याभाषकः—'निन्दहिंस' इत्यादिना वुञ् ताच्छीलिकः ॥

## वर्ष स्नेहने ॥ ६०४ ॥

दन्त्योष्ठ्यादिः । वर्षते । ववर्षे । वर्षिता ॥

विवर्षिषते । वावर्ष्यते । वावर्षीत् ॥

लङि तिप्सिपोः—अवावर्ट्, अवावर्ड्—'रात्सस्य' इति नियमान्न संयोगान्तलोप ॥

वृष सेचने, इत्यग्रे परस्मैपदी । शक्तृचर्थश्चुरादौ ॥

## गेषृ अन्विच्छायाम् ॥ ६०५ ॥

ग्लेषृ इति मैत्रेयः । अन्विच्छा अन्वेषणम् ॥

गेषते । जिगेषे । गेषिता ॥

जिगेषिषते । जेगेष्यते । जेगेषीत् । जेगेष्टः ॥

गेषयति । अजिगेषत्—ऋदित्त्वान्नोपधाह्रस्वः ॥

## एषृ प्रयत्ने ॥ ६०६ ॥

एषते इत्यादि ॥

## जेषृ णेषृ एषृ प्रेषृ गतौ ॥ ६०७—६१० ॥

जेषते ॥

नेषते । प्रणेषते ॥

एषते । एषाञ्चक्रे । एषिता । एषिष्यते ॥

एषयति । मा भवानेषिषत् ॥

प्रेषते ॥

## रेषृ हेषृ अव्यक्ते शब्दे ॥६११—६१२॥

रेषते—अयं स्वभावात् वृकविषयः ॥

हेषते । अयमश्वविषयः ॥

ह्रेषृ इति सरेफश्चात्र द्रष्टव्यः ॥

यदाह केशवस्वामी—

कौक्षे कर्दति पर्दते गुदरवे रेषेति वार्के भवेत्
बुक्कोपि श्वरवे भषेति हयजे ह्रेषेति हेषेति च । इति ॥

तथा—'हेषा ह्रेषा च निस्वने' इत्यमरः ॥

## कासृ शब्दकुत्सायाम् ॥ ६१३ ॥

कासते ॥

कासाञ्चक्रे—'कास्प्रत्ययात्' इत्याम् ॥

कासिता । कासिष्यते । कासताम् । अकासत । कासेत । कासिसीष्ट । अकासिष्ट । चिकासिषते । चाकास्यते । चाकास्ति ॥

लोटि हेर्धिभावे 'धि च' इति तलोपे—**चाकाधि** । न च 'धि च' इत्यत्र भाष्यकृता सिजिलोपेऽप्यते । लडि—तिपि हल्ङ्यादिलोपे प्रत्ययलक्षणेन तिप्परत्वात् 'तिप्यनस्तेः' इति अस्तिवर्जितस्य सान्तस्य पदस्य तिपि परे दकार इति दकारे तस्य चर्त्वे **अचाकात्** । सिपि तु 'सिपि धातोरुर्वा' इति सान्तस्य अस्तिवर्जितस्य धातो. पदस्य पक्षे रुत्वे—**अचाकाः** इत्यपि भवति ॥

**कासयति** । **अचकासत्**—ऋदित्त्वान्नोपधाह्रस्वः ॥

**कासः**—'हलश्च' इति संज्ञाया घञ् ॥

**कासरः**—औणादिकः अर. ॥

**कासारः**—बाहुलकादार. ॥

**कासूः**—शक्तिः ॥

**कासूतरी**—'कासूगोणीभ्यां ष्टरच्' इति अल्पत्वे द्योत्ये ष्टरच् । षित्त्वात् ङीष् । अस्मादेव निर्देशादूकारप्रत्ययः ॥

**कसति** इति ज्वलादौ गत्यर्थः । कंस्त इति गतिशासनयोरादादिकस्य । तत्रान्येऽनिदित्पाठिनः कस्त इत्याहुः । अन्ये तु तालव्यान्तं पठन्तः कष्ट इति ॥

## भासृ दीप्तौ ॥ ६१४ ॥

**भासते** इत्यादि कासिवत् ॥

**भासयति** ॥ **अबीभसत्, अबभासत्**—'भ्राजभास' इत्युपधाह्रस्वविकल्पः ॥

एवं चास्य ऋदित्त्वं तन्मात्रफलम् । अनुबन्धान्तराकरणं तु प्रकरणानुरोधात् ॥

**भास्वरः**—'स्थेशभास' इत्यादिना तच्छीलादौ वरच् ॥

**भाः** । **भासौ** । **भासः**—'भ्राजभास' इत्यादिना ताच्छीलिक. कर्तरि क्विप् ॥

## णासृ रासृ शब्दे ॥ ६१५–६१६ ॥

**नासते** । **प्रणासते** ॥

**रासत** इत्यादि कासिवत् ।

**नासा**—अकारः ॥

**नासिका**—संज्ञायां कनि 'केऽणः' इति ह्रस्वः । 'प्रत्ययस्थात्' इतीत्वम् ॥

नासाया भवं तस्मै हितं **नास्यम्**—'शरीरावयवात्' इति यत् ॥

नासिकाशब्दात्तु यति 'नस्नासिकाया यत्तमक्षुद्रेषु' इति नस्भावे **नस्यम्** इति । एवम्—**नस्तः** । **नक्षुद्रः** । इत्यादि । 'आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति सार्वविभक्तिक. तसिः । 'अपादाने चाहीयरुहोः' इति वा अपादाने या पञ्चमी तदन्तात्स्वार्थे तसिः हीयरुहोः प्रयोगे नेति । नक्षुद्रः इत्यत्र नासिकया क्षुद्र इति 'पूर्वसदृश' इत्यादिना समासस्तृतीयायाः । तत्र हि ऊन इत्यर्थग्रहणम् ॥

**नासिक्यो** वर्णः । **नासिक्य** नगरम्—इत्यत्र यति 'वर्णनगरयोर्न' इति नस्भावनिषेधः ॥

वाध्रीव नासा यस्य **वाध्रीणसः** अजविशेषः—'अजनासिकायास्संज्ञायां नसं चास्थूलात्' इति नासिकान्तात् बहुव्रीहेः

संज्ञायामच्समासान्तः । नासिकायाश्च नसादेशः । अस्थूलादिति वचनात् **स्थूलनासिक** इत्यत्र अञ्नस्भावौ न भवतः ॥

**खुरणाः**—'खुरखराभ्या नस् वक्तव्यः' इति नस्भावः । आदेशान्तरकरणं प्रत्ययनिवृत्त्यर्थमिति कैय्यटपदमञ्जर्यादौ । अत्र वृत्तावजपीष्यते इति । तेन—'खुरणसः । खरणसः' इत्यपि भवति॥

प्रगता नासिका अस्मात् **प्रणसः**—'उपसर्गाच्च' उपसर्गपूर्वनासिकान्तबहुव्रीहेः अचित्यच् । नासिकायाश्च नस्भावः । 'उपसर्गाद्बहुलम्' इति उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नसो नकारस्य णत्वम् । उभयत्रोपसर्गग्रहणं प्राद्युपलक्षणार्थम् ॥

विगता नासिका अस्य **विग्रः**—'वेर्ग्रो वक्तव्यः' इति ग्रादेशो नासिकायाः ॥

'यद्यहं नाथ नायास्यं विनसा हतबान्धवा' इति भट्टिप्रयोगं विशेषविहितेन ग्रादेशेन भाव्यमिति महान्तो न सहन्ते । केचित्तु वार्तिकं 'वेः खो वक्तव्यः' इति पठन्तो **विख** इत्युदाहरन्ति ॥

**तुङ्गनासिका**—'नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च' इति नासिकाद्यन्ताद्बहुव्रीहेः वा ङीष् ॥

**रासः**—क्रीडाविशेषः ॥

**रासभः**—'रासिवस्छिभ्यां च' इत्यभच् ॥

**रास्ना**—'रास्नासास्नास्थूणावीणा' इति नप्रत्यये निपातितः ॥

## णस कौटिल्ये ॥ ६१७ ॥

**नसते । प्रणसते । नेसे । नासिता ।** इत्यादि ॥

**नासयति । अनीनसत् ॥**

## भ्यस भये ॥ ६१८ ॥

**भ्यसते । बभ्यसे । भ्यसिता । बिभ्यसिषते ॥**

**बाभ्यस्यते । बाभ्यस्ति ।**

**भ्यासयति । अबिभ्यसत् ॥**

**बाभ्यधि**—इत्यत्र हेः धिभावे 'धि च' इति सलोपः । तस्यासिद्धत्वात् 'अतो हेः' इति लुक् न भवति ॥

एवं नसेरपि **नानधि** इति भवति ॥

## आङः शसि इच्छायाम् ॥ ६१९ ॥

आङः शसीति पाठादयमाङ्पूर्व एव प्रयोक्तव्यः । तथा च काश्यपः—अयमाङ्पूर्व एव प्रयोक्तव्य इति । सम्मतायान्तु—न केवलो नाप्युपसर्गान्तरपूर्व इति ॥

**आशंसते । आशशंसे । आशंसिता ।**

**आशिशंसिषते । आशशंस्यते**—इदित्त्वान्नुम्, नलोपाभावश्च ॥

**आशाशंस्ति । आशाशन्धि** इत्यत्र 'धि च' इति सलोपे अनुस्वारपरसवर्णौ ॥

लडि—तिप्सिपोः हल्ङ्यादिलोपे संयोगान्तलोपे च **आशाशन्** ॥

**आशंसयति । आशशंसत् ॥**

**आशंसुः**—'सनाशंसभिक्षउः' इत्युप्रत्ययः ॥

**आशंसितः ॥**

**आशस्य**—क्त्वो ल्यप् ॥

दौर्गास्तु । नोपधमनिदितं पठन्तीति स्वामी । तेषां नलोपाभावो विशेषः ॥

शंसु स्तुतौ, इत्यग्रे परस्मैपदिषु । आङः शासु इच्छायाम्, शासु अनुशिष्टौ इति द्वयमदादौ ॥

## ग्रसु ग्लसु अदने ॥ ६२०-६२१ ॥

**ग्रसते** । **जग्रसे** । **ग्रसिता** । इत्यादि पूर्ववत् ॥

**ग्रासयति** पिण्डं देवदत्तम्—निगरणार्थत्वान्नित्यं परस्मैपदं, प्रयोज्यस्य कर्मत्वं च ॥

**ग्रसित्वा, ग्रस्त्वा**—उदित्त्वात् इड्विकल्पः ॥

**ग्रस्तः**—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् ॥

ग्रस्यत इति **ग्रासः** कबलः ॥

पिण्डं ग्रसते इति **पिण्डग्रः**—'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः 'अधातोः' इति प्रतिषेधात् न भवति ॥

**ग्रसिष्णुः** इति हेलाराजीये लिङ्गनिर्देशे प्रयुज्यते । 'भुवश्च' इत्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् भ्राजिष्णुवन्निर्वाह्य । अत एव 'भुवश्च' इत्यत्र वृत्तौ चकारात् भ्राजेश्च भाषायामिति चशब्दः क्रियते ॥

एवं **ग्लसतीत्यादि** ॥

## ईह चेष्टायाम् ॥ ६२२ ॥

**ईहते** । **ईहाञ्चक्रे** । **ईहिता** । **ईहिष्यते** । **ईहताम्** । **ऐहत** । **ईहेत** । **ईहिषीष्ट** । **ऐहिष्ट** ॥

ईजिहिषते ॥

ईहयति । मा भवानीजिहत् ॥

ईहा । एही पर्येही—आङ्पूर्वात्पर्याङ्पूर्वाच्चेनन्तात् शार्ङ्गरवादि-पाठात् ङीन् ॥

## बहि महि वृद्धौ ॥ ६२३-६२४ ॥

बंहते । बबंहे । बंहिता । बहिपीष्ट ॥

विबंहिषते । बाबंह्यते—इदित्वान्नुम्, नलोपाभावश्च ॥

बाबण्ढ—झलि पदान्ते च 'होढः' इति हकारस्य ढकारः । 'झषस्तथोर्धोधः' इति तकारस्य धकारे, 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे, 'ढोढे लोपः' इति पूर्वस्य लोपः । अत्र ढत्वष्टुत्वे आश्रयात्सिद्धे । नकारस्यानुस्वारपरसवर्णौ ॥

बाभंक्षि—ढत्वे, 'एकाचो बशो भष्झषन्तस्यस्ध्वोः' इति बकारस्य भष्भावेन भकारे 'पढोः कस्सि' इति कत्वम् । बाबण्ढः । बाबंहति । बाबंह्मि । बाबंह्व ॥

लडि तिप्सिपो होधात्पूर्वं हल्लुचादिलोपः* इति झषन्तत्वाभावान्न भष्भावः—अबाबन् ॥

बंहयति । अबबंहत् ॥

एवं भंहते । इत्यादि ॥

अय भाषार्थश्चुरादाविति स्वामी । मह पूजायाम्, इतीहैवाग्रे परस्मैपदिषु । महीयते इति 'महीङ्' इति कण्ड्वादिपाठात् ॥

*. .र्व सयोगान्तलोप,

## अहि गतौ ॥ ६२५ ॥

अंहते । आनंहे । अंहिता ॥

अञ्जिहिषते । 'कुहोश्चुः' इति हकारस्य चुत्वे झकारे 'अभ्यासेचर्च' इति जश्त्वेन जकारे नकारस्यानुस्वारपरसवर्णौ ॥

अंहयति । आञ्जिहत् ॥

अंहः—असुन् ॥

अयं चुरादौ भाषार्थः ॥

## गर्ह गल्ह कुत्सायाम् ॥ ६२६-६२७ ॥

गर्हते । जगर्हे । गर्हिता ॥

जिगर्हिषते । जागर्ह्यते । जागर्हीति । इत्यादि बंहिवत् ॥

लडि तिप्सिपो लुक्श्लादिलोपे 'रात्सस्य' इति नियमात् संयोगान्तलोपाभावात् हकारस्य ढकारे झषन्तत्वात् पदान्तविषयत्वाच्च भष्भावे—अजाघर्ड् ॥

अयमाधृषीयोऽपि ॥

गल्हते—इत्यादि । पूर्ववत् ॥

यङ्लुकि, तिप्सिपोः लोपे संयोगान्तलोपे च अजागल् ॥

## बर्ह बल्ह प्राधान्ये ॥ ६२८-६२९ ॥

ओष्ठ्यादी । बर्हते । बल्हते । इत्यादि ॥

बर्हते सर्वेष्ववयवेषु प्रधानं भवतीति बर्हम् । बर्हिणः—'फलबर्हाभ्यामिनज्वक्तव्यः' इति मत्वर्थीय इनच् ॥

**बर्ही**—मत्वर्थीय इनिः ॥

इमौ भाषार्थौ चुरादी । बर्हिस्तु हिंसायामपि तत्रैव । बृह बृहि वृद्धौ इति अत्रैवाऽग्रे परस्मैपदिषु ॥

## वर्ह वल्ह परिभाषणहिंसादानेषु ॥६३०-६३१॥

दन्त्यौष्ठ्यादी । **वर्हते** । **वल्हते** । इत्यादि ॥

अत्र धनपालमैत्रेयौ परिभाषणादौ ओष्ठ्यादित्वं वृद्धौ दन्त्यौष्ठ्यादित्वं चाहतुः । 'छादयत्यनेनेति बर्हः घञ्' इति वदन् शाकटायनोऽप्यत्रैवानुकूलः । यथा वयं तथा स्वामी । यदाह—बर्ह बल्ह प्राधान्ये मुनिप्रबर्हाः बर्हमिति । एवं हि मुनिप्रबर्हा इति प्राधान्ये प्रयोग उपपद्यते । **प्रवल्हिका** इति च भाषार्थे । तदुक्तं पुरुषकारे—'प्रवल्हिका प्रहेळिका' इति । तच्चात्रैव अनुकूलम् । भाषाविशेषत्वात् प्रवल्हा इति—तथा च बह्वृचब्राह्मणम्—'प्रवल्हिकाश्शंसति प्रवल्हिकाभिर्देवा असुरान् प्रवल्ह्यायैनानत्यायन्' इति । व्याकृतं चैतत् गोविन्दस्वामिना—प्रवल्ह्य अनृतं भाषित्वा इति । यत्तूक्तं शाकटायनेन—'आच्छादयतेऽनेनेति बर्हः घञ्' इति नैतदोष्ठ्यादित्वे साधकं, सर्वेष्ववयवेषु प्रधानं भवतीत्येवं* व्युत्पादितत्वात् । वृहू उद्यमने इति तुदादौ† ॥

## प्लिह गतौ ॥६३२॥

**प्लेहते** । **पिप्लिहे** ॥ **पिप्लिहिषते** ॥

---

*भविष्यतीत्येव. †बृह उद्यमन इति चुरादौ

**प्रिहित्वा, प्रेहित्वा**—'रलोव्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः ॥

**प्रीहा**—'श्वन्नुक्षन्पूषन्प्रीहन्क्रेदन्स्नेहन्मूर्धन्मज्जन्नर्यमन्विश्वप्सन्-परिज्मन्मातरिश्वन्मघवन्' इति कनिनन्तो निपातितः। उणादिवृत्तौ तु प्रीशब्दपूर्वाद्धन्तेष्टिलोपे व्युत्पादितः। यथा वयं तथा मैत्रेयः। **प्रीहानौ** इत्यादौ 'इन्हन्पूषा' इति नियमो हन्शब्दस्यानर्थक्यान्नेति भाष्यादौ स्थितम् ॥

## वेह जेह बाह प्रयत्ने ॥६३३-६३५॥

आद्यो दन्त्यौष्ठ्यादिः। अन्त्यः केवलौष्ठ्यादिः। उभावपि केवलौष्ठ्यादी इत्येके। दन्त्यौष्ठ्यादी इत्यन्ये ॥

**वेहते। जेहते। बाहते।** इत्यादि ॥

ऋदित्त्वाण्णौ चङि ह्रस्वाभावः—**अविवेहत्** इत्यादि ॥

**वेहत्**—गर्भोपघातिनी गौः—'संश्वत्तृपद्वेहत्' इति अतिप्रत्यये निपात्यते। **गोवेहत्**—'पोटायुवति' इत्यादिना कर्मधारयः ॥

**बाह्या**—अजन्तत्वाट्टाप् ॥

**बाढम्**—'क्षुब्धस्वान्त' इत्यादिना निष्ठायामिडभावो भृशार्थे। अन्यत्र **बाहितम्** ॥

जेहतिर्गत्यर्थोऽपि—उक्तं च 'अरेणुभिर्जेहमानं'* इत्यत्र क्षुरभट्टभास्करीययोः ॥

## द्राह निद्राक्षये ॥ ६३६ ॥

निक्षेप इति केचित् ॥

**द्राहते।** इत्यादि पूर्ववत् ॥

---

*स.४-६-७.

यङ्लुकि 'दादेर्धातोर्घः' इति झलि पदान्ते चेति हस्य घकारे 'ष्टुनाष्टुः' इति धत्वे जश्त्वे च—दाद्राग्धि, दाद्राग्ध इत्यादि॥ सिपि भष्भावेन दकारस्य धकारे 'खरि च' इति घकारस्य चर्त्वेन ककारे सिप्सकारस्य षत्वे—**दाध्राक्षि** । लडि हल्ङ्यादिना तिप्सिपोर्लोपे भष्भावजश्त्वचर्त्वेषु—**अदाध्राक्**॥

## काशृ दीप्तौ ॥ ६३७ ॥

**काशते** । **चकाशे** । **काशिता** । **काशिष्यते** । **काशताम्** । **अकाशत** । **काशेत** । **काशिषीष्ट** । **अकाशिष्ट** । **अकाशिष्यत** ॥

**चिकाशिषते** । **चाकाश्यते** । **चाकाष्टि** । व्रश्चादिना षत्वे ष्टुत्वम्। **चाकाक्षि** । **चाकाश्मि** । **चाकाश्वः**। **चाकाश्म** । **चाकाष्टि**—इत्यत्र हेर्धिभावे व्रश्चादिना षत्वे ष्टुत्वे जश्त्वम्॥

लडि, **अचाकाट्**॥

**काशयति** । **अचकाशत्**॥

**काशः**—अच् घञ् वा ॥

**नीकाशः**—'इक काशे' इति इगन्तस्योपसर्गस्य काश उत्तरपदे दीर्घः ॥

**काशि**, **काशी**—अक्तिच्नन्तत्वाद्वा ङीष्॥

काशिषु भवा **काशिका**—'काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ' इति शैषिकौ ठञ्ञिठौ । ठञि 'टिड्ढा' इति ङीप्—**काशिकी**॥

**काष्ठम्** । **काष्ठा**—'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्' इति क्थन् ॥

आकारोपधप्रकरणादयमिह पठितः । अयं दिवादौ च । कश गतिशासनयो', इत्यदादौ ॥

अन्ये दन्त्यान्त्यमिदितं पठन्ति । अनिदितमपरे ॥

## ऊह वितर्के ॥ ६३८ ॥

वितर्कः सम्भावनम् । ऊहते । ऊहाञ्चक्रे । ऊहिता । ऊहिष्यते । ऊहताम् । औहत । ऊहेत । ऊहिषीष्ट । औहिष्ट ॥

ऊजिहिषते । ऊहयति । औजिहत् ॥

**समूहति, समूहते**—'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनम्' इत्युपसृष्टादस्मात्परस्मैपदं च ॥

**समुह्यात्** इत्यत्र 'किदाशिषि' इति किन्वे, 'उपसर्गाद्ह्रस्व ऊहतेः' इति यकारादौ क्ङिति ह्रस्वः । एव यक्यपि **समुह्यत** इति । यद्यपि 'उपसर्गादस्यत्यूह्योः' इति वार्तिकमकर्मकाधिकारपठितं तथाऽपि वृत्तिकैय्यटादौ सकर्मकाकर्मकसाधारणमुक्तम् । 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः' इति प्रयोग आङ्पूर्वस्येति सुधाकर' । एवं च सति **औहतीति** गुण. पठितव्यः ॥

ओह्यते इत्यत्र अन्तादिवद्भावेन उपसर्गात्परत्वेन 'उपसर्गाद्ह्रस्व ऊहतेः' इति ह्रस्वो न भवति, 'उभयतश्चाश्रये नान्तादिवत्' इति वचनात् । यद्वा—अत्राण इति वर्तते । स च सामर्थ्यात्पूर्वेण णकारेणेति ह्रस्वाप्रसङ्गः । एव च **समौह्यत** इत्यादावप्याटि वृद्धौ ह्रस्वो न भवति ॥

## गाहू विलोडने ॥ ६३९ ॥

**गाहते** । **जगाहे** । **जघाक्षे** । **जघाढ्वे**—थासस्सेभावे 'होढः' इति ढत्वे भष्भावे कत्वम् । ध्वमि—ढत्वभष्भावयोष्टुत्वे ढलोपः । क्रादिनियमस्य प्रतिषिद्धविषयत्वादूदित्त्वादिट्पक्षे **जगाहिषे** इत्यादि ॥

**गाढा, गाहिता** । **घाक्ष्यते, गाहिष्यते** । **गाहताम्** । **अगाहत** । **गाहेत** । आशिषि—**घाक्षीष्ट, गाहिषीष्ट** । **अगाढ**। **अघाक्षाताम्** । **अघाक्षत** । **अगाढाः** । **अघाड्ढ्वम्** । **अघाक्षि** ॥

झलादौ सिज्लोपे, ढत्वष्टुत्वढलोपाः । प्रत्ययलक्षणेन सादिप्रत्ययपरत्वात् भष्भावो नाशङ्क्यः, सिज्लोपस्य प्रत्ययलक्षणे पूर्वत्रासिद्धत्वात् । अत एवासिद्धत्वात् सिज्लोपात्पूर्वं न भष्-भावः । ध्वमि तु परत्वाद्धूभावः ॥

इट्पक्षे—**अगाहिष्ट** इत्यादि ॥

**जिघाक्षते, जिगाहिषते** । **जागाह्यते** । **जागाढि** ॥

**गाहयति** । **अजीगहत्** ॥

**गाढ्वा, गाहित्वा** ॥

**गाढः, गाहितः** ॥

'गाहट्' इति पचादौ पाठात् टित्त्वात् स्त्रियां—**गाही** ॥

**गह्वरम्**—'छित्वर' इत्यादिना ष्वरचि ह्रस्वे निपात्यते । उणादिवृत्तौ तु गाधतेर्निपातनमुक्तम् ॥

गहनं करोति **गहनायते**—'सत्रकष्टकक्षकुच्छ्रगहनेभ्यः कण-

## घुषिरविशब्दनार्थः ॥ ६४२ ॥

इतोऽर्हत्यन्ता उदात्ता उदात्तेतः ॥ विशब्दनं प्रतिज्ञानम् । तच्च शब्देन स्वाभिप्रायप्रकाशनमिति न्यासे । अस्मादन्यस्मिन्नर्थे यथाप्रयोगमयं धातुर्वर्तत इति पुरुषकारे । सर्वत्र क्षीरस्वामिधनपालभागवृत्तिकाराः 'घुषिरविशब्दनार्थः' इति पेठुः । चन्द्रदुर्गौ तु अर्थशब्दमपहाय 'शब्दे' इत्येवं पेठतुः । 'घुषृ शब्दे' इति पठन् शाकटायनोऽप्येतैवानुकूलः । तेन चेरित्स्थाने ऋदित् क्रियते । यदि शब्द इत्यर्थस्स्यात् तर्हि 'घुषिरविशब्दने' इतीट्प्रतिषेधेऽपि लघु 'घुषिरशब्दे' इत्येव वाच्यं स्यात् इति 'घुषिरविशब्दार्थः' इति मैत्रेयादिपाठो ज्यायान् ॥

**घोषति । जुघोष । घोषिता ॥**

लुङि 'इरितो वा' इति परस्मैपदेषु च्लेरडादेशविकल्पनात्—**अघुषत् । अघुषताम् । अघोषीत् । अघोषिष्टाम् ।** इत्याद्युभयं भवति ॥

'लुग्वादुह' इत्यत्र न्यासे 'व्यत्यघुक्षत' इति वृत्तौ प्रत्युदाहरणमुपादाय 'आनित्यमागमशासनं' इत्यनिट्त्वमुक्त्वा 'शल इगुपधात्' इति क्स उक्तः । हरदत्तादयस्तु—प्रत्युदाहरणं घुष्यतेरिति मन्वाना इडभावे यत्नं न कृतवन्तः । घुष्यातीर्हि नित्यानिट् ॥

**जुघुषिषति, जुघोषिषति । घुषित्वा, घोषित्वा**—'रलो व्युपधात्' इति क्त्वासनोः किन्त्वविकल्पः ॥

**जोघुष्यते । जोघोष्टि ॥**

लोटि हेर्धित्वष्टुत्वयोः जश्त्वे च षकारस्य—**जोघुड्ढि ॥**

लडि तिप्सिपोः—**अजोर्घोट्** ॥

**घोषयति । अजूघुषत्** ॥

**घुष्टा रज्जुः**—'घुषिरविशब्दने' इति निष्ठायामनिट्त्वम् । संपूर्वत्वे तु 'रुष्यमत्त्वरसङ्घुषास्वनाम्' इतीटो विकल्पनात्—**सङ्घुष्टा रज्जुः, सङ्घुषिता रज्जुः** इत्युभयं भवति ॥

घुषिर् विशब्दन इति चुरादौ ॥

## अक्षू व्याप्तौ ॥ ६४३ ॥

**अक्षति । आनक्ष । आनष्ठ, आनक्षिथ । आनक्ष्व, आनक्षिव** । ऊदित्त्वादिड्विकल्पः । थलि अनिट्पक्षे 'स्कोः' इति कलोपे ष्टुत्वम् ॥

**अक्षिता, अष्टा । अक्षिष्यति, अक्ष्यति**—'षढोः कस्सि' इति कत्वे आद्यस्य 'स्कोः' इति लोपः ॥

**अक्षतु । आक्षत् । अक्षेत् । अक्ष्यात् । मा भवानक्षीत्—मा भवन्तावक्षिष्टाम्**—'नेटि' इति न वृद्धिः । अनिट्पक्षे—'वदव्रजहलन्तस्य' इति वृद्धौ **मा भवान् आक्षीत् । मा भवन्तावाष्टामित्यादि** ॥

ननु 'येन नाव्यवधानम्' इति न्यायेनैकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रयितुं युक्तम्, न त्वनेकेनेति कलोपस्यासिद्धत्वादनेकेन व्यवधानात् कथं वृद्धिः । नैतत्, तत्र हल्ग्रहणं हल्समुदायप्रतिपत्त्यर्थमित्युक्तत्वात् । तथा हि—'वदव्रज्योः' इति योगेन विभज्यते । तत्र अत इत्यनुवर्तयिष्यते । ततः 'अचः' इति द्वितीयो योगः । तत्र अङ्गेनाचो विशेषणात् अपाक्षीत् इत्या-

दावेकेन वर्णेन व्यवधाने वृद्धिसिद्धौ पुनःक्रियमाणं हल्ग्रहणं हल्समुदायप्रतिपत्त्यर्थं भवति ॥

अस्य कर्तृवाचिसार्वधातुकपरत्वे, 'अक्षोऽन्यतरस्याम्' इति पक्षे श्नुर्भवति—अक्ष्णोति । अक्ष्णुतः अक्ष्णुवन्ति—अजादौ 'अचि श्नुधातु' इत्यादिना उवङ् ॥

अक्ष्णोतु । अक्ष्णुहि—इत्यत्र 'उतश्च प्रत्ययात्' इति हिलुङ् न भवति, तत्रैव असंयोगपूर्वादित्युक्तत्वात् । अक्ष्णवानि इत्यत्र आटि परत्वादुवङं बाधित्वा गुणः ॥

आक्ष्णोत् । अक्ष्णुयात् ॥

अचिक्षिषति ॥

अनिट्पक्षे 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इत्युक्तत्वात् अस्मात्परत्वात् 'स्कोः' इति कलोपे 'षढोः' इति कत्वे च सनः ककारसहितस्य द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचने हलादिशेषे, 'सन्यतः' इतीत्वे अचिक्षति इति भवति ॥

अक्षयति ॥

चङि णिलोपस्य स्थानिवत्त्वात् क्षिशब्दस्य द्विर्वचने—आचिक्षत् ॥

अक्षित्वा, अक्ष्ट्वा ॥

निष्ठायां—अक्ष्टः ॥

अक्षि—'इन्' इतीन् प्रत्ययः । अक्ष्णा—'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनडुदात्तः' इति तृतीयाद्यजादावजन्तस्यानङादेशे 'अल्लोपोनः' इत्यल्लोपः । ङौ 'विभाषा ङिश्योः' इत्यल्लोपविकल्पनात्—अक्षणि अक्ष्णि इत्युभयं भवति ॥

विशालमक्षि यस्य स **विशालाक्षः**—'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' इति स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्तात् बहुव्रीहेः षच्। षित्त्वात् स्त्रियाम्—**विशालाक्षी**। 'स्वाङ्गात्' इति वचनात् **स्थूलाक्षा** वेणुयष्टिः इत्यत्र 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' इत्यचि टाब्भवति। अदर्शनवाच्यक्ष्यन्तात् समासमात्रादचिति सूत्रार्थः। इह दर्शनं चक्षुरिति **गवाक्षम्, कबराक्षम्** इत्यत्र अचक्षुर्वचनस्य अक्षिशब्दस्याच् भवति। यद्वाऽत्र समुदायो दर्शनसाधनम्, न तु तदवयवोऽक्षिशब्द इति तस्य दर्शनयोगाभावात् 'अदर्शनात्' इति निषेधस्य नैव प्रसङ्गः। कबराक्षमिति सच्छिद्रं यदश्वानां मुखपिधानं तदुच्यते। कथं स्थूलाक्षिरिक्षुरिति, यदि दृश्यते 'अनित्यस्समासान्तः' इति निर्वाह्यः। अयं समासान्तः स्वतिपूर्वस्यापि भवति, 'न पूजनात्' इत्यत्र 'प्राग्बहुव्रीहेः' इत्युक्तत्वात्॥

## तक्षू त्वक्षू तनूकरणे॥ ६४४-६४५॥

**तक्षति। त्वक्षति** इत्यादि अक्षिवत्॥

'तनूकरणे तक्षः' इति पक्षे शब्विषये **श्नौ—तक्ष्णोति अतक्ष्णोत्**। इत्यादि अक्ष्णोतिवत्॥

**तक्षा**—'कनिन्युवृषितक्षि' इति कनिन्। तक्ष्णोऽपत्यं **ताक्ष्णः**। 'शिवादिभ्योऽण्' इत्यण्। अत्र 'अन्' इति अन्नन्तस्य अण्परत्वात् प्रकृतिभावे प्राप्ते 'षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि' इति षपूर्वो योऽन्शब्दो हनश्च तयोः धृतराजन्शब्दस्य चाणि परे अल्लोप इत्यल्लोपः। "शिवाद्यणा 'सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च' इति ण्यस्य बाधा नेष्यते" इति वृत्तावुक्तत्वात् ताक्षण्य

इत्यपि भवति । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावान्न भवति । सेनान्त इति सेनाशब्दान्ता गृह्यन्ते । लक्षण इति स्वरूपग्रहणम् । कारिणः इति शिल्पिनः, इति ॥

ग्रामस्य तक्षा **ग्रामतक्षः** ॥ कुट्यां भवः कौटः, स चासौ तक्षा च **कौटतक्षः** स्वतन्त्रस्तक्षोच्यते, 'ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः' इति टच्समासान्तः ॥

पञ्चानां तक्ष्णां समाहारः **पञ्चतक्षम्** । **पञ्चतक्षी**—'तक्षन्नलोपश्च' इति न लोपः । पक्षे स्त्रीत्वं च । तदा 'द्विगोः' इति ङीप् । अन्यदा 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वम् ॥

तक्ष त्वचने । इत्यग्रेऽनूदित् ॥

## उक्ष सेचने ॥ ६४६ ॥

**उक्षति । उक्षाञ्चकार । उक्षिता** । इत्यादि अक्षिवत् ॥

'उक्षांप्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्' इति भट्टिप्रयोगमुपादाय सुधाकरादयः उक्ष्यन्त इत्युक्षाः कर्मणि घञ्, उक्षान् प्रचक्रुः, इति पाठान्तरं न्यास्थन् ॥

**उक्षा**—'श्वन्नुक्षन्' इति कनिनन्तो निपातितः ॥

उक्ष्णां समूहः **औक्षकम्**—'गोत्रोक्ष' इत्यादिना वुञ् ॥

उक्ष्ण इदं **औक्षम्**—'औक्षमनपत्ये' इति निपातनात् टिलोपः । अपत्ये तु **औक्ष्णः**—'षपूर्वहन्' इत्यञ्लोपः ॥

**जातोक्षः । महोक्षः । वृद्धोक्षः**—'अचतुर' इति कर्मधारयादचि टिलोपो निपात्यते ॥

## रक्ष पालने ॥ ६४७ ॥

**रक्षति** । **ररक्ष** । **रक्षिता** । इत्यादि ॥

निरक्षतीति **निरक्षी**—'रक्षश्रुवसवपशान्नौ' इति ग्रहादिपाठात् णिनिः ॥

**रक्षणम्** । **रक्ष्णः**—'यजयाच' इत्यादिना नङ् ॥

**रक्षः**—असुन् ॥

**राक्षसः**—'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण् ॥

## णिक्ष चुम्बने ॥ ६४८ ॥

**निक्षति** । **निनिक्ष** । **निक्षिता** । इत्यादि ॥

**प्रणिक्षणम्** । **प्रनिक्षणम्**—'वा निंसनिक्षनिन्दाम्' इति णत्वविकल्पः । अय विकल्पः कृत्येवेति निन्दतौ प्रतिपादितम् । तेन **प्रणिक्षति** इत्यादौ 'उपसर्गात्' इति नित्यं णत्वं भवति ॥

## तृक्ष स्तृक्ष णक्ष गतौ ॥ ६४९-६५१ ॥

**तृक्षति** । **ततृक्ष** । **तृक्षिता** । इत्यादि ॥

**तितृक्षिषति** ॥

**तरीतृक्ष्यते**—'रीगृत्वतः' इति रीक् । **तर्तृष्टि**—'स्कोः' इति कलोपस्यासिद्धत्वात् लघूपधत्वाभावान्न गुणः । एवं रिग्रीकोः ॥

**तृक्षयति** । **अतितृक्षत्** ॥

तृक्षतीति **तृक्षः** तस्यापत्यं तार्क्ष्यः—'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ् ॥

**स्तृक्षति** । **तस्तृक्ष** । इत्यादि । पूर्ववत् । षोपदेशफलं **तरीष्टृक्ष्यत** इत्यादौ ॥

नक्षति । प्रणक्षति । इत्यादि ॥

नक्षत्रम्—'अमिनक्षि' इत्यत्र प्रत्ययः । 'न भ्राण्' इत्यत्र नञ्पूर्वात् क्षरतेः क्षीयतेर्वा नक्षत्रमिति निपातितम् ॥

## वक्ष रोषे सङ्घात इत्येके ॥ ६५२ ॥

वक्षति । इत्यादि ॥

वक्षः—असुन् ॥

## मृक्ष सङ्घाते ॥ ६५३ ॥

मृक्षंति । इत्यादि ॥

'मक्ष इत्यप्येके' इति मैत्रेयः । मक्षति । ममक्ष । मक्षिता । इत्यादि ॥

मक्षिका—'कुन् शिल्पिसंज्ञयोः' इति कुनि टापि प्रत्यय-स्थादितीत्वम् ॥

## तक्ष त्वचने ॥ ६५४ ॥

त्वचनं संवरणमिति दुर्गकाश्यपमैत्रेयाः । 'त्वचो ग्रहणम्' इति स्वामी ॥

तक्षति । इत्यादि । अयमूदित्तनूकरणे गतः ॥

अत्र मैत्रेयः—'पक्ष परिग्रहे—इत्यप्येके' इति ॥

पक्षति ॥

पक्षः—घञ् ॥

पक्षस्य मूलं पक्षतिः—'पक्षात्तिः' इति तिप्रत्ययः ॥

पक्षे भवं पक्ष्यम्—'दिगादिभ्यो यत्' इति यत्प्रत्ययः ॥

पक्षसी—छदिपर्यायः, वत्सरार्धवचनश्च । असुन्प्रत्ययः ॥

## षूर्क्ष आदरे ॥ ६५५ ॥

'आदरानादरे' इति क्वचित्पठ्यते । तदसत्, 'सोमेन यक्ष्यमाणो नर्तून् सूर्क्षेच्च नक्षत्रम्' इति दर्शनात्, सोमेन यक्ष्यमाणो 'वसन्ता ब्राह्मणोऽग्निमादधीत । उत्तरयो फल्गुन्योरग्निमादधीत' इत्यादि ऋतुनक्षत्राणि नाद्रियेत इति हि तत्रार्थः । तथा—'अवहेडनमसूर्क्षणम्' इति दृश्यते । सूर्क्षणमादरः । ततोऽन्यदसूर्क्षणमनादरः ॥

सूर्क्षति । सुसूर्क्ष । सूर्क्षिता । इत्यादि ॥

## काक्षि वाक्षि माक्षि काङ्क्षायाम् ॥ ६५६-६५८ ॥

काङ्क्षति । चकाङ्क्ष । काङ्क्षिता । इत्यादि ॥

चिकाङ्क्षिषति । चाकाङ्क्ष्यते । चाकांक्षीति, चाकांक्षिष्टि । इत्यादि ॥

काङ्क्ष्यति । अचकाङ्क्षत् ॥

एवं वाङ्क्षति । माङ्क्षति । इत्यादि ॥

## द्राक्षि ध्राक्षि ध्वाक्षि घोरवांसिते च ॥ ६५९-६६१ ॥

द्राङ्क्षति । ध्राङ्क्षति । ध्वाङ्क्षति ॥

द्राक्षा । ध्राक्षा । द्राक्षामान् । ध्राक्षामान्—'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' मकारान्तात् मवर्णोपधात् अवर्णान्तात् अवर्णोपधाच्च परस्य मतुपो मकारस्य वकार इति प्राप्तं वत्त्वं यवादिभ्यः परस्य नेति निषेधात् न भवति । द्राक्षाध्राक्षाशब्दयोरनुनासिकलोपोऽपि यवादिपाठादेव ॥

ध्वाङ्क्षतीति ध्वाङ्क्षः ॥

तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः—'ध्वाङ्क्षेण क्षेपे' इति सप्तम्यन्तध्वाङ्क्षवाचिना क्षेपे गम्यमाने नित्यं समस्यते इति तत्पुरुषः । क्षेपोऽत्र अनवस्थानादिनाऽवगम्यते ॥

## चूष पाने ॥ ६६२ ॥

चूषति । चुचूष । चूषिता । इत्यादि ॥

चुचूषिषति । चोचूष्यते । चोचूष्टि ॥

चूषयति । अचुचूषत् ॥

## तूष तुष्टौ ॥ ६६३ ॥

तूषतीत्यादि । पूर्ववत् ॥

## पूष वृद्धौ ॥ ६६४ ॥

पूषति । इत्यादि ॥

पूषी—दीपस्थापनार्थं कुड्ये आकल्पितो बिलविशेषः । पचाद्यच् । गौरादित्वान्ङीष् ॥

पूषा—'श्वन्नुक्षन्' इत्यादिना कनिनन्तो निपात्यते । पूष्णौ—'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' इत्युपधालक्षणस्य दीर्घस्य शावेव

प्रत्यये नियमात् 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घो न भवति। सौ तु 'सौ च' इति विधानात् भवति। अयमसंबुद्धिविषयः॥

**अतिपूषाणि** ज्योतींषि इत्यत्र शिपरत्वात् दीर्घः॥

अपत्यादावणि **पौष्णः**—'षपूर्वहन्' इत्यल्लोपः॥

पुष पुष्टाविति इहैवाग्रे दिवादौ क्रचादौ च॥ पुष धारणे इति चुरादौ॥

## मूष स्तेये॥ ६६५॥

**मूषति**। इत्यादि॥

**मूषकः**—संज्ञायां कुन्॥

**मूषिका**—अजादिपाठात् जातिलक्षणडीषं बाधित्वा टाप्॥

मुष स्तेये, इति ह्रस्वोपधः क्रचादौ॥

लूष रूष भूषायाम्, इति सुधाकरः॥

**लूषति**। **रूषति**। **रूषितः**॥

## शूष प्रसवे॥ ६६६॥

तालव्योष्मादिरिति पारायणिका इति स्वामी। दृश्यते च तैत्तिरीयके—'सक्ष शूष'* इति। केचित् दन्त्यादिं पठन्ति। तदनार्षम्, षोपदेशलक्षणविरोधात्॥

**शूषति**। इत्यादि॥

## यूष हिंसायाम्॥ ६६७॥

**यूषति**॥

---

*तै. स. ३-५-५.

यूषम्—मांसरसविशेषः ॥

## जूष च ॥ ६६८ ॥

जूषति ॥

जुषी प्रीतिसेवनयोः इति तुदादौ । जुष परिरक्षणे इति रुजादौ ह्रस्वोपधो ॥

## भूष अलङ्कारे ॥ ६६९ ॥

भूषति ॥

भूषते कन्या स्वयमेव । अभूषिष्ट कन्या स्वयमेव—'भूषाकर्मे' इति यक्चिणोर्निषध. । भूषाफलं शोभाख्यं कर्मणि दृश्यते इति कर्मस्थक्रियत्व कैयटे उक्तम् । 'अङ्कास्सूनाः परिभूषन्त्यश्वम्'* इत्यत्र भट्टभास्कर—'सूना मासविकर्षणसाधनान्यस्थ्यादीनि अश्वं परिभूषन्ति परितो भवन्ति' इति भवतेर्लेटि सिपि रूपमुक्त्वा 'भूषयतेर्वा शपः 'छन्दस्युभयथा' इत्यार्धधातुकत्वाण्णिलोपः' इत्याह । तदस्य धातोरनुस्मरणात् । न चाय नास्तीति शक्यते वक्तुम्, सर्वेष्वेव व्याख्यानेष्वविसंवादेनोपादानात् । अयं चुरादौ च ॥

## ऊष रुजायाम् ॥ ६७० ॥

ऊषति । ऊषांचकार ॥

ऊषिषति । ऊषयति । मा भवानूषिषत्—णिलोपस्य स्थानिवद्भावात् षिशब्दस्य द्विर्वचनम् ॥

ऊषः—घञ् ॥

*तै. स. ४-६-९.

ऊषरः—'ऊषसुषिमुष्कमधो रः' इति मत्वर्थे रः ॥

उष दाहे इत्यग्रे ह्रस्वोपधः ॥

## ईष उञ्छे ॥ ६७१ ॥

ईषति । इत्यादि । ऊषिवत् ॥

ईषते इति गतौ गतः ॥

## कष खष शिष जष झष शष वष मष रुष रिष हिंसार्थाः ॥ ६७२-६८१ ॥

तृतीयषष्ठौ तालव्योष्मादी । सप्तमो दन्त्योष्ठ्यादिः ॥

कषति । चकाष । कषिता । इत्यादि ॥

अकषीत्, अकाषीत्—'अतो हलादेः' इति वा वृद्धिः ॥

सर्वकषः—'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' इति खच् । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य' इति खिदन्ते उत्तरपदे पूर्वपदस्य मुम् । एवं कूलादिपूदाहार्यम् ॥

विकाषी—'वौ कषलषकत्थस्तम्भः' इति तच्छीलादिषु घिनुण् ॥

आकषः । निकषः—गोचरादिसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् अधिकरणे घः ॥

आकषेण चरति आकषिकः—'आकषात् ष्ठल्' इति तृतीयान्तादस्मात् चरतीत्यर्थे ष्ठल् । पित्त्वात्—आकषिकी ॥

आकषे कुशलः आकषकः—'अकषादिभ्यः कन्' इति सप्तम्यन्तात् कुशल इत्यर्थे कन् ॥

**निमूलकाषं कषति, समूलकाषं कषति** । निमूलं समूलं च कषतीत्यर्थः । 'निमूलसमूलयोः कषः' इति णमुल्। उपपदसमास' । 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' इति यस्मात् णमुलो विधानं तस्यैवानुप्रयोगः । कषादयश्च—'निमूलसमूलयोः कषः' इत्यारभ्य—'उपमाने कर्मणि च' इत्येतदन्तेषूपात्ता धातवः । अत्रानुशब्दो नानन्तर्ये, अपि तु धात्वर्थानुवादेन पश्चाद्भावे । तेन व्यवहितपूर्वप्रयोगोऽपि द्रष्टव्यः । तथा चात्र वृत्तिः—धातुसम्बन्धे प्रत्ययविधानादनुप्रयोगः सिद्ध एव । यथाविध्यनुप्रयोगार्थं तु वचनमिति । तथा—'यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन्न्' इत्यत्र हरदत्तः—अनुशब्दो धात्वर्थानुवादेन पश्चाद्भावे, न त्वानन्तर्ये । तेन पूर्वप्रयोगो व्यवहितप्रयोगोऽपि भवतीति । न्यासे च—अथ पूर्वप्रयोगस्य व्यवहितप्रयोगस्य च निवृत्त्यर्थं कस्मात् न भवति यथा 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्येतत्; तन्न, एतयोरिष्टत्वात् । इति ॥

पादौ कषितुं शीलमस्य **पत्काषी**—'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिः । 'हिमकाषिहतिषु च' इति हिमादावुत्तरपदे पादस्य पद्भावः ॥

**कष्टं** व्याकरणम् । कृच्छ्रसाध्यमित्यर्थः । **कष्टानि** वनानि दुष्प्रवेशानीत्यर्थः । 'कृच्छ्रगहनयोः कषः' इति निष्ठायामनिट्त्वम्। अन्यत्र **काषितो** देवदत्तः ॥

कष्टाय कर्मणे क्रामति **कष्टायते**—'कष्टाय क्रमणे' इति चतुर्थ्यन्तात् अनार्जवे क्यङ्। क्रमणामिह अनार्जवम् ॥

कष्टं चिकीर्षति **कष्टायते**—'सत्रकक्षकष्ट' इत्यादिना द्वितीयान्तात् कण्वचिकीर्षायां क्यङ्। कण्वं पापम् ॥

**कक्षः**—'वृतृवदि' इत्यादिना सप्रत्ययः। 'षढोःकस्सि' इति कत्वम्। 'तितुत्र' इतीण्निषेधः।

**कक्षायते**—'सत्रकक्ष' इत्यादिना क्यङ्॥

**खषति** इत्यादि पूर्ववत्॥

**खष्पः**—बलात्कार·—'खष्पशष्पबाष्पपर्परूपकूर्पशिल्पाः' इति पप्रत्ययान्तो निपातितः॥

**शेषति। शिशेष। शिशेषिथ। शेष्टा। शेक्ष्यति। शेषतु। अशेषत्। शेषेत्। आशिषि शिष्यात्॥**

**अशिक्षत्**—'शल इगुपधात्' इति क्सः। अनिट्त्वं च 'शिषिं पिषिं श्लिष्यतिपुष्यती त्विषिम्' इति व्याघ्रभूतिवचनात्। तदुक्तं पुरुषकारे—'निषोऽसर्वोपयोगे णौ शेषयेच्छेषतीत्युभे। लुङचभावादडोऽशेषीत्' इति देवमुपादाय अशेषीत् इत्ययुक्तम्, 'शिषिं पिषिम्' इत्यनिट्कारिकाप्रामाण्याच्छिषिमात्रस्यानिट्त्वेन 'शल·इगुपधात्' इति क्से सति **अशिक्षत्** इति युक्तत्वादित्युक्तम्। तथा मैत्रेयोपि शेष्ट इत्यनिटमुदाजहार। एवं च लिटि सेट्त्वं क्रादिनियमेन द्रष्टव्यम्॥

एवञ्चास्य सेटा मध्ये पाठोऽर्थसामान्यात् षान्तपरस्मैपदिसाम्याच्च द्रष्टव्यः॥

**शिशिक्षति**—'हलन्ताच्च' इति सनः कित्वम्॥

**शेशिष्यते। शेशेष्टि॥**

**शेषयति। अशीशिषत्॥**

**शिष्ट्वा॥**

**शिष्टः। शिष्टवान्॥**

शिष्ष कालयोग.*—'खप्पशप्प' इति पप्रत्ययान्तो निपातः ॥

जपति । **जजाप** । **जेपतुः** । **जेषिता** । इत्यादि कषिवत् । किति लिटि, सेटि थलि च एत्वाभ्यासलोपौ ॥

एव झषति । **शषति** । इत्यादि ॥

झष्प्'—पूर्ववत्पः ॥

झष आक्षानसंवरणयो', इत्यग्रे स्वरितेत् ॥

**वषति** । **ववाप** । **ववपतु**· । **वषिता** । इत्यादि । वादित्वान्नेत्वाभ्यासलोपौ ॥

**मषति** । इत्यादि ॥

**रोपति** । **रुरोप** । **रुरोपिथ** । **रोषिता, रोष्टा** । **रोषिष्यति** । इत्यादि । तकारादौ 'तीषसहलुभरुषरिष' इतीड्विकल्पः ॥

**रुषित्वा, रोषित्वा, रुष्ट्वा**—इट्पक्षे 'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः ॥

निष्ठायां 'रुष्यमत्वरसञ्जपास्वनाम्' इतीटो विकल्पनात् 'यस्य विभाषा' इति निषेधो न भवति—**रुष्टः, रुषितः** । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इत्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् वर्तमाने क्ते इट्पक्षे 'उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्' इति कित्त्वविकल्पनात् पक्षे गुणे **रोषितम्** अनेन इत्यादि भवति ॥

रुष रोषे इति दिवादौ चुरादौ च ॥

**रेषति** । इत्यादि रोषतिवत् ॥

निष्ठायां 'यस्य विभाषा' इतीटो निषेधात् **रिष्टः** ॥

---

*कालयोग

रेषत इति शब्दे गतः ॥

अत्र दण्डके मूषिरपि क्वचिद्धातुकोशे पठ्यते । स्तेयार्थोऽयं पूर्वत्रैव पठित इतीह पाठे नाभिनिवेष्टव्यम् । हिंसार्थत्वं यदि दृश्यते तद्धातूनामनेकार्थत्वादेव भविष्यति ॥

## भष भर्त्सने ॥ ६८२ ॥

इह भर्त्सनं श्वरवः यतस्तत्रैवायं धातुः प्रसिद्धः ॥

**भषति** ॥

**भषकः**—कुन् ॥

## उष दाहे ॥ ६८३ ॥

**ओषति** ॥

**ओषाञ्चकार**—'उषविद' इत्याम् विकल्पः ॥

**उवोष । ऊषतुः । उवोषिथ । उवोष**—पिद्वचनेषु गुणस्य स्थानिवत्त्वादुषशब्दस्य द्विर्वचने पुनर्गुणे 'अभ्यासस्यासवर्णे' इत्युवङ् । न चाभ्यासस्यानादिष्टादचः पूर्वत्वेन गुणस्य स्थानिवत्त्वम् । असवर्णग्रहणसामर्थ्यात् इति प्रागेवोपपादितम् ॥

**ओषिता । ओषिष्यति । ओषतु । औषत् । ओषेत् । उष्यात् । औषीत्** ॥

**ओषिषति** ॥

**ओषयति । मा भवानुषिषत्** ॥

**प्रत्युष्टम्** इत्यत्र भट्टभास्करः—'आदितश्च' इत्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् आश्वस्तादिवदिट्प्रतिषेधः इति ॥

**ऊष्मा**—मनिनि बाहुलकाद्दीर्घः । 'ऊष रुजायाम्' इत्यस्माद्वा ॥

**उष्णः**—'इण् सिञ्जिदीङुषि' इति नक् ॥

**उष्णिका**—यवागूः—'ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्' इति कनि निपात्यते ॥

उष्णं करोतीति **उष्णकः** अनलस—'शीतोष्णाभ्या कारिणि' इति कन् ॥

उष्णं न सहते **उष्णालुः**—'शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तन्नसहते' इत्यालुच् ॥

**ओष्ठः**—'उषिकुषिकाषिगार्तिभ्यस्थन्' इति थन् ॥

**बिम्बोष्ठी, बिम्बोष्ठा**—'नासिकोदरोष्ठ' इति वा ङीष् । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यं' इति वृद्धिरेच्यपवादः पक्षे पररूपम् । अन्यदा वृद्धौ—**बिम्बौष्ठी । बिम्बौष्ठा**—

**पार्योष्ठ्यम्***—सप्तम्यर्थेऽव्ययीभावः । तस्मात् भवार्थे 'परिमुखादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति ञ्यः ॥

**उष्ट्र**—'ष्ट्रन्' इति ष्ट्रन्, बाहुलकादगुणत्वम् ॥

उष्ट्राणां समूहः **औष्ट्रकम्**—'गोत्रोक्षोष्ट्र' इति वुञ् ॥

उष्ट्रस्य विकारावयवयोरपि **औष्ट्रकम्**—'उष्ट्राद्वुञ्' इति वुञ् ॥

## जिषु विषु मिषु सेचने ॥ ६८४-६८६ ॥

**जेषति । जिजेष । जेषिता ॥**

*पार्यौष्ठ्य, पार्योष्ठ्य.

**जिजीषति । जिजेषिषति ॥**

**जिषित्वा, जेषित्वा**—'रलोव्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः 'उदितो वा' इति क्त्वायामिडभावे—**जिष्ट्वा ॥**

**जेजिष्यते । जेजेष्टि ॥**

**जेषयति । अजीजिषत् ॥**

**जिष्टम् ॥**

**वेपति । विवेष । विविषतुः । विवेषिथ । विविषिव ॥**

शिषि पिषिं शिष्यतिपुष्यती त्विषिं
श्छिषिं विषिं तुष्यतिदुष्यती द्विषिम् ॥

इत्यनिट्कारिकापाठात् अस्यानिट्त्वेऽपि क्रादिनियमादेट् ॥

**वेष्टा । वेक्ष्यति ॥**

**अविक्षत् ।** 'शल इगुपधात्' इति क्सः ॥

**विविक्षति**—'हलन्ताच्च' इति सनः कित्त्वान्न गुणः ॥

उदित्त्वात् क्त्वायां इड्विकल्पः—**विषित्वा, वेषित्वा, विष्ट्वा ॥**

**विष्टम् । वेषः ॥**

वेषेण सम्पादी **वेष्यो** नटः—'कर्मवेषाद्यत्' इति तृतीयान्तात् सम्पादिन्यर्थे यत् । सम्पत्तिः शोभातिशयः—वेषेण अत्यन्तं शोभते इत्यर्थः ॥

विष्लृ, व्याप्तौ इति जुहोत्यादौ । विष विप्रयोगे इति च क्र्यादौ ॥

**मेषति ।** इत्यादि जेषतिवत् ॥

**मेषः ।** मेषट् इति पचादौ दर्शनादचि टित्त्वात् स्त्रियां—**मेषी ॥**

अयं स्पर्धायां तुदादौ ।

## पुष पुष्टौ ॥ ६८७ ॥

**पोषति । पुपोष । पुपोषिथ । पोषिता । पोषिष्यति ॥**

**अपोषीत्**—'शिषि पिषि शुष्यतिपुष्यती' इति श्यना निर्देशात् अयं सेट् । तथा 'पुषादि' इत्यङ्द्वित्वावपि दैवादिकस्यग्रहणम् । सेट्कत्वात् क्सोऽपि न भवति ॥

**स्वपोषं** पोषति—'स्वे पुषः' इति णमुल् । अत्र स्वशब्दः पित्पर्यायं निर्दिश्यते । तेन 'पित्पर्यायवचनस्य तद्विशेषार्थस्य च द्व्यर्थं.' इत्युक्तत्वात् स्वशब्दे तत्पर्यायवाचिनि विशेषवाचिनि चोपपदे प्रत्यय इति **गोपोषं धनपोषमित्यादि** च भवति ॥

**पुषित्वा, पोषित्वा ॥**

**पुषितम् । पुष्टम्,** इति दैवादिकस्य । **पोषितम्,** इति ण्यन्तस्य ॥

पोषयतीति **पोषयित्नुः**—'स्तनिह्वषिगदिमदिपुषिभ्यो णेरित्नुच्' 'अयामन्त' इति णेरयादेशः ॥

अयं दिवादिः क्र्यादिश्च । धारणार्थश्चुरादिः ॥

ननु—एक एव पुषिः विकरणभेदाय पुनः पठ्यते, क्वचिच्चाय सेट् । अन्यत्र पाठादनिट् इत्यर्थात् आर्धधातुके विकल्पितेट्कत्वात् निष्ठायां 'यस्य विभाषा' इति इटा न भवितव्यम् । नैतत्—यस्य वाचनिक इड्विकल्प. तस्यैव तत्राश्रयणात् ॥

## श्रिषु श्लिषु प्रुषु ह्रुषु दाहे ॥६८८-६९१॥

**श्रेषति । शिश्रेष । श्रेषिता ॥**

**श्लेषति । शिश्लेष । शिश्लेषिथ । श्लेषिता ।** 'शिषिं पिषिं शुष्यतिपुष्यती त्विषिं विषं श्लिषिं' इत्यनिट्कारिकायां दैवादिकस्य श्लिषेर्ग्रहणं नास्येतीट् उदाहृतः । उक्तं च कैयटे—'श्लिष आलिङ्गने' इति क्सविधावनिट इत्यनुवर्तनात् दाहार्थस्य सेटो ग्रहणाभाव इति । एवं तत्र न्यास पदमञ्जर्योरपि।

यस्त्वनिट्कारिकाव्याख्यानन्यासे द्वयोर्ग्रहणमिति पाठः स स्वोक्तिविरोधात् ग्रन्थान्तरविरोधाच्च प्रमादलिखितः । तथा च—वर्धमानस्वामिसम्मताकारादयश्चामुं सेटमाहुः ॥

श्लेषतीति **श्लेषः**—'श्याद्व्यधास्वुसंस्रवतीणवसावह्लिहश्लिषश्वसश्च' इति कर्तरि णः ॥

**श्लेष्म**—मनिन् ॥

**श्लेष्मलः**—'सिध्मादिभ्यश्च' इति मत्वर्थे लच् ॥

**श्लेष्मणः**—पामादित्वान्नः । अयमपि मत्वर्थे ॥

श्लेष्मणः शमनं कोपनं वा **श्लैष्मिकम्** । 'तस्य निमित्तप्रकरणे वातपित्तश्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुपसङ्ख्यानम्' इति ठक् ॥

**श्लक्ष्णः**—'श्लिषेरचोपधायाः' इति क्नप्रत्ययः, उपधायाश्चाकारः । श्लिष्यतेर्वा **श्लक्ष्णः** । **आचारश्लक्ष्णः**—'पूर्वसदृश' इत्यादिना समासः ॥

आलिङ्गने दिवादिः । श्लेषणे चुरादिः ॥

**प्रोषति । प्लोषति ।** इत्यादि ॥

**प्लुष्यति ।** इति दिवादिपाठात् सेट् ॥

मुषिप्लुषी द्वौ स्नेहने क्र्यादौ ॥

## पृषु वृषु मृषु सेचने । मृष्ट सहने च । इतरौ हिंसासंक्लेशनयोश्च ॥ ६९२-६९४ ॥

अत्र काश्यपः— मृषु हिंसा सङ्क्लेशनदानेषु ' इति पपाठ ॥

**पर्षति । पपर्ष । पर्षिता । पर्षिष्यति । पर्षतु । अपर्षत् ॥ पर्षेत् ।** आशिषि—**पृष्यात् । अपर्षीत् ॥**

**पिपर्षिषति । परीपृष्यते । पर्पृषीति, पर्पर्ष्टि, पर्पर्क्ष ॥**

लोटि—**पर्पृष्टि**—इत्यत्र हेर्डित्वान्न गुणः ॥ **पर्पृषाणि**—'नाभ्यस्तस्याचि पिति' इति गुणनिषेधः ॥

लडि—तिप्सिपोः हल्ङ्यादिलोपे—**अपर्षत्** । 'रात्सस्य' इति नियमान्न संयोगान्तलोपः ॥

**अपर्पृषीत्** । पूर्ववदगुणत्वं, एवं रिग्रीकोरुदाहार्यम् ॥

**पर्षयति । अपपर्षत् । अपीपृषत् ।** 'उरृद्वा' ॥

**पर्षित्वा, पृष्ट्वा**—उदित्त्वादिड्विकल्पः ॥

**पृष्टम्** ॥ **पृषितम्** इति बाहुलकात् 'पिशेः किच्च' इतीतच् अस्मादपीति ॥

**पृषतम्**—'पृषिरञ्जिभ्यां कित्' इत्यतच् ॥

**पृषत्**—बिन्दुर्मृगश्च । 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च' इत्यतिप्रत्यये गुणाभावः । शतृवद्भावात् 'उगितश्च' इति स्त्रियां ङीपि—**पृषती** ॥

**पार्ष्णिः**—'घृणिपृश्निपार्ष्णिभूर्णिचूर्णितूर्णिः' इति निप्रत्यये निपात्यते ॥

**पार्ष्णीलः**—'सिध्मादिभ्यश्च' इत्यत्र 'पार्ष्णिधमन्योर्दीर्घश्च' इति पाठात् लचि दीर्घः । तत्रान्यतरस्याङ्ग्रहणस्यानुवर्तनात् मतुपि—**पार्ष्णिमान्** ॥

**वर्षति । ववर्ष** ॥

वर्षतीति **वर्षम्**—'अज्विधौ भयादीनामुपसङ्ख्यानं नपुंसके क्तादिनिवृत्त्यर्थम्' इत्यच् । वृषभो वर्षणादिति भाष्यकारप्रयोगात् ल्युडपि ॥

**वृष्टिः**—'तितुत्र' इति नेट् ॥

**वृषभः**—'ऋषिवृषिभ्यां कित्' इत्यभच् ॥

**वृष.**—इगुपधलक्षणः क ॥

वृषाय हित **वृष्यम्**—'खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च' इति यत् ॥ अत्र अकारान्तस्य वृषशब्दस्य ग्रहणात् 'कनिन्युवृषि' इति कनिनन्ताद्वृषन्शब्दाद्यन्न भवति । प्राक्क्रीतीयश्छस्त्वनभिधानान्नेति भाष्यादौ स्थितत्वात् वृष्णे हितमिति वाक्यमेव भवति ॥

वृषमात्मन इच्छति—**वृषस्यति**, मैथुनमिच्छतीत्यर्थः । 'अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि' इत्यसुक् 'अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्' इति । मैथुनेच्छाया अन्यत्र 'क्यचि च' इतीकारे **वृषीयति** ॥

**वृष्णः**—'सृवृषिभ्यां कित्' इति निः ॥

**वृषणः**—बाहुलकात् क्युन् । वर्षत इति स्नेहने गतः ।

**मर्षति । ममर्ष ॥**

मृषित्वा **मर्षित्वा** । 'तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य' इति सेट्क्त्व· कित्त्वविकल्पः । अनिट्पक्षे—**मृष्ट्वा ॥**

निष्ठायां **मृष्टम्** । 'मृषस्तितिक्षायाम्' इत्यकित्त्वं सेटो निष्ठाया इति दैवादिकस्य तत्र ग्रहणं, स हि सेट् ॥

'मृषस्तितिक्षायाम्' इति दिवादौ युजादौ च स्वरितेतौ ॥

## घृष सङ्घर्षे ॥ ६९५ ॥

**घर्षति ॥**

**सङ्घर्षणम् । घृष्टम् ॥**

## हृषु अळीके ॥ ६९६ ॥

**हर्षति ॥**

**हृष्टानि लोमानि । हृषितानि लोमानि ॥**

**हृष्टं लोमभिः । हृषितं लोमभिः** । अत्रोदित्त्वान्नित्यमनिट्त्वे प्राप्ते 'हृषेर्लोमसु' इति लोमविषयाळीकवाचित्वात्पक्षे इडागम· । यस्तु—दिवादौ हृष तुष्टौ इति पठ्यते तस्य तु सेट्कत्वान्निष्ठायामनेन पक्षे इण्निषिध्यते इतीयमुभयत्र विभाषा । अत्र, लोमान्यङ्गजानि केशाश्चेति वृत्तावुक्तम् । लोमभ्योऽन्यत्र—**हृष्टमित्येव** भवति ॥

दैवादिकस्य तु **हृषितमिति** ॥

**हृष्टो देवदत्तः, हृषितो देवदत्तः** । विस्मित इत्यर्थः ।

हृष्टा दन्ताः, हृषिता दन्ताः, प्रतिहता इत्यर्थः । 'विस्मितप्रतिघातयोश्चेति वक्तव्यं' इति इड्विकल्पः ॥

हर्षुलः—'हृषेरुलच्' इत्युलच् ॥

हर्षयित्नुः—'स्तनिहृषि' इत्यादिना ण्यन्तादित्नुच् ॥

## तुस ह्रस ह्लस रस शब्दे ॥ ६९७-७०० ॥

तोसति । तुतोस । तोसिता । तोसिष्यति । तोसतु । अतोसत् । तोसेत् । आशिषि—तुस्यात् । अतोसीत् ॥

तुतुसिषति, तुतोसिषति । तुसित्वा, तोसित्वा—'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः ॥

तोतुस्यते । तोतोऽस्ति ॥

तोतुधि—इत्यत्र सेर्धिभावे, चकाधीतिवत् 'धिच' इति सलोपः ॥

लडि तिप्सिपोः हल्ङ्यादिलोपे, 'तिप्यनस्तेः' इति सकारस्य दत्वे अतोतोत् इति भवति । सिपि तु, 'सिपि धातोरुर्वा' इति पक्षे रुत्वे अतोतोः इति भवति ॥

तोसयति । अतूतुसत् ॥

ह्रसति । जह्रास । ह्रसिता । इत्यादि ॥

जिह्रसिषति । जाह्रस्यते । जाह्रस्ति । इत्यादि तुसिवत् ॥

ह्रासयति । अजिह्रसत् ॥

ह्रस्वः—बाहुलकात् 'ह्रस्वं लघु' इत्यादिनिर्देशाद्वा वप्रत्ययः ॥

ह्रसिष्ठः । ह्रसीयान् । ह्रसिमा—'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति इमनिच् । 'स्थूलदूर' इति इष्ठेमेयस्सु यणादिपरं लुप्यते पूर्वस्य

च गुणः इत्येतत्स्थूलादिविषयं यथासम्भवम् । अत्र यणादिलोपस्य 'असिद्धवदत्र' इत्यसिद्धत्वात् 'टेः' इति लोपो न भवति ॥

ह्रस्वं करोति **ह्रसयति**—'णाविष्ठवत्' इति यणादिलोपः । 'अङ्गवृत्तौ पुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्य' इति वृद्ध्यभावः इति भाष्ये । अग्लोपित्वाच्चङि इत्वाभावात्, **अजह्रसत्** ॥

**ह्रसति** इत्यादि ह्रसिवत् ॥

**रसतीत्यादि** ॥

रस इति 'रस स्नेहने' इति कथादिकस्य ण्यन्तस्य । रसयतीति हि तस्य व्युत्पत्तिः ॥

## लस श्लेषणक्रीडनयोः ॥ ७०१ ॥

**लसतीत्यादि** ॥

**विलासी**—'वौ कषलस' इति तच्छीलादौ घिनुण् ॥

न लसः अलसः अलसस्य भावः **आलस्यम्**—'न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुरसङ्गतलवणवटबुधकतरसलसेभ्यः' इति नञ्पूर्वात्तत्पुरुषात् अचतुरसङ्गतलवणाद्युत्तरे भावप्रत्यया न भवन्तीति निषेधश्चतुरादिपर्युदासादिह नेति ष्यञ् भवति ॥

एवं न रसः अरसः **आरस्यं** इति ॥

अलसोऽप्य**ालस्यः**—यतः चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थेऽपि ष्यञ् भवति ॥

लस शिल्पयोगे, इति चुरादौ ॥

## घस्लृ अदने ॥ ७०२ ॥

अयं न सार्वत्रिकः, 'लिट्यन्यतरस्याम्' इत्यदेः घस्लादेशविकल्पविधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । द्वैरूप्यं चेह साधयम् । ततश्च यत्र लिङ्गं वचनं वाऽस्ति तत्रैवास्य प्रयोगः । अत्रैव पाठः शपि परस्मैपदे लिङ्गम् । लृदित्करणमङि । 'घसिश्च सान्तेषु' इति इण्निषेधो वलाद्यार्धधातुके । यत्र प्रत्यये प्रतिपदोपादानम् 'सृघस्यदः क्मरच्' इत्यादौ तद्वचनम् ॥

**घसति । घस्ता । घत्स्यति**—'सस्यार्धधातुके' इति तत्वम् ॥

**घसतु । अघसत् । घसेत्** ॥

शबभावादाशिषि अस्याप्रयोगः ॥

**अघसत्**—लृदित्वादङ् ॥

**घस्ता । घत्स्यते देवदत्तेनान्नमित्यादौ** शप्परस्मैपदाभावेऽपि वलादिनिमित्तः प्रयोगः ॥

**घस्मरः**—'सृघस्यदः क्मरच्' इति तच्छीलादौ क्मरच् ॥

**घासिः**—भक्ष्यं तृणादि । 'जनिघसिभ्यामिण्' इतीण् ॥

'घासिं जघास'* इत्यत्र भट्टभास्करः—'बहुलं छन्दसि' इत्यदो घस्लादेश औणादिक इत्याह । तदस्य घसेरस्मरणात् ॥

## जर्ज चर्च झर्झ परिभाषणहिंसातर्जनेषु ॥ ७०३-७०५ ॥

**जर्जति । चर्चति । झर्झति** ॥

**झर्झरः**—बाहुलकात् अरः ॥

---

*तै. स. ४-६-५.

चर्चतिझर्झत्योस्तुदादौ पठिष्यमाणयोरिह पाठः स्वरार्थ इति दैवमैत्रेयपुरुषकारेषु । ऊष्मान्तेषु पाठोऽर्थानुरोधादिति च मैत्रेयः । चर्च अध्ययने इति चुरादौ ॥

## पिसृ पेसृ गतौ ॥ ७०६-७०७ ॥

**पेसति** ॥

**पेसयति । अपिपेसत्** ॥

एकारोपधपाठः क्ङिदर्थ इति **पिपेसतुः । पेस्यते** इत्यादि ॥

**पेस्वरः**—'स्थेशभासपिसकसो वरच्' इति वरच् ॥

इह क्वचित्कोशे विसृ वेसृ पिशृ पेशृ इत्यपि पठ्यते । आद्यौ दन्त्योष्ठचादी दन्त्योष्मान्तौ । इतरौ ओष्ठचादी तालव्योष्मान्तौ चत्वार एते मैत्रेयादिषु न दृश्यन्ते । पिस अवयवे इति तु चुरादौ ॥

## हस हसने ॥ ७०८ ॥

**हसति । जहास** ॥

**अहसीत्**—'ह्मचन्तक्षण' इत्यादिना वृद्धिनिषेधः ॥

**व्यतिहसन्ति**—'प्रतिषेधे हसादीनामुपसङ्ख्यानम्' इति तङ्-निषेधः ॥

**हसः**—'स्वनहसोर्वा' इत्यनुपसृष्टात् पक्षे अप् । तदभावे घञि—**हासः** । उपसृष्टात्तु नित्यं घञेव—**प्रहास** इति ॥

**हस्तः**—'हसिमृग्रिण्वामि' इत्यादिना तन्, 'तितुत्र' इतीण्निषेधः ॥

हस्तोस्यास्तीति **हस्ती**—'हस्ताज्जातौ' इति मत्वर्थीय इनि-प्रत्ययः ॥

हस्तिनां समूहो **हास्तिकम्**—'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' इति ठक्, 'न स्तद्धिते' इति टिलोपः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया हस्तिनीशब्दादपि ठकि 'भस्याढेऽतद्धिते' इति पुंवद्भावात् **हास्तिकम्** इत्येव । हस्तिधेनुभ्यां तदन्तविधेरिष्टत्वात् **वानहस्तिकम्**, इत्याद्यपि भवति ॥

हस्तिप्रमाणमस्य **हास्तिनः पुरुषः**—'पुरुषहस्तिभ्यामण्च' इति प्रथमान्तात् प्रमाणोपाधिकात् अस्येत्यर्थे अण्प्रत्ययः । चकारात् द्वयसच्दघ्नञ्मात्रचो भवन्ति—**हस्तिद्वयसम्** । **हस्तिदघ्नम्** । **हस्तिमात्रम्** इति । अणि—'न स्तद्धित' इति टिलोपः 'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावान्न भवति ॥

हस्तेन दीयते, कार्यं वा **हस्त्यम्**—'तेन यथा कथा च हस्ताभ्यां णयतौ' इति तृतीयान्तात् दीयते कार्यमितीत्येतयोरर्थयोर्यत् ॥

हस्ते नक्षत्रे जातो **हस्तः**—नक्षत्राणः 'श्रविष्ठाफल्गुनी' इत्यादिना लुक् ॥

**हस्रम्** मुखम्*—'स्फायितञ्चि' इत्यादिना रक् ॥

## णिश समाधौ ॥ ७०९ ॥

तालव्योष्मान्तः ॥

**नेशति । प्रणेशति ॥**

**निनेश । नेशिता ॥**

---

*हस्रो मूर्ख.

**निनिशिषति, निनेशिषति । निशित्वा, नेशित्वा ।** 'रलो व्युपधात्' इति किित्त्वविकल्पः ॥

**नेनिश्यते । नेनेष्टि**—व्रश्चादिना षत्वे ष्टुत्वम् ॥

**नेशयति । अनीनिशत्** ॥

अत्र मैत्रेयो **निशा**शब्दमस्मादाह । तस्याभिप्रायः क्विपि 'आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा' इति टाबिति । अन्ये तु नितरां शेरतेऽस्यामिति शेतेः अधिकरणे डप्रत्यये व्युत्पादयन्ति ॥

निशायां भवं **नैशिकम्**—'निशाप्रदोषाभ्यां च' इति शैषिक. पक्षे ठञ् । तदभावे प्राग्दीव्यतीयेऽणि **नैशम्** ॥

## मिश मश शब्दे रोषकृते च॥७१०-७११॥

इमावपि तालव्योष्मान्तौ ॥

**मेशति । मशति** । इत्यादि ॥

**मशकः**—संज्ञायां क्वुन् ॥

## शव गतौ ॥ ७१२ ॥

दन्त्योष्ठ्यान्तः । तालव्योष्मादिश्च ॥

**शवति** ॥

**शवम्** ॥

क्विप्यूठि वृद्धौ—**शौः** ॥

## शश प्लुतगतौ ॥ ७१३ ॥

तालव्योष्माद्यन्तः ॥

**शशति** ॥

**शशः** ॥

**शशनः**—'चलनशब्दार्थात्' इति युच् ॥

अत्र 'कश गतौ' इति क्वचित्पठ्यते । तत् 'प्रतिष्कशश्च कशेः' इत्यत्र वृत्तौ 'कश गतिशासनयोः' इत्यादादिकस्योपादानात् अनार्षमिव प्रतीयते । तथा 'नाभ्यस्तस्य' इत्यत्र 'प्रकृत्यन्तराणां वा' इति भाष्यवृत्ती प्रस्तुत्य तद्व्याख्यातृभिरादादिक एवोपादीयते ॥

## शसु हिंसायाम् ॥ ७१४ ॥

दन्त्योष्मान्तः ॥

**शसति** । **शशास** । **शशसतुः**—'न शस' इत्येत्वाभ्यासलोपनिषेधः ॥

शस्यतेऽनेनेति **शस्त्रम्**—'दाम्नीशस' इति करणे ष्ट्रन् ॥

स्त्रियां षित्त्वात्—**शस्त्री** ॥

**शस्यम्**—'तकिशसि' इत्यादिना यत् ॥

**शास्य**मिति 'हन्त्यर्थाश्च' इति चुरादिपाठात् स्वार्थे णौ यति ॥

**शसित्वा, शस्त्वा**—उदित्त्वादिड्विकल्पः ॥

**शस्तः** वृषलः अविनीत इत्यर्थः । 'धृषिशसी वैयात्ये' धृषिशसी यदा वैयात्यविषयौ तदैवैताभ्यां पराया निष्ठाया इडभाव इति नियमात् अन्यत्र **विशासितः** इति भवति ॥

विशासितुः धर्म्यं **वैशस्त्रम्**—'ऋतोऽञ्' इति षष्ठचन्ताद्धर्म्यमित्यर्थेऽञ्प्रत्ययः । तत्र 'विशासितुरिड्लोपश्च' इति वचनादिड्लोपः ॥

आङश्शसि इतीच्छायां गतम् ॥

## शंसु स्तुतौ ॥ ७१५ ॥

अयं हिंसायामपि इति दुर्गः । अयमपि दन्त्यान्तः । द्वाविमौ तालव्योष्मादी ॥

**शंसति । शशंस । शंसिता** । इत्यादि ॥

आशिषि लिङि किच्वात् 'अनिदिताम्' इत्युपधालोपे **शस्यात्** ॥

**शिशंसिषति । शाशस्यते** । डित्त्वान्नलोपः ॥

**शाशंस्ति**—यङो लुकालुप्तत्वात् प्रत्ययलक्षणाभावान्नलोपाभावः ॥

**शाशस्तः** इत्यादौ तसादीनां डित्त्वान्नलोपः ॥

**शासधि** इत्यत्र हेरपित्त्वात् डित्त्वान्नलोपे 'धिच' इति सलोपः ॥

**शंसयति । अशशंसत** ॥

**शस्यम्**—'शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्' इति क्यपि नलोपः । क्यबभावे ण्यति **शंस्यम्** ॥

**शंसित्वा, शस्त्वा** । उदित्त्वादिड्विकल्पः । इटि 'नक्ङासेट्' इत्यकित्त्वान्नलोपाभावः ॥

**शस्तम्**—'यस्य विभाषा' इति नेट् ॥

**नॄन् शंसतीति नृशंसः**—कर्मण्यण् ॥

नरा एनं शंसन्ति, नरा अस्मिन् आसीनाः शंसन्तीति वा **नराशंसः**—घञ् । अग्निः देशविशेषो वा । वनस्पत्यादिषु पाठात् पूर्वपदस्य दीर्घः ॥

ब्राह्मणानि शंसतीति **ब्राह्मणाच्छंसी**—रूढिरियमृत्विग्विशेषस्य—'सुप्यजातौ' इति णिनिः 'ब्राह्मणाच्छंसिन उपसङ्ख्यानम्' इत्यलुक् । अस्मादेव निर्देशात् द्वितीयार्थे पञ्चमी ॥

अतिशयेन प्रशस्यः **श्रेष्ठः** । **श्रेयान्** । **ज्येष्ठः** । **ज्यायान्** । 'प्रशस्यस्य श्रः' 'ज्यच' इत्यातिशायनिकयोरजाद्योः परयोः श्रज्यावादेशौ भवतः । आदेशयोरकारोच्चारणसामर्थ्यात् टिलोपो न भवति ॥

**ज्यायान्** इत्यत्र, 'ज्यादादीयसः' इति ज्यशब्दात्परस्य ईयसुन आदेराकारः ॥

श्रेयसोऽपत्यं **श्रायसः**—'देविकाशिंशपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात्' इति वृद्धिनिमित्तताद्धितपरत्वादेकारस्य स्थाने आकारः ॥

प्रशस्यमाचष्टे **श्रापयति ज्यापयति**, 'तत्करोति' इति णिचि 'णाविष्ठवत्' इति श्रज्यादेशयोः वृद्धौ पुक् ॥

## चह परिकल्कने ॥ ७१६ ॥

कल्कनं शाठ्यम् । **चहति** । **चचाह** । **चेहतुः** । **चहिता** । इत्यादि ॥

**अचहीत्**—'ह्मन्क्षण' इति न वृद्धिः ॥

**चिचहिषति** । **चाचह्यते** ॥

**चाचाहि**—'होढः' 'झषस्तथोर्धो धः' 'ष्टुना ष्टुः' 'ढो ढे लोपः' 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घः' ॥

अयं चुरादौ मित्प्रकरणे कथादौ च। मित्सु पान्तं मैत्रेयः पठिष्यति ॥

## मह पूजायाम् ॥ ७१७ ॥

**महति** । इत्यादि । चहिवत् ॥

**मही**—'मह' इति गौरादिपाठात् ङीप् ॥

**महिषः**—'अविमह्योष्टिषच्' ॥

पित्त्वात् स्त्रियां—**महिषी** ॥

महिषा अस्मिन् सन्ति **महिष्मान्** नाम देशः—'महिषाच्चेति वक्तव्यम्' इति 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' इति विषये मतुप् । डित्त्वाट्टिलोपः ॥

महिष्या धर्म्यं **माहिषम्**—'अण्महिष्यादिभ्यः' इत्यण् 'तस्य धर्म्यम्' इति विषये ॥

**महान्** । **महान्तौ** । **महान्तः** । 'वर्तमाने पृषन्महद्बृहन्ज्जगच्छतृवत्' इत्यतिप्रत्यये निपातितः । शतृवद्भावाद्नुम् । 'सान्तमहतः' इत्यसंबुद्धौ सर्वनामस्थाने दीर्घः, उपधायां संयोगापेक्षमुपधात्वम् ॥

सम्बुद्धौ तु संयोगान्तलोपे—**हे महन्** ॥

शतृवद्भावादतिप्रत्ययस्य स्त्रियां 'उगितश्च' इति ङीपि—**महती** ॥

महांश्चासौ पुरुषश्च **महापुरुषः**—'सन्महत्परमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इति पूजावचनाः सदादयः पूज्यमानवचनैः समानाधिकरणैः समस्यन्त इति तत्पुरुषे 'आन्महतस्समानाधिकरणजाती-

ययोः' इति समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीयरि च प्रत्यये महत आत्वमित्याकारः ॥

जातीयरि—**महाजातीयः** । 'प्रकारवचने जातीयर्' इति प्रकारो भेदः सादृश्य च तत्र वर्तमानात्स्वार्थे जातीयर् इति जातीयर् । कथ महाबाहुर्देवदत्त इति यावता 'सन्महत्' इति प्रतिपदोक्ते समासे समानाधिकरणस्योत्तरपदस्य सम्भवस्तत्रैव आत्वेन भाव्यम् । सत्यम्—यद्येतावत्प्रयोजनं स्यात् 'आन्महतो जातीयरि च' इत्येव ब्रूयात् । चशब्देनोत्तरपदमाक्षेप्स्यते तच्च प्रतिपदोक्तमेव भविष्यति । एवं सिद्धे सति यदत्र समानाधिकरणग्रहणं तत्समानाधिकरणमात्र आत्वार्थं विज्ञास्यते ॥

महत्या घासो **महाघासः**—'महत आत्वे घासकरविशिष्टेपूपसङ्ख्यानम्' 'पुंवद्वचनं च' इति पुंवद्भाव आत्व च । एवं **महाकरो, महाविशिष्टः** इति ॥

अमहान् महान् सम्पन्नो **महद्भूतश्चन्द्रमाः** इत्यत्र अमहत्यां प्रकृतौ वर्तमानात् महच्छब्दात्* कारणात्मना भूतस्य कार्यात्मना भावे द्योत्ये च्विर्विधीयते इति महच्छब्दस्य गौणार्थत्वात् मुख्ये च कार्यसम्प्रत्ययात् आत्वाभावः ॥

महतो भावः—**महिमा** । पृथ्वादित्वात् इमनिचि 'टेः' इति टिलोपः ॥

मंहते इति वृद्धौ गतः ॥

## रह त्यागे ॥ ७१८ ॥

**रहति** । इत्यादि महतिवत् ॥

*विकृतिशब्दात्

**रहः, रहसी** । असुन्प्रत्यय ॥

**विरहीकरोति** । अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसा लोपश्च' इति च्विप्रत्यय, सलोपश्च । 'अस्य च्वौ' इतीत्वम् ॥

रहसि भवं **रहस्यम्**—दिगादित्वाद्यत् ॥

**अनुरहसम्** । **अपरहसम्** । **तप्तरहसम्**—'अन्ववतप्ताद्रहसः' इति अन्वादिपूर्वपदात् रहश्शब्दान्तात् समासमात्रादच्समासान्तः ॥

**राहुः**—'हृदसनिरहिजिनि' इत्यादिना युण् ॥

रह त्यागे इति कथादौ, मित्प्रकरणे च चुरादौ ॥

## रहि गतौ ॥ ७१९ ॥

**रंहति** । **ररंह** । **रंहिता** । इत्यादि ॥

इदित्त्वेन **रारंह्यते**—इत्यादौ नलोपो न भवति ॥

**रंहः**—असुन् ॥

## दृह दृंहि बृह बृंहि वृद्धौ ॥ ७२०-७२३ ॥

**दर्हति** । **ददर्ह** । **दर्हिता** । इत्यादि ॥

**दरीदृह्यते**—'रीगृत्वतः' इति रीक् ॥

**दर्द्धीति** । **दर्द्धर्ग्धि**—'दादेर्धातोर्घः' इति झलि पदान्ते च हकारस्य घकारः । 'झषस्तथोः' इति धत्वम् । 'झलां जश् झशि' इति घकारस्य जश्त्वं गकारः ॥

**दर्दर्क्षि** इत्यत्र 'एकाचो बशः' इति दकारस्य धकारः, 'खरि च' इति धकारस्य चर्त्व ककारः ॥

लडि तिप्सिपोरपृक्तलोपे धत्वभष्भावजश्त्वचर्त्वेषु—**अदर्धर्क्** । 'रात्सस्य' इति नियमान्न संयोगान्तलोपः । चर्त्वस्य पूर्वत्रासिद्धत्वात् झषन्तत्वम् ॥

**दर्हयति** । **अददर्हत्**, **अदीदहत्**—'उरृदा' ॥

**दर्हित्वा** । **दर्हितम्** ॥

**दंहति** । **ददंह** । **दंहिता** ॥

**दिदंहिषति** । **दरीदंह्यते**—'रीगृत्वत' इति रीक् ॥

**दरृदंहीति** । **दर्दङ्ग्धि** । **दर्दङ्ग्धः** ॥

लडि—तिप्सिपोर्हल्ङ्यादिलोपे संयोगान्तलोपे पदान्तत्वे झषन्तत्वाभावात् न भष्भाव इति **अदर्दन्** ॥

**दंहित्वा** । **दंहितम्** ॥

दृढ—'दृढः स्थूलबलयो' इति क्रस्यानिट्त्वं तकारस्य ढत्वं नकारहकारयोः लोपश्च निपात्यते । दृहेरपीदं निपातनं नलोपवर्जम् । तथा च वृत्ति—'अथ दृहि प्रकृत्यन्तरमस्ति । तस्याप्येतदेव सर्वं नलोपवर्जम्' इति । स्थूलबलाभ्यामन्यत्र **दृहितः दंहितः** इति ॥

नन्वत्र तकारस्य ढत्वं हकारलोपश्च किमर्थं निपात्यते । यावता होढे 'झषस्तथो' इति धत्वे ष्टुत्वढलोपयोः सिद्धं दृढ इति । सत्यं सिद्ध्यति । इह हि—**द्रढिमा** । **द्रढीयान्** । **द्रढिष्ठः** । दृढमाचष्टे—**द्रढयति** । इत्यत्र 'र ऋतो हलादेर्लघोः' 'णाविष्ठवत्' इति च इष्ठेमेयस्सु णौ च हलादेर्लघोः ऋकारस्य

विधीयमानो रभावो ढलोपस्य पूर्वत्रासिद्धत्वात् संयोगपरत्वेन गुरुत्वाल्लघुत्वाभावान्न स्यात् । तथा **परिद्रढय्य**, इत्यत्र परिद्रढमाचष्ट इति विगृह्य 'सोपसर्गाच्चेत्सङ्ग्रामयतेरेव' इति नियमात् द्रढशब्दाण्णौ टिलोपे क्त्वान्तेन समासे क्त्वो ल्यपि च कृते 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति लघुपूर्वाद्रर्णात्परस्य णे ल्यपि परे विधीयमान अयादेशो न स्यात् ॥

नन्वेवमपि टिलोपस्य 'असिद्धवत्' इत्यसिद्धत्वात् न लघुपूर्वाद्रर्णात्परो णिर्भवति । नैतत् । णौ टिलोपो णेर्ल्यपि अयादेश इति व्याश्रयत्वेनासिद्धत्वाप्रसङ्गात् । न च 'पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवद्भाव' इति टिलोपस्य स्थानिवत्त्वेन व्यवधानम् । 'प्रबेभिद्य्य गत । प्रस्तनय्य गतः ।' इत्यादीनां भाष्ये उदाहरणात् ॥

यद्वा—'लघुपूर्वात्' इत्यनेन सामर्थ्यादन्यपदार्थस्य वर्णस्याक्षेपात् 'वर्णग्रहणे जातिग्रहणम्' इति 'निपात एकाच्' इत्येकग्रहणेन ज्ञापनात्स्थानिवद्भावेन व्यवधानेऽपि न दोषः । तथा परिद्रढस्यापत्यं **पारिद्रढिः**—'अत इञ्' । स्त्रिया 'इतो मनुष्यजातेः' इति ङीप्—**पारिद्रढी कन्या**, इत्यत्र 'अणिञोः' इति अनार्षे गोत्रे यावणिञौ तदन्तयोर्गुरूपोत्तमयोः स्त्रियां प्यङ् इति प्यङ् प्रसज्येत ॥

**बर्हति—बृंहति** । इत्यादि । पूर्ववत् । दकारादित्वाभावान्न घत्वमिति झलि पदान्ते च होढ एव ॥

**परिबृढः** । 'प्रभौ परिबृढः' इति इडभावादि* पूर्ववन्नि-

*हलोपादि

पात्यते । अत्रापि हलोपादेः पूर्ववत्प्रयोजनम् । प्रभोरन्यत्र परिबृंहितः परिबृंहित इति ॥

अत्र सानुषङ्गावेव पाणिनीयौ । यदाह वृत्तिकार'—दृढपरिवृढनिपातनं यदि दृहिः प्रकृत्यन्तरमस्तीति । निरनुषङ्गौ भाष्यकारीयौ, दृश्यते हि—वृढनिपातनं किमर्थं न दृंहेरिड्भवति इत्येवोच्येत, परिवृढनिपातनं किमर्थं परिपूर्वाद्बृहतेर्नेड्भवतीत्येवोच्येत इति । तथा 'न धातुलोप आर्धधातुके' इत्यत्र दृहि. प्रकृत्यन्तरमस्तीति ॥

## बृहि शब्दने ॥ ७२४ ॥

बृंहितं करिगर्जितम् । बृहिर् इति चन्द्रदुर्गौ । तत्फलं च अबृहत्, अबर्हीत्, इति पक्षे अड्सिद्धिरित्याह क्षीरस्वामी ॥

बृह बृहि भाषार्थौ चुरादौ । बर्हत इति प्राधान्ये गतम् ॥

## तुहिर् दुहिर् उहिर् अर्दने ॥७२५-७२७॥

तोहति । तुतोह । तोहिता ॥

लुडि 'इरितो वा' इति पक्षे अड्—अतुहत्, अतोहीत् ॥

तुतुहिषति, तुतोहिषति ॥ तुहित्वा । तोहित्वा । 'रलो व्युपधात्' इति वा कित्त्वम् ॥

तुह्यते ॥ तोतोढि । तोतूढ इत्यादि ॥

तोहयति । अतूतुहत् ॥

तुहिनम्—'वेपितुह्योर्ह्रस्वश्च' इतीन्प्रत्ययः । ह्रस्ववचनं वेपत्यर्थम् ॥

**दोहति** । इत्यादि तोहतिवत् । 'दिहिर्दुहिर्मेहतिरोहती' इत्यनिट्कारिकायां मैत्रेयादयो नास्य ग्रहणमिच्छन्ति ॥

**ओहति** । उवोह । ऊहतुः । ऊहुः । ओहिता । इत्यादि उपिवत्प्रक्रिया ॥

लुङ्क्षे **मा भवानुहत्** ॥

## अर्ह पूजायाम् ॥ ७२८ ॥

अकारान्तप्रसङ्गादनिडपीह पठितः ॥

**अर्हति** । आनर्ह । अर्हिता ॥

**अर्जिहिषति** । अर्हयति । मा भवानर्जिहत् ॥

**सुखार्हः** । दुःखार्हः—'अर्ह' इति कर्मण्युपपदेऽच् ॥

**अर्हन्**—'अर्ह प्रशसायाम्' इति शता । प्रशंसाया अन्यत्र—वधमर्हति चोरः ॥

अर्हतो भाव **आर्हन्त्यम्**—'अर्हतो नुम्च' इति ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्नुमौ ॥

**अर्घ**—'संज्ञायामर्घमेघनिदाघावदाघा' इति न्यङ्कादिपाठात्कुत्वम्। अर्घो विक्रियमाणस्य धान्यादेरियत्ता । अन्ये तु—मूल्यमिति ; तथा च अनर्घ इति प्रयुज्यते । अमूल्य इति ह्यर्थः ॥

पूजाविधिरप्यर्घः, अर्घार्थमुदकं **अर्घ्यम्**—'पादार्घाभ्यां च' इति तादर्थ्ये यत् ॥

अर्हतिः आर्षीयोपि ॥

**ऋषिरादय उदात्ता उदात्ततः** ॥

एवं तुहिरादीनूष्मान्तान् विकल्पिताङः परिसमाप्य आत्मने पदपरस्मैपदभेदेन विकल्पिताडोऽन्यानप्याह—

## द्युत दीप्तौ ॥ ७२९ ॥

एतदादयः कृपूपर्यन्ता उदात्ता अनुदात्तेतः ॥

द्योतते ॥

दिद्युते । दिद्युताते—'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' इति हलादिशेषं बाधित्वा सम्प्रसारणम् । अभ्यासस्येति शेषः ॥

द्योतिता । द्योतिष्यते । द्योताताम् । अद्योतत । द्योतेत । आशिषि—द्योतिषीष्ट । अद्योतिष्ट । अद्युतत्—'द्युद्भ्यो लुङि' इति वा परस्मैपदम् । 'द्युद्भ्यः' इति बहुवचननिर्देश आद्यर्थावगमार्थः । यदा परस्मैपदं तदा 'पुषादिद्युतादि' इति च्लेरङ् ॥

दिद्युतिषते, दिद्योतिषते ॥

द्युतित्वा । द्योतित्वा—'रलो व्युपधात्' इति वा कित्त्वम् ॥

देद्युत्यते—'द्युतिस्वाप्योः' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणः ॥

देद्युतीति, देद्योति ॥

द्योतयति । अदिद्युतत्—'द्युतिस्वाप्योः' इत्यभ्यासनिमित्तेन प्रत्ययेनानन्तर्य नाश्रीयते इति णिचा व्यवधानेऽप्यत्र सम्प्रसारणं भवति । अत एव तत्र वृत्तौ अदिद्युतत् इत्युदाहारि । तथा दाधर्त्यादिसूत्रे दविद्युतदित्यत्र द्युतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य सम्प्रसारणाभावो विगागमश्चात्वं च निपात्यते इत्युक्तम् । आनन्तर्ये ह्याश्रीयमाणे यङो लुका लुप्तत्वात् आनन्तर्याभावान्न सम्प्रसारणस्य प्रसङ्ग इति किं तदभाववचनेन । अत्र शिवदेवः—

'हेरचडि' इति अभ्यासादुत्तरस्य हिनोतेः कुत्वमुक्त्वा तस्य 'अचडि' इति निषेधाच्छिङ्गात् 'प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम्' इति सामान्येन परिभाषामाश्रित्य पर्यहार्षीत् । अत्राभ्यासनिमित्तप्रत्ययानन्तर्ये आश्रीयमाणे प्राजीहयत् इत्यत्र णिचा चडो व्यवधानात् कुत्वाप्रसङ्गेऽपि क्रियमाणोऽयं निषेधो ण्यधिकस्य ग्रहणं ज्ञापयति । अस्याः परिभाषायाः सामान्यापेक्षत्वं वृत्तिकारस्यानभिमतम् । यदाह—'हेश्चडोऽन्यत्र ण्यधिकस्यापि कुत्वं भवति । तेन प्रजिघाययिषतीतिसिद्धं भवति' इति । तथा च वार्तिकमपि—'हेश्चडि प्रतिषेधानर्थक्यमङ्गान्यत्वात् । ज्ञापकत्वं त्वन्यत्र ण्यधिकस्य कुत्वविज्ञानार्थम्' इति । एवं च 'स्तम्बकर्णयोरमिजपोः' 'अर्हः' इत्यादौ ण्यधिकस्य ग्रहणाभावात् ण्यन्तादचोऽभावात् अणि सुखार्हीं इत्यादि सिद्ध्यति । यदुक्तं सीरदेवेन—ण्यधिकपरिभाषाया अव्यापिनीत्वात् अर्हादावप्रवृत्तिरिति सामान्यत्वमङ्गीकृत्य तदपि वृत्तिवार्तिकविरोधादेव प्रत्युक्तम् ॥

अस्य उदुपधत्वात् 'उदुपधाद्भावादिकर्मणोः' इति निष्ठायाः किन्त्वविकल्प उदाहार्यः—द्युतितं अनेन । द्योतितं अनेन । इत्यादि ॥

विद्युत्—'भ्राजभास' इत्यादिना क्विप् ॥

दिद्युत्—'द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च' इति कौ द्वित्वे अभ्यासस्य सम्प्रसारणम् ॥

ज्योतिः—'द्युतेरिसन्नादेश्च जः' इतीसन् आदेश्च जः ॥

## श्विता वर्णे ॥ ७३० ॥

श्वेतते । शिश्विते । श्वेतिता । अश्वितत्, अश्वेतिष्ट । इत्यादि पूर्ववत् ॥

**श्वित्तम्**—'आदितश्च' इति निष्ठायामनिट्त्वम् ॥

भावादिकर्मणोस्तु—'विभाषा भावादिकर्मणोः' इतीडप्युदाहार्यः **श्वितितं** अनेन इत्यादि ॥

**श्वित्रम्**—'स्फायितञ्चि' इत्यादिना रक् ॥

## ञि मिदा स्नेहने ॥ ७३१ ॥

**मेदते । मिमिदे । मेदिता । अमिदत्, अमेदिष्ट** । इत्यादि । 'मिदेर्गुणः' इत्यत्र शिद्ग्रहणमनुवर्तते, तच्च कर्मधारय इति 'यस्मिन्विधिः' इति इत्संज्ञकशकारादौ सगुण इति एशि गुणाभावः ॥

**मिन्नः**—'जितः क्तः', 'रदाभ्याम्' इति नत्वम्, आदित्त्वादनिट्त्वम् । भावादिकर्मणोस्तु 'विभाषा भावादिकर्मणोः' इतीट्पक्षे 'निष्ठाशीड्' इति सेटो निष्ठाया अकित्त्वात् गुणे **मेदितमनेन** इत्यादि ॥

**मेदुरः**—'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति घुरच् ॥

**मित्रम्**—'अमिचिमिदिशसिभ्यस्त्रन्' इति त्रन् ॥

अयं दिवादिश्चुरादिश्च । मिट मेट मेधाहिंसनयोः इति हिक्कादौ ॥

## ञि ष्विदा स्नेहस्य मोचने च ॥ ७३२ ॥

'स्नेहनमोचनयोः' इति क्वचित्पठ्यते ॥ **स्वेदते । सिस्विदे । स्वेदिता । अस्विदत्, अस्वेदिष्ट** ॥

**सिस्विदिषते, सिस्वेदिषते**—'स्तौतिण्योरेव' इत्यषत्वम् ॥

**सेष्विद्यते । सेष्वेत्ति** ॥

**स्वेदयति । असिष्विदत्** ॥

ण्यन्तात्सनि 'सः स्विदिस्वदिसहीनां च' इत्यभ्यासात्परस्य सत्वे **सिस्वेदयिषति** इति ॥

निष्ठायां मिदिवत् **स्विन्नः** इत्यादि ॥

अत्र स्वामी—'ञि क्ष्विदा' इति क्षकारं पठित्वा 'ञि ष्विदा' इति नन्दी इत्याह । तत्र क्ष्वेदते । **चिक्ष्विदे । अक्ष्विदत्, अक्ष्वेदिष्ट** । इत्यादि ॥

क्ष्वेदति इत्यव्यक्ते शब्दे भविष्यति । ष्विद्यति इति स्नेहनमोकयोर्दिवादौ । स्विद्यतीति च गात्रप्रस्रवणे ॥

## रुच दीप्तावभिप्रीतौ च ॥ ७३३ ॥

**रोचते देवदत्ताय मोदकः** । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति प्रीयमाणस्य सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ॥

**रुरुचे । रोचिता । अरुचत्, अरोचिष्ट** ॥

**रुरुचिषते, रुरोचिषते । रुचित्वा, रोचित्वा** ॥

भृशं रोचत इत्यर्थे यङ्ङ्लुप्यते इति वृत्तिन्यासादौ ॥

**रोचयति । रोचयते**—'अणावकर्मकात्' इति कर्त्रभिप्राये प्राप्तं परस्मैपदं 'न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः' इति निषिध्यते ॥

रोचयतीति **रोचनः । रोचना**—'नन्दिवासिदामिदूषिसाधिवर्धिशोभिरोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः संज्ञायाम्' इति नन्द्यादिपाठाल्लयुः ॥

**रोचिष्णुः**—'अलङ्कृञ्' इत्यादिनेष्णुच् ॥

**रुच्यः**—'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यध्याः' इत्यादिना कर्तरि क्यञ्निपात्यते ॥

**रोकः**—घञ् । 'चजोः कुघिण्यतोः' इति 'निष्ठायामनिटः कुत्वं' इति वदतो वार्तिककारस्य 'विभाषा श्यावारोकाभ्याम्' इति निपातनात् कुत्वन् ॥

**रोचिः**—'शुचिरुच्योस्संज्ञायाम्' इति सिः ॥

**रुक्मम्**—'युजिरुचितिजां कुश्च' इति मक्प्रत्ययः चकारस्य ककारः ॥

**रुचकः** मणिः—'कुन् शिल्पिसंज्ञयोः' इति कुन् ॥

## घुट परिवर्तने ॥ ७३४ ॥

**घोटते । जुघुटे । घोटिता । अघुटत्, अघोटिष्ट ॥**

**जुघुटिषते, जुघोटिपते । घुटित्वा, घोटित्वा**—'रलो व्युपधात्' इति वा कित्त्वम् ॥

**जोघुटचते । जोघोट्टि ॥**

**घोटयति । अजूघुटत् ॥**

घुटितः । भावादिकर्मणोः कित्त्वविकल्पे **घुटितमनेन, घोटितमनेन । इत्यादि ॥**

**घोटः**—अच् ॥

**घोटकः**—संज्ञायां कन् ॥

**घुटिका**—संज्ञायां कुन् ॥

अयं तुदादौ च ॥

## रुट लुट लुठ प्रतीघाते ॥७३५-७३७॥

आद्यौ प्रथमान्तौ । अन्त्यो द्वितीयान्तः । अयं पाठो देव-मैत्रेयादीनाम् । हरियोगिनस्तु—आद्याविव । 'धातोः कर्मणः' इत्यत्र कैयटे द्वाविमौ द्वितीयान्तौ पठितौ । क्षीरस्वामी तु एवं पठित्वा आह—रुट, लुट, इत्येके, 'बाधृ लोटने' इति लिङ्गादिति । तथा लुट दीप्तौ इत्यप्यसावाह । लुटि इति तु शाकटायनः । सुधाकरस्तु—भ्वादिसूत्रे लुठतिर्द्वितीयान्तोपि, लुठितः लोठनः इति प्रयोगदर्शनादित्याह ॥

रोटते । लोटते । लोठते इत्यादि पूर्ववत् ॥

लोटति इति विलोडने गतम् । रुण्टति लुण्टति इति स्तेये । रोठति लोठति इत्युपघाते । लुण्ठतीत्यालस्यप्रतिघातयोः । रुण्ठति लुण्ठति इति द्वयं गत्यर्थे ॥

## शुभ दीप्तौ ॥ ७३८ ॥

शोभते । शुशुभे । शोभिता । अशुभत्, अशोभिष्ट ॥
शुशुभिषते, शुशोभिषते । शुभित्वा, शोभित्वा ॥
शोशुभ्यते । शोशोब्धि ॥
शोभयति । अशूशुभत् ॥
हिंसाभाषणयोः शोभति शुभतीति गतौ ॥

## क्षुभ सञ्चलने ॥ ७३९ ॥

सञ्चलनं प्रकृतिविपर्यासो मथनं च ॥

क्षोभते । चुक्षुभे । अक्षुभत्, अक्षोभिष्ट । इत्यादि पूर्ववत् ॥

क्षुब्धो मन्थः । 'क्षुब्धस्वान्त' इति मन्थे निष्ठायामनिट्त्वं निपात्यते । अन्यत्र क्षुभितः ॥

अयं दिवादिः क्रचादिश्च ॥

## णभ तुभ हिंसायाम् ॥ ७४०-७४१ ॥

प्रणभते । नेभे । नभिता । अनभत्, अनभिष्ट ॥

तोभते । तुतुभे । तोभिता । अतुभत्, अतोभिष्ट ॥

णभिरयमभावेऽपि वर्तते । 'नभन्तामन्यके समे'* इत्यत्र 'मा भूवन् अन्यके सर्वे' इति निरुक्तम् । तथा 'नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु'† इत्यत्र भाष्येषु अन्यकेषां शत्रूणां धन्वसु स्थिता ज्याका छिन्नाः मा भवन्त्विति ॥

नभस—समुद्र आकाशश्च । 'अत्यमि' इत्यादिना असुप्रत्ययः‡ ॥

इमौ दिवादी क्रचादी च ॥

## स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु अवस्रंसने ॥ ७४२—७४४ ॥

## ध्वंसु गतौ च ॥ ७४५ ॥

स्रंसते । सस्रंसे । स्रंसिता । अस्रसत्, अस्रंसिष्ट । अङि नलोपः ॥

*तै स. ३-२-११ †तै. स १-७-१३.

‡नभः समुद्र आकाशश्च असुन्नित्यसुन्.

**सिस्रंसिषते** । **सनीस्रंसीति, सनीस्रंस्ति, सनीस्रस्तः** । 'नीग्वञ्चुस्रंसु' इत्यादिना अभ्यासस्य नीक् ॥

**स्रंसित्वा, स्रस्त्वा**—उदित्त्वादिड्विकल्पः । इट्पक्षे कित्त्वाभावान्नलोपाभावः ॥

**स्रस्तम्** ॥

उखायाः स्रंसते इति **उखास्रत्**—'क्विप्च' इति क्विप् । 'वसुस्रंसुध्वंसु' इति पदान्तसकारस्य दकारः ॥

**सनीस्रः**—यङ्लुगन्तात् क्वौ नलोपः । दत्वं तु सानुबन्धकनिर्देशान्न भवति । रुत्वविसर्जनीयौ । 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घोऽधातोरिति निषेधान्न भवति ॥

**सनीस्रंसः**—अचि परे यङ्लुकि यङो लुकालुप्तत्वात् प्रत्ययलक्षणाभावान्नलोपाभावः ॥

एवं **ध्वंसते** । **भ्रंसते** । इत्यादि ॥

अत्र तृतीयं मैत्रेयस्वामिबोधिन्यासकारसम्मताकारादयः तालव्योष्मान्तं पठन्तो नीग्विधावपि तथैवानुवदन्ति । **भ्रंसते** इत्यादि ॥

अत्र क्वचित् भ्रशिरपि पठ्यते । भ्रशु भ्रंशु अधःपतने इति दिवादौ ॥

देवमैत्रेयादिमते स्रंसते इति । प्रमादेऽपि गतः ॥

## स्रम्भु विश्वासे ॥ ७४६ ॥

**विस्रम्भते** । **सस्रम्भे** । **स्रम्भिता** । **अस्रम्भत्, अस्रम्भिष्ट** ॥

**सिस्रंभिषते** । **सास्रभ्यते** । **सास्रम्भि** ॥

स्नम्भयति । असस्नंभत् ॥

स्नम्भित्वा, स्नब्ध्वा—

स्नब्धम् । विस्नम्भी—'वौकषलस' इति घिनुण् ॥

स्नम्भत इत्यादि । तालव्यादिः काश्यपादिमते प्रमादे गतः॥

## वृतु वर्तने ॥ ७४७ ॥

वर्तते । ववृते । वर्तिता । वर्तिष्यते, वर्त्स्यति । वर्तताम् । अवर्तत । वर्तेत । वर्तिषीष्ट । अवर्तिष्ट, अवृतत् । अवर्तिष्यत, अवर्त्स्यत् । विवर्तिषते, विवृत्सति । 'वृङ्चस्यसनोः' इति स्यसनोर्वा परस्मैपदम् । वृङ्च इति बहुवचननिर्देश आद्यर्थावगमार्थ इति वृतुवृधुश्रधुस्यदिकृपीनामपि स्यसनोर्वा परस्मैपदं द्रष्टव्यम् । 'न वृङ्चश्रतुर्म्यः' इति सकारादेरार्धधातुकस्य परस्मैपदपरस्येडभावे झलादेः सनः 'हलन्ताच्च' इति किन्वादगुणत्वम् । 'न वृङ्चश्रतुर्म्यः' इत्यत्र भाष्यवार्तिकयोः 'सिद्धं तु वृतादीनामात्मनेपदेन समानपदस्थस्येङ्वचनात्' इत्युक्तत्वात् कृत्परेऽपि सादौ परस्मैपदलुकि चेटः प्रतिषेधो भवति—विवृत्सिता । विवृत्सितुम् । विवृत्सितव्यम् । विवृत्स इति । सामान्येन वलादौ इटि सिद्धे आरभ्यमाणमिदमात्मनेपदेन समानपदस्थस्येङ्विधानमर्थादन्यनिवृत्त्यर्थम् । विवृत्सित्रीयते इति आत्मनेपदेन समानपदस्थत्वेऽप्यन्तरङ्गकृताश्रयः प्रतिषेधो भवति, न तु बहिरङ्ग आत्मनेपदाश्रयो विधिः ॥

वरीवृत्यते—'रीगृत्वतः' इति रीक् । वर्वर्ति इत्यादि नेयम् ॥

वर्तयति । अववर्तत्, अवीवृतत्—'उरृद्वा' ॥

वर्तिष्णुः—'अलङ्कृञ्' इत्यादिनेष्णुच् ॥

**हस्तवर्तं वर्तयति** 'हस्ते वर्तिग्रहोः' इति हस्तवाचिनि करणे उपपदे ण्यन्तादस्मात् ग्रहेश्च णमुल् । हस्त इत्यर्थग्रहणमिति **पाणिवर्तम्** इत्याद्यपि भवति । कषादित्वात् यथाविध्यनुप्रयोगः ॥

**वर्तित्वा, वृत्वा । वृत्तः ॥**

अयं यदा अन्तर्भावितण्यर्थस्तदा सकर्मकः । यथा 'तेन निर्वृत्तं' इति; निर्वर्तितमिति ह्यत्रार्थः । यद्येवं 'णेरध्ययने वृत्तं' इति निष्ठायां णिलुगिडभावनिपातनं किमर्थम्, यस्मात् अन्तर्भावितण्यर्थादस्मात् वृत्तमध्ययनमिति भविष्यति । एव तर्हि ण्यन्तादप्यध्ययने वृत्तमित्येव यथा स्यान्न तु वर्तितमित्येवमर्थं निपातनम् । अत्र वृत्तिकार अमुं पक्षमुक्त्वा 'वर्तितो गुणो देवदत्तेन इति चेच्छन्ति' इत्याह । अत्र हरदत्तः—तेषां नार्थ सूत्रेणेति ॥

वृत्तं तदिति **वर्त्म**—'उणादयो बहुलम्' 'भूतेऽपि दृश्यन्ते' इति मनिन् ॥

**वर्त्मनिः** रथमार्ग.—'अदेर्मुट्च' 'वृत्तेश्च' इति मुडागमो निप्रत्ययश्च । 'अदिवृत्तिभ्या मुटच' इति वक्तव्ये 'वृत्तेश्च' इति पृथग्योगकरणात् पक्षे मुण्न भवतीति **वर्तनिः** इत्यपि भवति ॥

**वर्तनी**—कृदिकारत्वात् ङीष् ॥

अयं भाषार्थश्चुरादौ ॥

## वृधु वृद्धौ ॥ ७४८ ॥

**वर्धत** इत्यादि पूर्ववत् ॥

**वर्धिष्णुः**—'अलङ्कृञ्' इत्यादिनेष्णुच् ॥

**वर्धनः**—नन्द्यादिपाठात् ल्युः ॥

**वृद्धः** ॥

अतिशयेन वृद्धो **वर्षिष्ठः** । **वर्षीयान्**—'प्रियस्थिर' इति इष्ठन्नीयसुनोर्यथासङ्ख्यात् वृद्धस्य वर्षादेशः ॥

**ज्येष्ठः** । **ज्यायान्**—'ज्यच' इति ज्यादेशः । अकारोच्चारणसामर्थ्यादिलोपो न भवतीति प्रागेवोक्तम् ॥

वृद्धमाचष्टे **वर्षयति, ज्यापयति**—'णाविष्ठवत्' इति वर्षज्यादेशौ ॥

**वृद्धिः**—'तितुत्र' इति नेट् ॥

वृद्ध्यर्थं द्रव्यमपि वृद्धिः । तत्प्रयच्छति गर्ह्यमिति **वार्धुषिकः**—'प्रयच्छति गर्ह्यम्' इति द्वितीयान्तात् गर्ह्यत्वोपाधिकात् प्रयच्छतीत्यर्थे ठगिति ठक् । 'वृद्धेर्वृधुषिभावश्च' इति वृधुषिभावः । वृधुषि प्रकृत्यन्तरं वेति वृत्तिः । वृद्धेर्गर्ह्यत्वमशास्त्रीयत्वेन ॥

अयं भाषार्थः चुरादौ ॥

## शृधु शब्दकुत्सायाम् ॥ ७४९ ॥

**शर्धत** इत्यादि पूर्ववत् ॥

अयं प्रसहने चुरादिः ॥

वृतादयस्त्रयः उदितः ॥

## स्यन्दू प्रस्रवणे ॥ ७५० ॥

**स्यन्दते । सस्यन्दे । सस्यन्दिषे, सस्यन्त्से । सस्यन्दिध्वे, सस्यन्ध्वे । सस्यन्दिवहे, सस्यन्द्वहे**—ऊदित्त्वात् 'स्वरतिसूति' इत्यादिना वलादावार्धधातुके इट्त्विकल्पः ॥

**स्यन्दिता, स्यन्ता । स्यन्दिष्यते, स्यन्त्स्यते**—'वृद्भ्यस्स्यसनोः' इति यदा परस्मैपदं तदा स्यन्देरूदिद्ग्रहणमन्तरङ्गमपीड्विकल्पं 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इति निषेधः चतुर्ग्रहणसामर्थ्यात् बाधत इति **स्यन्त्स्यति । अस्यन्त्स्यत् । सिस्यन्त्सति** इत्येव भवति ॥

**स्यन्दताम् । अस्यन्दत । स्यन्देत । स्यन्दिषीष्ट, स्यन्त्सीष्ट । अस्यन्दिष्ट । अस्यन्दिषाताम्** । इडभावे झलि सिज्लोपे चर्त्वे—**अस्यन्त । अस्यन्त्साताम्** । इत्यादि ॥

'द्युद्भ्यो लुडि' इति यदा परस्मैपदं तदा 'पुषादिद्युतादि' इत्यङि अनुनासिकलोपे—**अस्यदत्** । **अस्यदताम्** । इत्यादि ॥

**अस्यन्दिष्यत, अस्यन्त्स्यत** ॥

**सिस्यन्दिषते, सिस्यन्त्सते, सिस्यन्त्सति** ॥

**अनुस्यन्दते जलम्, अनुष्यन्दत** इति वा—'अनुविपर्यभिनिभ्यः' इति वा षत्वम् । एवं पर्यादिभ्य उदाहार्यम् । 'अप्राणिषु' इत्यस्य पर्युदासत्वात् प्राण्यप्राणिसमुदायोपि प्राणिव्यति रिक्त इति **मत्स्योदके अनुष्यन्देते** इत्यत्रापि पक्षे मूर्धन्यो भवति ॥

**स्यन्दित्वा, स्यन्त्वा**—'क्त्वस्कन्दिस्यन्दोः' इत्यनित्यापि नलोपो निषिद्ध्यते ॥

**स्यन्नः**—निष्ठायां 'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वान्नत्वम् ॥

**स्यदः**—घञि 'स्यदो जवे' इति निपातनान्नलोपः, वृद्ध्यभावश्च । जवादन्यत्र—**स्यन्दः** ॥

**स्यन्दनः**—'अनुदात्तेतश्च' इति युच् ॥

**सिन्धुः**—'स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च' इत्युप्रत्ययः सम्प्रसारणं धश्चान्तादेशः । सिन्धौ जातः **सिन्धुकः** । **सैन्धव**—'सिन्ध्वपकराभ्यां कन्' 'अणञौ च' इति कनणौ । सिन्धुरभिजनोऽस्य **सैन्धवः**—'सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ' इत्यण् । सिन्धौ भवादिरपि **सैन्धवः**—'कच्छादिभ्यश्च' इति शैषिकोऽण् ॥

यदा त्वयं भवादिर्मनुष्यः तत्स्थो वा तदा 'मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्' इति वुञ्—**सैन्धवको मनुष्यः** । **सैन्धवकं हसितम्** । इति ॥

लवणसिन्धौ भवं **लावणसैन्धवम्**—'प्राग्दीव्यतोऽण्' 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः ॥

## कृपू सामर्थ्ये ॥ ७५१ ॥

**कल्पते । चक्लृपे । चक्लृपिषे, चक्लृप्से** । इत्यादि स्यन्दिवत् । विशेषस्तु—'लुटि च क्लृपः' इति लुटि स्यसनोरिव पक्षे परस्मैपदं, 'तासि च क्लृपः' इति तासौ सकारादाविवानिट्त्वं च—**कल्प्ता । कल्प्तासि** इति । पूर्ववदिदमूदिच्छक्षण विकल्पं बाधते । अत्र चात्मनेपदेन समानपदस्थस्येति स्थितमिति सन्नन्तात्क्तिति परस्मैपदलुकि च निषेधो भवति—**चिक्लृप्सिता । चिक्लृप्स** इत्यादि । 'हलन्ताच्च' इति सनः किच्चान्न गुणः । तथा यदा 'लिङ्सिचोरात्मनेपदे' इतीडभावः तदा 'लिङ्सिचावात्मने पदेषु' इति

किन्त्वान्न गुणः—**क्लृप्सीष्ट** । **अक्लृप्त** । **अक्लृप्साताम्** इत्यादि । इट्पक्षे **कल्पिषीष्ट** । **अकल्पिष्ट** । इत्यादि । 'कृपो-रोलः' इति रेफस्य लत्वम् । तत्र वर्णात्मकस्य रेफस्य वर्णात्मको लकार. । यस्त्ववर्णात्मक ऋकारस्थस्तस्य अवर्णा-त्मकलृकारस्थ. । तत्र स्थान्यादेशयो वर्णैकदेशयोः निर्देष्टु-मशक्यत्वात् ऋकारस्य लृकारस्संपद्यते ॥

**चलीक्लृप्यते** । **चलक्लृप्त, चलीकल्पिष्ट, चलिकल्पिष्ट**— इत्यादौ रिग्रुग्रीकामपि कृपो भक्तत्वेन तद्वेफत्वाल्लत्वं भवति । तथा ह्युक्तम्—

अदसोऽद्रेः पृथङ्मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत् । इति ।

द्युतादीना यङ्लुङन्तानां लुडि अङ् नास्ति, 'पुषादिद्युतादि' इति गणनिर्देशात् । तेन **अदेद्योतीत्** इत्येव भवति । सिजपे-क्षोऽत्र गुणो नाजादिपिदपेक्षः । तथा वृतादीना यङ्लुगन्तानां 'न वृद्भ्यः' इतीण्निषेधोऽपि गणनिर्देशान्न भवति । तेन **वरीवर्ति-ष्यति** इत्याद्येव भवति । कृपेस्तु—गणनिर्देशाभावात् 'नासि च क्लृपः' इति इण्निषेधो भवत्येव—**चलक्लृप्तासि** इत्यादि ॥

द्युतादय उदात्ता अनुदात्तेतः ॥

## वृत् ॥

वृत्तः सम्पूर्णः द्युतादिः वृतादिश्चेत्यर्थ. । वृतु वर्तने इत्य-स्मात् भूतेऽपि क्विप् ॥

गणप्रयुक्तकार्यभाजो द्युतादीन्वृतादींश्च परिसमाप्य अन्यानपि गणप्रयुक्तकार्यभाज आह—

## घट चेष्टायम् ॥ ७५२ ॥

एतदादयस्त्वरत्यन्ता उदात्ता अनुदात्तेतः षितश्च । तत्फलं घटा इत्यादौ 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ् । घटादय· फणान्ता मित । तत्फल तत्रतत्र दर्शयिष्यते ॥

**घटते । जघटे । घटिता ।** इत्यादि ॥

**जिघटिषते । जाघट्यते । जाघट्टि ॥**

**घटयति । अजीघटत्**—मित्त्वात् 'मितां ह्रस्वः' इति णावुपधाह्रस्व· ॥

यदा तु ण्यन्ताच्चिण्णमुलौ तदा 'चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्' इति चिण्णमुल्परे णौ। मितामुपधाया वा दीर्घशासनात्—**अघाटि, अघटि । घाटंघाटम्, घटंघटम् ।** इति भवति । अण्यन्ते तु वृद्धिरेव ॥

ण्यन्तात् स्यादिषु चिण्वदिट्यपि वा दीर्घः—**घाटिष्यते, घटिष्यते । अघाटिष्यत, अघटिष्यत । अघाटिषाताम्, अघटिषाताम् । घाटिषीष्ट, घटिषीष्ट । घाटिता, घटिता ।** चिण्वदिटः 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वात् 'णेरनिटि' इति णिलोपः । चिण्वदिडभावे गुणायादेशयो· कृतयोः **घटयिष्यत** इत्यादि । कर्मकर्तर्यप्येवम् । लुङचेकवचने तु 'णिश्रि' इति यक्चिणोर्निषेधात् चडि **अजीघटत** स्वयमेव इति भवति । 'अचः कर्मकर्तरि' इति चिण्विकल्पस्य ण्यन्तो न विषय इति प्रागेवोक्तम् । 'घटादयो मित' इति गणनिर्देशेन विधीयमानत्वान्मित्त्वस्य यङ्लुक्यभावात् न ह्रस्वो नापि दीर्घविकल्प इति **जाघाटयति । अजाघाटीत् ।** इत्यादि भवति ॥

**घटी**—अजन्तात् 'जातेरस्त्रीविषयात्' इति ङीष् ॥

**घटना**—'घटिवन्दिविदिभ्यश्च' इति युच् ॥

**घटिका**—'क्रुन् शिल्पिसंज्ञयोः' इति क्रुन् ॥

अपरे गणान्तराधीता इह पठ्यन्ते । तेषामिह उपात्त एवार्थे मित्त्वम् । ये त्वपूर्वा· पठ्यन्ते तेषामुपात्ते चानुपात्ते चार्थे मित्त्वम् । तदुक्तं बोधिन्यासे—केचिदिहैव पठ्यन्ते तेषामुपसर्गादिनाऽर्थान्तरत्वेऽपि सानुबन्धत्वं, यथा विघटयतीत्यादि । अपरे गणान्तराधीता इह पठ्यन्ते तेषामर्थे न नियमः । यथा स्मृ चिन्तायां अन्यत्र पठित·, अत्र स्मृ आद्ध्याने, आद्ध्यानमुत्कण्ठापूर्वकं स्मरणम् । स्मरयति । अन्यत्र स्मारयति । अत्र तरङ्गिण्यामपीदमेवार्थतत्त्वं स्थितम् ॥

घटयति इति 'घट सङ्घाते' इति चौरादिकस्य । तस्य हि मित्त्वं निषिध्यते—'नान्ये मितोऽहेतौ' इति, ज्ञपादिपञ्चकव्यतिरिक्ता अहेतौ स्वार्थणिचि मितो न भवन्तीत्यर्थः । अत एव स्वार्थे णिचि मित्त्वनिषेधाच्चेष्टायां मित्त्वार्थं तस्यायमनुवादो न भवति ॥

## व्यथ भयसञ्चलनयोः ॥ ७५३ ॥

व्याघ्रात् **व्यथते**—'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति बिभेत्यर्थानां त्रायत्यर्थानां च प्रयोगे भयहेतुः कारकमपादानमिति व्याघ्रस्यापादानत्वात्पञ्चमी ॥

**विव्यथे**—'व्यथो लिटि' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति पूर्वस्य यणो यकारस्य सम्प्रसारणपरत्वात्सम्प्रसारणं न भवति । सम्प्रसारण इति च सम्प्रसारणभाविनीत्यर्थः । यद्वा अस्मादेव वचनसामर्थ्यात्पूर्वं परस्य

सम्प्रसारणं क्रियते, पश्चादन्यस्य । अत्र च वेलायामस्ति सम्प्रसारणपरत्वम् । अथवा 'व्यथो लिटि' इति सम्प्रसारणं हलादिशेषापवाद इति परस्यैव प्रसज्यते न पूर्वस्येति न चोद्यावकाशः ॥

**व्यथिता** । इत्यादि ॥

**विव्यथिषते । वाव्यथ्यते । वाव्यथीति, वाव्यत्ति ॥**

**व्यथयति । अविव्यथत्** । घटिवच्चिण्णमुलोरुदाहार्यम् ॥

न व्यथते इति **अव्यथ्यः**—'राजसूय' इत्यादिना निपातितः ॥

**अव्यथी**—'जिदृक्षि' इत्यादिना नञ्पूर्वात्ताच्छील्लिक इनिः ॥

**व्यथा**—पित्त्वादङ् ॥

**विथुर**—'छिदिभिदि' इत्यत्र 'व्यथे· सम्प्रसारणं च' इति वचनात्कुरचि सम्प्रसारणम् ॥

**विधुरः**—'व्यथे· सम्प्रसारणं ध· किञ्च' इति वचनात् उरचि सम्प्रसारणम्, थकारस्य धकारः ॥

व्यथ दुःखचलनयो इति दुर्गः । भयचलनयोरिति प्रकाशः । तवर्गचतुर्थान्तोयं दिवादौ ॥

## प्रथ प्रख्याने ॥ ७५४ ॥

**प्रथते । पप्रथे । प्रथिता** । इत्यादि॥

**प्रथयति । अपप्रथत्**—'अत्स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तॄस्पशाम्' इति चङ्परे णावभ्यासस्यात्व इत्वापवाद ॥

**अप्रथि, अप्राथि** । इत्यादि घटिवत् ॥

**पृथिवी**—'प्रथे· पिवन् सम्प्रसारणं च' इति षिवनः षित्त्वात् ङीष् ॥

पृथिव्या निमित्तं संयोग उत्पातो वा **पार्थिवः**—'सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ' इत्यञ् । पृथिव्या ईश्वरः, पृथिव्यां विदित इति वा **पार्थिवः**—'तस्येश्वरः' 'तत्र विदित इति च' इत्यञ् । 'पृथिव्या ञाञौ' इति प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ञाञौ—**पार्थिवम्** । अनयोः स्त्रियां विशेषः—**पार्थीवा** । **पार्थीवी** ॥

**पृथुः**—'प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च' इति कुप्रत्ययः सम्प्रसारणं च । सलोपवचनं भृञ्जत्यर्थम् ॥

पृथोर्भावः **प्रथिमा**—'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इतीमनिच् । 'र ऋतो हलादेः' इति ऋकारस्य रशब्दः । इमनिजभावे 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यणि—**पार्थिवम्** । अत्र लघोः पूर्वत्वमिगपेक्षम् । तच्चेह द्वयोरचोरानन्तर्येणावस्थानासम्भवादेकेन हला व्यवधानमाश्रीयते ॥

'वोतो गुणवचनात्' इति ङीषि—**पृथ्वी** । गुणमुक्त्वा गुणिनि वर्तमानो गुणवचनः ॥

अयं कथादावपि । अत्र केचित्पृथेति ऋकारोपधमपि पठन्ति । यदाह वर्धमानः—पृथिकदिक्रन्दिदक्ष्यादीनां घटादौ पाठः चिण्णमुलोर्वृद्ध्यर्थः* इति ॥

अत्र स्वामी प्रथेः सम्प्रसारणविधानमनार्षं मन्यते । पुरुषकारोऽपि 'यदप्रथयत् । तत्पृथिव्यैः पृथिवित्वम् ।'† इति श्रौतस्य निर्वचनस्यानार्षपक्ष एवाङ्गीकरिष्यमिति । अन्यथा यदपर्थयदित्येव ब्रूयादिति । पुनश्चोक्तम्—अथापि पृथेः घटादिपाठे तत्फलं 'घठाद्यष्वितः' इति षित्त्वादङि सति पृथेतिरूपं द्रष्टव्यमिति ॥

*दीर्घार्थः, †तै. ब्र. १-१-३.

व्यथादिस्थान्तः । पृथ प्रक्षेप इति चुरादौ ॥

## प्रस विस्तारे ॥ ७५५ ॥

**प्रसते** । **पप्रसे** । **पिप्रसिषते** । **पाप्रस्यते** । **पाप्रस्ति** ॥

लडि तिपि 'तिप्यनस्तेः' इति दत्वे—**अपाप्रत्** इति भवति । सिपि तु 'सिपि धातोरुर्वा' इति दत्वरुत्वयोः—**अपाप्रत्, अपाप्रः** ॥

**प्रसयति** । **अपिप्रसत्** । **अप्रासि, अप्रासि** इत्यादि ॥

**प्रसा** ॥

## भ्रद मर्दने ॥ ७५६ ॥

**भ्रदते** । **मभ्रदे** । **भ्रदिता** ॥

**भिभ्रदिषते** । **माभ्रद्यते** । **माभ्रदीति, माभ्रत्ति** ॥

**भ्रदयति** । **अमभ्रदत्**—'अत्सृद्भ्वरप्रथभ्रद' इत्यादिना अभ्यासस्यात्वं मित्त्वापवादः ॥

**मृदुः**—'प्रथिभ्रदि' इत्यादिना कुप्रत्ययः सम्प्रसारणं च । अनेन प्रसारणवचनेन मृद्भ्रातेरभावोऽनुमातव्यः, तत्र प्रसारणस्यान्यार्थं वक्तव्यत्वात् । सत्व एव हि मृद्भ्रातेः 'मृडमृद' इत्यादिनिर्देशोपपत्तिः ॥

मृदोरपत्यं **मार्देयः**—'शुभ्रादिभ्यश्च' इति ढक् । 'ढेलोपोऽकद्भ्वाः' इत्युकारलोपः ॥

**मृद्वी**—गुणवचनत्वात् ङीष् ॥

**मृद्विका**—कनि 'केणः' इति ह्रस्वः ॥

**मार्दिमा**—पृथ्वादित्वात् इमनिचि 'र ऋत·' इति र·। इमनिजभावेऽण्—**मार्दवम्** ॥

स्वादुमृदुन इद **सौवादुमृदवम्**—'द्वारादीनां च' इति वृद्धिप्रतिषेध ऐजागमश्च ॥

मृद क्षोद इति ऋकारोपध· क्र्यादौ ॥

## स्खद स्खदने ॥ ७५७ ॥

स्खदन विद्रावणमिति* स्वामी ॥

**स्खदते । चस्खदे । स्खदिता ॥**

**स्खदयति । अचिस्खदत् । अस्खादि, अस्खादि ॥**

'स्खदिरवणरिभ्या च' इति मित्संज्ञानिषेधस्य वक्ष्यमाणत्वात् **अवस्खादयति । परिस्खादयति** इत्यत्र मित्त्वं न भवति। अत्र 'अपावपरिभ्य' इति बोधिन्यासे पठ्यते । तन्मते—**अपस्खादयति** इत्यत्रापि मित्त्वं न भवति ॥

## क्षजि गतिदानयोः ॥ ७५८ ॥

क्षज इति कौशिक· ॥

**क्षञ्जते । चक्षञ्जे । क्षञ्जिता ॥**

**चिक्षञ्जिषते । चाक्षञ्ज्यते । चाक्षञ्ज्मि**—झलि 'चोः कुः' इति कुत्वेन गत्वे 'खरि च' इति चर्त्वम्। नकारस्य अनुस्वारपरसवर्णौ ॥

**क्षञ्जयति । अचिक्षञ्जत् । अक्षञ्जि, अक्षाञ्जि ॥**

*विदारण.

क्षज्ञंक्षज्ञम्, क्षाज्ञंक्षाज्ञम् । मित्त्वसामर्थ्यादनुपधात्वेऽपि 'चि-ण्णमुलो·' इति दीर्घविकल्पो भवतीति मैत्रेयसुधाकरादय· ॥

क्षज्ञा इति गुरुमत्त्वादङि सिध्यति ॥

एवमन्येषामपि संयोगान्तानां दक्ष्यादीना मित्त्वसामर्थ्याद्दीर्घवि-कल्प· ॥

## दक्ष गतिशासनयोः† ॥ ७५९ ॥

वृद्धिशैघ्र्ययोरनुदात्तेदयं पठितस्तस्येहार्थविशेषे मित्त्वार्थोनुवाद· ॥

दक्षयति । अददक्षत् । अदाक्षि, अदक्षि । इत्यादि ॥

## क्रप कृपायां गतौ ॥ ७६० ॥

क्रपते । चक्रपे । क्रपिता ॥

चिक्रपिषते । चाक्रप्यते । चाक्रप्ति ॥

क्रपयति । अचिक्रपत् । अक्रपि, अक्रापि । इत्यादि ॥

अस्येह पाठो मित्त्वार्थः, न तु षित्त्वार्थः । यतः 'क्रपेः सम्प्र-सारणं च' इति भिदादिपाठात् तत्फलमङ् सिध्यति **कृपा** इति ॥

**कृपाणः**—'युधिबुधिदृशिभ्य किच्च' इत्यानच् बाहुल-कादस्मादपि ॥

**कृपणः**—बाहुळकादेव 'रञेः क्युन्' इति क्युन् अस्मादपि ॥

**कृपीटः**—'कृतृकृपिभ्य· कीटन्' । अत्र 'कृपो रो ल' इति लत्वाभावार्थं कृपिस्थाने क्रपि पठितव्य इति 'कृपो रो लः' इत्यत्र भाष्यादौ स्थितम् ॥

†गतिहिंसनयो

कर्पूरम्—'खर्जपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ' इत्यत्रादिग्रह-णादूरः ॥

कृपाणादौ सर्वत्र बाहुलकात्सम्प्रसारणम् । यद्वा—सर्व एवैते कृपेरेव, लत्वाभावो बहुलवचनादिति लत्वसूत्रे उक्तम् ॥

## कदि क्रदि क्लदि वैक्लव्ये ॥ ७६१-७६३॥

अत्र क्षीरस्वामी एव पठित्वा आह—वैकल्य इति चन्द्रः । कथक्रद-क्लद इति नन्दी । मैत्रेयस्तु—कदिक्रदी द्वाविदितौ पठित्वा क्रदक्लदेति द्वावनिदितावाह । तत्रेदितोरन्त्य. सरेफः आद्यो नीरेफः । अनिदितोस्त्वाद्यस्सरेफः अपरो लकारवान् । वर्धमानोऽपि मैत्रेयवल्लकारवन्तमिदितं नात्र पठति । यदाह—पृथिकन्दिक्रन्दिदक्ष्यादीना घटादौ पाठः चिण्णमुर्लोवृद्ध्यर्थः* इति । अत्र कदिक्रदिक्लदीनामाह्वानरोदनयोः परस्मैपदिषु गताना पुनरिहोपादानं न केवल मित्त्वार्थम्, किन्त्वात्मनेपदिषु पाठसामर्थ्यात्तदर्थमपि ॥

कन्दते । चकन्दे । कान्दिता ॥

चिकन्दिषते । चाकन्द्यते । चाकान्ति ॥

कन्दयति । अचकन्दत् ॥

अकान्दि, अकन्दि । कन्दकन्दम्, कान्दंकान्दम् । इत्यादि क्षजिवत् ॥

मित्त्वसामर्थ्यादनुपधाया अपि दीर्घविकल्पः ॥

एवं क्रन्दते । क्लन्दते । इत्यादि ॥

अनिदित्पाठे—कदते । कदयति । अकदि, अकादि इत्यादि । एवं क्रदते । क्लदते । इत्यादि ॥

---

*दीर्घार्थ.

कदनम् ॥

कन्दलः—बाहुलकात्कलः ॥ कन्दली—गौरादित्वात् ङीष् ॥

## ञि त्वरा सम्भ्रमे ॥ ७६४ ॥

त्वरते । तत्वरे । त्वरिता ।

तित्वरिषते । तात्वर्यते ॥

तातूर्ति । तातूर्तः । तात्वरति । तातूर्षि । तातूर्मि । ज्वरत्वरेत्युपधावकारयोः क्रौ झलादावनुनासिकादौ च ङ्क्ङिति ऊठ् । लोटि हेरपित्त्वात् ङित्त्वात् ऊठि—तातूर्हि ॥

त्वरयति । अतत्वरत्—'अत्सृदृत्वर' इत्यभ्यासस्यात्वं इत्त्वापवादः ॥

अत्वरि, अत्वारि । त्वरंत्वरम्, त्वारंत्वारम् ॥

तूर्णः । त्वरित—रुप्यमत्वरेति निष्ठायामिड्विकल्पः ॥

अस्यादित्त्वमात्मनेपदमात्रफलमिति मैत्रेयरक्षितादयः । अन्ये त्वादित्त्वं यङ्लुकीडभावार्थमाहुः । न हि तत्र 'रुप्यमत्वर' इतीड्विकल्पः, एका च इति तत्र अनुवर्तनादिति । तेषामयमभिप्रायः—'आदितश्च' इत्यत्र तु अव्यभिचारात् एकाज्ग्रहणं न सम्बध्यते । नच—अवयवेऽचरितार्थमादित्त्वं यङ्लुगन्तार्थमपि स्यात्; तस्य धात्वन्तरत्वात् । त्वरतेस्त्वादित्त्वं नावयवे चारितार्थमिति सामर्थ्याद्यङ्लुगन्तार्थमिति ॥ मैवम्—प्रयोजनकल्पनायामयमेव प्रकार इति नियमाभावात् । यदादित्त्वसामर्थ्यादिड्विकल्पे नैकाजिति सम्बध्यते । तेन तत्र त्वरिग्रहणं यङ्लुगर्थम् । प्रकृतौ त्वादित्वात्प्र-

तिषेध एवेति वक्तुं शक्यते । एवं हि आदित्त्वं प्रकृत्यर्थमेव भवति । तस्मान्मैत्रेयाद्युक्तमेव ज्याय· ॥

तूः । तूरौ । तूरः—'ज्वरत्वर' इत्यूठ् ॥

## घटादयः षितः । उदात्ता अनुदात्तेतः ॥

षित्फलमद् उदाहृतः ॥

एवमात्मनेपदिन· समाप्य परस्मैपदिन आह—

## ज्वर रोगे ॥ ७६५ ॥

एतदादयः फणान्ता उदात्ता उदात्तेतः ॥

ज्वरति । जज्वार । ज्वरिष्यति । ज्वरतु । अज्वरत् । ज्वरेत् । ज्वर्यात् ॥

अज्वारीत्—'अतो ल्रान्तस्य' इति वृद्धिः ॥

जिज्वरिषति । जाज्वर्यते । जाजूर्ति । जाजूर्तः ॥

ज्वरयति । अजज्वरत्—'अत्सृ' इत्यादिनाभ्यासस्यात्वम् ॥

अज्वरि, अज्वारि । इत्यादि ॥

ज्वरितः ॥

जूः । जूरौ । जूरः—'ज्वरत्वर' इत्यूठ् ॥

सञ्ज्वारी—'संपृच' इति घिनुण् ॥

'रुजार्थानाम्' इत्यत्र अज्वरेरिति वचनात् कर्मणि षष्ठी न भवति—चोरं ज्वरयति रोगः ॥

## गड सेचने ॥ ७६६ ॥

गडति । जगाड । गडिता ॥

**जिगडिषति । जागड्यते । जागट्टि ॥**

**गडयति । अजीगडत् । अगडि, अगाडि । इत्यादि ॥**

गडु अस्यास्तीति **गडुलः**—'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्। अत्रैव वा पाठात् बाहुलकात् वा उप्रत्ययः ॥

**गडुली**—गौरादित्वात् ङीष् ॥

कण्ठे गडुरस्य **गडुकण्ठः** । 'सप्तन्याः पूर्वनिपाते गड्वादिभ्यः परवचनम्' इत्युक्तत्वात् सप्तम्यन्तस्य पूर्वप्रयोगो न भवति। अत्र वृत्तिः—'कथं वहेगडुः इति, प्राप्तस्य चाबाधा व्याख्येया' इति। 'अमूर्धमस्तकात्' इत्यलुक् ॥

गण्डतीति वदनैकदेशे गतम् ॥

## हेड वेष्टने ॥ ७६७ ॥

हेडृ अनादरे इत्यात्मनेपदिषु गतः । तस्य परस्मैपदिषु अनुवादसामर्थ्यात्परस्मैपदमपि भवति । अन्यथा घटादयः षितः इत्यस्यानन्तरं परस्मैपदिभ्योऽवरादिभ्यः पूर्वमेवात्मनेपदिनमेवानुवदेत् । इहायमनृदित्पठ्यते पूर्वस्तु ऋदिदिति धात्वन्तरत्वं नाशङ्क्यम् । यत ऋदितोऽनुवादेऽपि मित्त्वाङ्ह्रस्वत्वेन भाव्यमित्युत्सृष्टानुबन्धोऽयमनुवादः ॥

**हेडति । जिहेड । हेडिता ॥**

**जिहेडिषति ॥**

**हिडयति । अजीहिडत् ।** अत्र मितां ह्रस्वो भवन् 'एच इग्घ्रस्वादेशे' इति नियमात् आन्तरतम्यादिकार एव ह्रस्वो भवति । अत एव ह्रस्वविधानसामर्थ्यात्पुनर्गुणो न भवति ॥

**अहिडि, अहीडि** इत्यादि । 'चिंण्णमुलोः' इति दीर्घविकल्पे 'असिद्धवदत्र' इति ह्रस्वस्य नासिद्धत्वं, व्याश्रयत्वात् । णिजाश्रयो ह्रस्वः, चिण्णमुलपरण्याश्रयो दीर्घविकल्प । एवमाद्यर्थं हि तत्र दीर्घग्रहणम् । अन्यथा ह्रस्व एव विकल्प्येत ॥

अनादरार्थस्य—हेडयति ॥

## वट भट परिभाषणे ॥ ७६८ ॥

वट वेष्टने । भट भृतौ, इति पठितयो परिभाषणे मित्त्वार्थोऽयमनुवादः ॥

**वटयति । भटयति । अवटि, अवाटि । अभटि, अभाटि ॥**

अत्र पुरुषकारे बटेत्याद्यो बहुषु कोशेषु दृश्यत इति ॥

## नट नृत्तौ ॥ ७६९ ॥

पूर्वत्र 'नृत्तिर्नाट्यम्' इत्युक्तत्वात् इह नृत्तिशब्देन ततोऽन्योर्थो नृत्तनृत्त्यलक्षणः चलनादिलक्षणश्चोच्यते । अत्र मैत्रेयः—गतावित्येके । नतावित्यन्ये इति । क्षीरस्वामी च "नटनृत्तौ' इति पठित्वा नटयति शाखामित्युदाहृत्य नृत्तौ नाटयतीति ॥

**नटयति । अनटि, अनाटि** इत्यादि । अयं णोपदेश इति प्रागेवोक्तम् ॥

## ष्टक प्रतिघाते ॥ ७७० ॥

**स्तकति । तस्ताक । स्तकिता । स्तकिष्यति ॥**

**तिस्तकिषति । तास्तक्यते । तास्तक्ति ॥**

स्तकयति । अतिष्टकत् ॥

अस्तकि, अस्ताकि । इत्यादि ॥

अत्र दन्त्यादिरपि क्वचित्पठ्यते । तत् षोपदेशलक्षणविरुद्धम् ॥

## चक तृप्तौ ॥ ७७१ ॥

चकति । चचाक । चकिता । अचकीत्, अचाकीत् ॥

चकयति । अचीचकत् ॥

अचाकि, अचकि इत्यादि ॥

अस्यात्मनेपदिषु पठितस्य परस्मैपदिष्वनुवादात्परस्मैपदं हेडतिवत् ॥

अत्र स्वामी—अथ तृप्तिप्रतिघातयोः, पूर्वपठितस्तु तृप्तिमात्रे इत्यर्थपाठ व्यत्यास्थत । शाकटायनस्तु—उभयत्रोभयार्थत्वमाह । धनपालस्तु—पुन यथास्वामि पठित्वा 'पूर्व पठितस्यायमनुवादः' इति आत्मनेपदमुदाजहार । तन्मते परस्मैपदिष्वनुवादो व्यर्थः स्यात् ॥

## कखे हसने ॥ ७७२ ॥

कखति । चकाख । चकखतुः । कखिता । अकखीत्—एदित्त्वात्सिचि वृद्ध्यभावः ॥

चिकखिषति । चाकख्यते । चाकक्ति ॥

कखयति । अचीकखत् । अकखि, अकाखि । इत्यादि ॥

## रगे शङ्कायाम् ॥ ७७३ ॥
क

## लगे सङ्गे ॥ ७७४ ॥

रगति । लगति । इत्यादि कखिवत् ॥

लग्नः—'क्षुब्धस्वान्त' इत्यनिट्त्वनत्वे निष्ठायां निपात्येते । अन्यत्र लगितम् ॥

रङ्गतिलङ्गती गत्यर्थेषु गतौ ॥

## ह्रगे ह्लगे षगे ष्टगे संवरणे ॥७७५-७७८॥

क्वचित्कोशे 'स्यगे' इति दन्त्यादिरपि पठ्यते । तत् पोपदेशलक्षणविरुद्धम् ॥

ह्रगति । जह्राग । ह्रगिता । अह्रगीत् ॥

जिह्रगिषति । जाह्रग्यते । जाह्रक्ति ॥

ह्रगयति । अजिह्रगत् ॥

अह्रागि, अह्रगि ॥

एवं ह्लगतीत्यादि ॥

सगति । ससाग । सेगतुः । सेगुः । आदेशादित्वमनैमित्तिकम्, न तु लिण्निमित्तमित्येत्वाभ्यासलोपौ ॥

असगीत् ॥

सिसगिषति । सासग्यते । सासक्ति ॥

सगयति । असीषगत् । असगि, असागि । इति ॥

स्थगति । तस्थाग । तस्थगतुः—अभ्यासे खयश्शेषः । स्थगिता । अस्थागीत् ॥

तिस्थगिषति । तास्थग्यते । तास्थक्ति ॥

स्थगयति । अतिस्थगत् । अस्थागि, अस्थागि । इत्यादि ॥

## कगे नोच्यते ॥ ७७९ ॥

अत्र मैत्रेयः—अस्यायमर्थ इति नोच्यते । क्रियासामान्यमर्थ इति यावत् । इह शास्त्रे कगे नोच्यते इत्येके इति । स्वामी तु—अस्यायमर्थ इति नोच्यते अनेकार्थत्वात् । नोच्यत इति योर्थ तत्रार्थे कगतिरित्येके इत्युक्त्वा क्रियासामान्यमस्यार्थ इत्याह अन्ते ॥

कगति इत्यादि ॥

कखादयोष्टावेदितः ॥

## अक अग कुटिलायां गतौ॥७८०-७८१॥

अकति । आक । अकिता । मा भवानकीत् ॥

अचिकिषति ॥

अकयति । मा भवानचकत् । मा भवानकि, मा भवानाकि । इत्यादि ॥

अङ्कत इति लक्षणार्थे गतः ॥

अगति इत्यादि अकिवत् ॥

अङ्गति इति गतौ गतम् ॥

## कण रण गतौ ॥ ७८२-७८३ ॥

कणयति । अचीकणत् । अकणि इत्यादि ॥

एव रणयति इत्यादि । 'कण्यादीना वा' इत्युपधाह्रस्वविकल्पो न शङ्क्यः, ह्रस्वभाविन्या उपधाया एवाभावात् ।

कणति रणति इति शब्दार्थे गतौ । तयोः काणयति राणयति ॥

## चण शण श्रण दाने ॥ ७८४-७८६ ॥

चणिश्रण्योश्चौरादिकयोः हेतुमण्णिचोऽभावात् स्वार्थे तु णौ 'नान्ये मितोऽहेतौ' इति मित्त्वनिषेधान्न तयोरिमावनुवादाविति धात्वन्तरभूतावेतौ ॥

**चणति । चचाण । चेणतुः । चणिता । अचणीत्, अचाणीत् ॥**

**चिचणिषति । चञ्चण्यते । चञ्चण्टि । चञ्चाण्टः ॥**

**चणयति । अचीचणत् । अचणि, अचाणि । इत्यादि ॥**

एवं **शणति । श्रणति ।** इत्यादि ॥

शण गतावित्यन्ये । अन्यौ तालव्यादी ॥

## श्नथ *क्नथ क्रथ क्लथ हिंसार्थाः- ॥ ७८७-७९० ॥

**श्नथति । शश्नाथ । श्नथिता ॥**

**शिश्नथिषति । शाश्नथ्यते । शाश्नत्ति ॥**

**श्नथयति । अशिश्नथत् । अश्नथि, अश्नाथि ॥**

एवं **क्रथति । क्रथति । क्लथति ।** इत्यादि ॥

**क्रथेस्तु**—'जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषा हिंसायाम्' इत्यत्र क्राथेति निर्देशान्मित्त्वेऽपि वृद्धिरिति वृत्तितद्व्याख्यानेषु । तेन **क्राथयति**

*श्रय.

**चोरस्य** इति भवति । मित्त्वफलं तु **अक्राथि, अक्राथि** इत्यादौ 'चिण्णमुलो.' इति दीर्घविकल्प· । तथा च 'जासिनि' इत्यत्र हरदत्त·—घटादिपाठस्तु घटादयष्पित इत्यातिदेशिकोऽङ्चथा स्यात् । 'चिण्णमुलो.' इति दीर्घविकल्पश्च यथा स्यादिति ॥

ननु 'घटादय षितः' इति मध्ये सूत्रणात्पूर्वेषामेव षित्त्वं न परेषामिति कथ षित्त्वमुक्तम् । सत्यम्—अत एव किलापरितुष्यन् स्वयमेव दीर्घविकल्पं प्रयोजनमाह । एवं च दीर्घविकल्पश्चेति च शब्दो वार्थो व्याख्येय । अत्र न्यासे 'क्राथीति विकृत निर्देशस्य प्रयोजन मित्त्वेऽपि वृद्धि· । तत्रैव षष्ठी' इत्युक्त्वा 'चङन्ते वृद्ध्यभावात् चोरमचिक्रथत्' इत्युक्तम् । तत्र शेषाधिकारात् समासनिवृत्तये पुन शेषषष्ठीविधानमिति शेषविवक्षाया षष्ठी दुर्वारा । कर्मविवक्षाया तु द्वितीया स्वतस्सिद्धेति नेद प्रयोजनम् ॥

क्रथ हिंसायाम्, इति युजादौ स्वरितेत् इति देव· । अयमात्मनेपदीति शाकटायन । जासिनीत्यत्र क्राथीति निपातनाद्वृद्धिरिति वदता वृत्तिकारादीना नाय धातुरेवास्ति ॥

## चन च ॥ ७९१ ॥

हिंसायाम्, इति शेषः । **चनति** ॥

**चनयति । अचनि, अचानि** ॥ इत्यादि ॥

## वनु च नोच्यते ॥ ७९२ ॥

न केवलं कगे यावता वनु च नोच्यत इति स्वामी। नोच्यत इत्येतत् कगतौ व्याख्यातम् ॥

उदित्करणसामर्थ्यादयमन्यो धातुः, न तानादिकानुवादः। क्रियासामान्ये मित्त्वमात्रार्थे ह्यनुवादे तानादिक एवानुवाद्यः, न पुनश्शब्दार्थः सम्भक्त्यर्थो वा। गतौ वनतिरिति कोऽयं नियमः। तेन क्रियासामान्येपि **वनति** इत्यादि भवति। तथोदित्त्वात्—**वान्त्वा, वनित्वा। वान्तम्।** इति च ॥

इदं च मित्त्वं 'ग्लास्नावनुवमा च' इत्यनुपसृष्टानां विकल्पस्य वक्ष्यमाणत्वात्सोपसर्गार्थम् ॥

**प्रवनयति। प्रावीवनत् ॥**

**प्रावनि, प्रावानि।** इत्यादि ॥

## ज्वल दीप्तौ ॥ ७१३ ॥

ज्वल दीप्तौ इति पठिष्यते। तस्य मित्त्वार्थोऽयमनुवादः। इदमपि मित्त्वं सोपसर्गविषयम्। 'ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद्वा' इत्यनुपसृष्टाना विकल्पस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥

**प्रज्वलयति। प्राज्वालि, प्राज्वालि।** इत्यादि ॥

## ह्वल ह्मल चलने ॥ ७१४-७१५ ॥

इमौ च सोपसर्गावेव नित्यं मित्त्वं प्रयोजयतः, ज्वलतिवदनुपसृष्टयोर्विकल्पस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥

**ह्वलति। जह्वाल। ह्वलिता ॥**

**अह्वालीत्**—'अतो ल्रान्तस्य' इति नित्यं वृद्धिः ॥

**जिह्वलिषति । जाह्वल्यते । जाह्वल्ति ॥**

**विह्वलयति । व्यह्वलि, व्यह्वालि । इत्यादि ॥**

**एवं ह्मलति । इत्यादि ॥**

**किंव्ह्वलयति** इत्यत्र 'यवलपरे यवला वा' इति यवलपरे हकारे परे मकारस्य पक्षे यवलविधानात् सानुनासिको वकार उदाहार्य । किं ह्मलयति इत्यत्र 'हे मपरे वा' इति मकारपरे हकारे परे मकारस्य पक्षे मकारविधानात् मकारोप्युदाहार्यः ॥

## स्मृ आध्याने ॥ ७९६ ॥

'स्मृ चिन्तायम्' इत्यस्याद्ध्याने मित्त्वार्थोयमनुवादः । आद्ध्यानमुत्कण्ठपूर्वकं स्मरणम् । **मातु स्मरति । मातुः स्मरयति । अस्मरि, अस्मारि ॥**

अनाध्याने—**स्मारयति** । 'अधीगर्थ' इति कर्मणि षष्ठी । अधीगर्थाः स्मरणार्था इत्युक्तम् ॥

## दृ भये ॥ ७९७ ॥

अत्र देवधनपालपूर्णचन्द्राः अमुं धात्वन्तरमाहुः । मैत्रेयस्तु—दृ विदारणे इति क्र्यादिः तस्येह मित्त्वार्थः पाठः । दृणन्तं प्रयुङ्क्ते **दरयति** । भयादन्यत्र **दारयति** । धात्वन्तराभ्युपगमे **दरति** इत्येके इति । क्षीरस्वामी पुनः **दरति** इत्युदाहृत्य क्र्यादिकस्येव मित्त्वार्थमिहानुवाद इत्येक इत्याह । अत्र आभरणकारः—अमुं ह्रस्वान्तं धात्वन्तरं पठित्वा 'अत्स्मृदृत्वर' इत्यत्रापि ह्रस्वान्तं पठन् णौ चङि **अददरत्** इत्युदाजहार । तदसत् । तत्र दीर्घान्तपाठस्याविगीतत्वात्, दृ

विदारण इति व्याख्यातृभिरुपादानाच्च । किं च—ह्रस्वान्ताभ्युपगमे 'शृदृप्रां ह्रस्वो वा' इति दृणातेः विकल्पेन ह्रस्वविधानमनर्थकं स्यात् । यतः ह्रस्वान्तादस्मात् लिटि विदद्रतुः इति यणादेशे सिद्ध्यति । विददरतुः इति च दृणातेः 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणे । न च विदारणे रूपद्वयार्थं ह्रस्वविकल्पनं स्यादिति वाच्यम् । धातूनामनेकार्थत्वेन अस्यापि विदारणे वृत्तिसम्भवात् । तथा च—शृणातेः विशशरतु इति भविष्यति । विशश्रतुः इति श्रा पाक इत्यस्य । न च अर्थभेदः, धातूनामनेकार्थत्वाभ्युपगमादिति शृग्रहणं प्रत्याख्याय क्रस्वर्थमुक्तम् ॥

## नॄ नये ॥ ७९८ ॥

**नरयति । अनरि, अनारि** । इत्यादि । अन्यत्र **नारयति** ॥

मैत्रेयस्तु—नामुमिज्छति । यदाह—नॄनये इत्यप्येके इति ॥

## श्रा पाके ॥ ७९९ ॥

श्रे पाक इत्यग्रे कृतात्वस्य तस्य, श्रा इत्यादादिकस्य च सामान्येनेदमनुकरणम् । 'लुग्विकरणालुग्विकरणयोः' इति श्रायते 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्य' इति श्रातेः । अत्र च सर्वत्र पाको विक्लित्ति इति कैय्यटकारादय ॥

**श्रपयति । अश्रपि अश्रापि** । इत्यादि । विक्लेदयतीत्यर्थः ॥

पाकादन्यत्र—**श्रापयति** । स्वेदयतीत्यर्थः । धातूनामनेकार्थत्वात् स्वेदे वृत्तिः ॥

# मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा ॥ ८०० ॥

एषु जानातिः मिद्भवति । पशुं संज्ञपयति मारयतीत्यर्थः । विष्णु विज्ञपयति सन्तोषयतीत्यर्थ· । प्रज्ञपयति रूपं दर्शयतीत्यर्थः । कौमाराणा मतेन अत्र सोपसर्गा प्रदर्शिताः । अन्यत्र—ज्ञापयति बोधयतीत्यर्थः । नेह निशामनं ज्ञानमात्रं, किन्तु चक्षुस्साधनं ज्ञानम् । 'शम लक्ष आलोचने' इत्यस्य हीदं रूपम् । आलोचनं च चक्षुर्विज्ञाने प्रसिद्धम् । उक्तं चैवं वृत्तिकारादिभि·—'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' 'पश्यार्थैश्चानालोचने' इत्यादौ दैवमैत्रेयपुरुषकारादिष्वपि निशामनं चक्षुर्विज्ञानम्' इति स्थितम् ॥

अत एव हि 'श्लाघह्नुङ्स्था' इत्यत्र न्यासे 'ज्ञीप्स्यमान इति मारणादिषु पठितस्य घटादेः हेतुमण्णौ' इत्युक्त्वा अथवेत्यपरितोषात् 'ज्ञपमिच्च इति चौरादिकस्य स्वार्थे णौ' इति प्रक्रियान्तरमुक्तम् । चौरादिकश्च ज्ञानज्ञापनयोः वर्तत इति तत्रैव वक्ष्यते । तेन ज्ञापने ज्ञपयति ज्ञापयतीति* रूपद्वयं भवतीति। तथा च देवः—जानातीति श्नि सिद्ध्येत् । ज्ञपयति इति तु पुन र्मारणादौ घटादौ णौ मित्त्वेऽपीदमेव ज्ञपमिदितिपदं ज्ञापने मारणादौ । तेनार्थात् ज्ञापनेर्थे ज्ञपयतिपदवत् ज्ञापयेत् इत्यपि स्यादिति । तथा मैत्रेयोपीह—'अन्यत्र ज्ञापयति स्वामिनं' इत्युदाहृत्य चुरादौ च 'ज्ञपमिच्च' इत्यत्र 'ज्ञपयति' इति मितमुदाहृत्य ज्ञापने मारणादिषु च अभिधानमस्येत्याह । अत्र चद्रः—मारणतोरणनिशामनेष्विति वर्धमानश्चैवं पठित्वा निशातनं तीक्ष्णक-

*मुद्रितकोशे—तेन ज्ञापने ज्ञापयति । यदवज्ञापयेत् इत्यपि स्यादिति । मैत्रेयोपि अन्यत्रज्ञापयतीति.

रणमिति चाभिधाय निशामन इति केचित् निशामनं दर्शनमित्याहुः । स्वामिशाकटायनौ न वर्धमानवदेव तत्रतत्र प्रज्ञपयति शरम् इत्युदाहरण तीक्ष्णीकरोतीत्यर्थ । अत्र मित्वं बोधिन्यासकारो न सहते । यदाह—प्राचीनास्तु निशातने नेच्छन्तीति । एवं काश्यपसम्मताकारादयोपीति । मैत्रेयाद्यङ्गीकृतो निशामन पाठ एव ज्यायान् ॥

यत्तूक्तम्—'श्लाघह्नुङ्' इत्यत्र 'ज्ञीप्स्यमानो ज्ञापयितुमिप्यमाणो बोधयितुमभिप्रेत' इति वृत्तिग्रन्थमुपादाय हरदत्तेन 'निशामनं ज्ञानमात्रं न चक्षुर्विज्ञानमेव, यदाह बोधयितुमभिप्रेत इति । कथं तर्हि प्रयुज्यते तज्ज्ञापयत्याचार्य विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेतीति । तस्मात् निशानेष्विति पाठः । शो तनूकरणे ल्युट् । 'ज्ञीप्स्यमानो ज्ञपयितुमिप्यमाणः' इति प्रयोगः 'ज्ञपमिच्च' इति चुरादिणिजन्तस्येति नात्र ज्ञापयतिप्रयोग उपोद्बलं निशानपाठाङ्गीकारस्य, यदस्माभिस्तत्सिद्धिरन्यथेत्यादौ साधिता । अपरे तु प्रतिपन्ना निशामनं ज्ञानमात्रम् । ज्ञापयति प्रयोगो ज्ञा नियोग इति चौरादिकस्य, धातूनामनेकार्थत्वादिति । अनेकार्थताऽङ्गीकारे ज्ञान इव मारणतोषणयोरपि ज्ञापयति इति स्यात् ॥

## कम्पने चलिः ॥ ८०१ ॥

चल कम्पने इति ज्वलादौ, तस्य मित्त्वार्थ एवानुवादः ॥

चलयति शाखाम् । कम्पयतीत्यर्थ । अन्यत्र शीलं चालयंति । अन्यथा करोतीत्यर्थः । हरतीत्यर्थ इति स्वामी । सूत्रं चालयति । क्षिपतीत्यर्थः इति सुधाकरः ॥

## छदिर् ऊर्जने ॥ ८०२ ॥

ऊर्जनं प्राणनं बलनं वा । ऊर्ज बलप्राणनयो· इति हि धातुः । छद अपवारणे इति यौजादिकस्य स्वार्थे णिजभावे मित्त्वार्थोयमनुवाद । धातूनामनेकार्थत्वात् ऊर्जने वृत्ति । छदन्तं प्रयुङ्क्ते छदयति । बलवन्तं प्राणवन्तं वा करोतीत्यर्थ· । अन्यत्र—छादयति—अपवारयन्तं प्रयुङ्क्ते इत्यर्थ । यदा च छादयति· स्वार्थे ण्यन्तस्तदा बलीभवति प्राणीभवति अपवारयतीवेत्यर्थ । अत्र बलप्राणनयोरपि 'नान्ये मितोऽहेतौ' इत्यमित्त्वम् ॥

अत्र स्वाम्यादय छदि संवरणे इति चौरादिकं छदेत्यनिदितं पठन्त तस्यायमूर्जने मित्त्वार्थोऽनुवाद इत्याहुः । तदयुक्तम्, तस्या-निदित्पाठेऽपि नित्यण्यन्तत्वात् कारितणिचोऽभावात् स्वार्थेऽपि णौ 'नान्ये मितोऽहेतौ' इति मित्त्वं निषिद्धमेव ॥

अत्र देवः—छदि धात्वन्तरं मन्यते । यदाह—

चौरादा*वपवारणे छदत इत्येकं द्वितीय छदे-
दन्यच्छादयतिच्छदेदिति पुनस्स्यादूर्जनेऽर्थे तु मित् ॥

इत्यादि । चौरादिकस्येव स्मरत्यादिवत् अनेकार्थत्वाङ्गीकरणात् उर्ज-नेऽपि छदतीति सिद्धे धात्वन्तराङ्गीकरण परस्मैपदमेव यथा स्यादिति तन्मतम् । अनुवादे हि तस्य स्वरितेत्त्वात् छदतीति-वत् छदन इत्यपि स्यात् । यद्यप्येतत्फलं भवति, अथाप्य-न्यत्र पठितानामिह पाठो मित्त्वमात्रफल इति घटतौ† व्यवस्था-पितत्वात् पृथग्धातुत्वं न सुलभम् । किं चेह—धातुनिर्देशार्थे-नेकारेण निर्देशात् अवश्यमनुवादत्वमेष्टव्यम् । यत्फलमुक्तम्—नित्यं परस्मैपदमेव यथा स्यादिति, तच्छाकटायनमते नैव प्रयोजनं, यतस्तस्य चौरादिकः परस्मैपद्येव ॥

---

*योवाणा. †घटादौ घटधातौ.

## जिह्वोन्मथने लडिः ॥ ८०३ ॥

लड विलासे इति पठितस्य मित्त्वार्थीयमनुवादः । उन्मथनं क्षोभणम् । अत्र मैत्रेयस्य जिह्वया उन्मथने इति मतम् । यदाह—**लडयति** जिह्वामिति । अयमेव पक्षो गुप्तस्यापि । पुरुषकारे तु—जिह्वाया उन्मथने, **लडयति** जिह्वया इत्युक्तम् । अपरे तु जिह्वोन्मथन इति समाहारद्वन्द्वं व्याचक्षते । जिह्वाशब्देन तद्विषयो व्यापार उच्यते । तत्र चोन्मथने चेति तत्रोन्मथने **लडयति** शत्रुम् दधि चेति भवति । धनपालस्त्वेवं पठित्वा आर्याणा जिह्वोन्थनयोरिति पाठ इति । स्वामी तु जिह्वोन्माथनयोर्लेडिरिति । मन्थनमेव माथनम् । अन्यत्र **लाडयति** पुत्रम् ॥

चल्यादीनां त्रयाणामिकारो धातुनिर्देशार्थः ॥

## मदी हर्षग्लेपनयोः ॥ ८०४ ॥

दैवादिकस्य मित्त्वार्थोऽयमनुवादः । **मदयति** । **हर्षयति ग्लपयति** वेत्यर्थः । ग्लेपनं दैन्यम् । अन्यत्र **मादयति** । चित्तविकारमुत्पादयतीत्यर्थः ॥

**निमादयति** अक्षरव्यञ्जनानि स्पष्टमुच्चारयतीत्यर्थः । तथा च प्रातिशाख्यम्—'उपलब्धिर्निमद'* इति । अक्षरव्यञ्जनानामिति शेषः ॥

## ध्वन शब्दे ॥ ८०५ ॥

भाव्ययं†मित्त्वार्थमनूद्यते । **ध्वनयति घण्टाम्** । अन्यत्र—

---

*तै प्रा. २३-८. †इहायं

ध्वानयति अस्पष्टाक्षरमुच्चारयतीत्यर्थः । तथा च प्रातिशाख्यम्—'अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वान·'* इति ॥

अत्र भोजः—'दलिवलिस्खलिरणिध्वनित्रपि†क्षपयश्च' इति पपाठ । तत्र ध्वनिर्वर्धमाना‡नुसारेण पठितः उदाहृतश्च । तथा रणिरपि । दल विदारणे । वल संवरणे । स्खल सञ्चलने । त्रपूष् लज्जायाम् इति गता· । तेषा णौ **दलयति वलयति स्खलयति त्रपयतीति** भवति । क्षपीति—क्षै क्षये इति वक्ष्यमाणस्य कृतात्वस्य पुकि निर्देश· । तथा च सुधाकरः—क्षै क्षये णिचि पुकि मित्त्वे **क्षपयति** इति ॥

## स्वन अवतंसने ॥ ८०६ ॥

**स्वनयति** । अन्यत्र **स्वानयति** । अयं शब्दार्थः पठिष्यते । अत्र मैत्रेयः—ध्वन शब्दे स्वन अवतंसने इत्येक इति ॥

## घटादयो मितः ॥

मित्संज्ञका इत्यर्थः ॥

## जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च ॥

चशब्दात् मित इत्यपेक्ष्यते । जनी प्रादुर्भावे । जृष् वयोहानौ । क्नसु ह्वरणदीप्तयो· । दिवादय । रञ्ज रागे । भूवादिश्च । अम्शब्दो अन्ते येषा ते अमन्ता यथासम्भवं सर्वेषु विकरणेषु । ते च मित· । **जनयति** । **जरयति** । जृष् इति षिन्निर्देशात् जृणातेरमित्त्वात् **जारयतीति** बोधिन्यासादौ । मैत्रेयो जृ-

*ऋ प्रा. २३-७. †सु. ध्वनिस्वनित्रपि. ‡वर्धमानाद्य.

णातेः स्थाने झृ इत्येक इति चतुर्थादिं च वक्ष्यति । **क्रसयति** । **रजयति मृगान्** रमयतीत्यर्थः । 'रञ्जेर्णौ मृगरमण उपसङ्ख्यानम्' इति नलोपः । मृगादन्यत्र नलोपो न भवति—**रञ्जयति पक्षिण** । तथा रमणादन्यत्र न नलोपः **रञ्जयति मृगान् तृणादिदानेन** । नलोपाभावे मित्त्वफलं—**अरञ्जि, अराञ्जि** इत्यादौ चिण्णमुलोरिति दीर्घविकल्पः । अमन्ताः खल्वपि **क्रमयति** । **गमयति** । इत्यादि ॥

अत्र केचित्—'जनीजृष्णसु' इति अककारं सूत्रं पठन्तः षकारं चोत्तरधातोरादिं व्याचक्षाणा दैवादिकस्य निरसनार्थस्य स्नस्यतेः **स्नसयति** इति मित्त्वमाहुः । तथा च दिवादौ आत्रेयमैत्रेयौ—ष्णसु निरसने इत्येके मिदिति ॥

## ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद्वा ॥
व म

ज्वलादीनां वा मित्त्वं भवति । उपसर्गात्परेषां नायं विकल्प इत्यर्थः । क्वचित्तु पठ्यते—ज्वलह्वलह्मलनमोऽनुपसर्गाद्वा इति । तत्र न क्लेशः । मित इति सम्बन्धः । ज्वलादीनां पूर्वत्र पाठात्प्राप्तिः । नमेस्त्वमन्तत्वात् । **ज्वलयति, ज्वालयति** । **ह्वलयति, ह्वालयति** । **ह्मलयति, ह्मालयति** । **नमयति, नामयति** । उपसृष्टे तु नित्यं मित्त्वे—**प्रज्वलयति** इत्यादि । **उन्नामयतीति** प्रयोगो घञन्तात् तत्करोतीति णौ । एवमन्येषामपीदृशां निर्वाहः । 'मितां ह्रस्वः' इत्यत्र वृत्तौ—'वा चित्तविरागे' इत्यतो वेत्यनुवृत्तेः व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् **सङ्क्रामयतीत्यादिसिद्धिरिति** । यत्तु—सुधाकरोक्तं घञन्तात् तत्करोतीति णिचि उत्क्रामयतीति । तदयुक्तम्, **'नोदात्तोपदेशस्य'** इति वृद्धिनिषेधात् **उत्क्रामशब्दस्यैवाभावात्** ॥

## ग्लास्नावनुवमां च ॥

'अनुपसर्गाद्वा' इति वर्तते । पूर्ववत् व्याख्या । अत्रापि पूर्ववत् क्वचित् 'ग्लास्नावनुवमश्च' इति प्रथमान्तं पठ्यते । ग्लै हर्षक्षये । अत्र स्नेति 'ष्णै शौचवेष्टनयोः' इति वक्ष्यमाणस्य 'ष्णा शौचे' इत्यादादिकस्य च ग्रहणं 'श्रा पाके' इत्यत्रोक्त-न्यायेन । 'वनु च नोच्यते' इति इह पठितो वनतिः 'अनन्तरस्य विधिर्वा' इति न्यायादनूद्यते; न तु तानादिको वनोतिः । टु वमु उद्गिरणे । अमन्तश्चायम् । वन्वमोः प्राप्ते ग्लास्नो अप्राप्ते इत्युभयत्र विभाषेयम् । **ग्लपयति, ग्लापयति । स्नपयति, स्नापयति । वनयति, वानयति । वमयति, वामयति ॥**

ग्लास्नोरुपसृष्टयोः मित्त्वाभावात्—**प्रग्लापयति । प्रस्नापयती-त्येव** । वनुवमोस्तु—नियमितत्वात् **प्रवनयति । प्रवमयतीत्येव ॥**

## न कम्यमिचमाम् ॥

कमु कान्तौ, अम गत्यादौ, चमु अदने । एषाममन्तत्वात् मित्त्वे प्राप्ते निषिध्यते ॥

**कामयते । आमयति । आचामयति ॥**

## शमोऽदर्शने ॥ ८०७ ॥

शमु उपशमने दिवादिः । अयं च दर्शने न मिदमन्तोऽपि । **निशामयति रूपम् ॥**

अत्युत्कृष्ट*मिदं तीर्थं भरद्वाज निशामय । इति ॥

---

*अकर्दम.

शम लक्ष आलोचने इति चौरादिकः । अस्मात् कारिते णावर्थो न सङ्गच्छते । दर्शनादन्यत्र **निशमयति** वचः । अत्र स्वामी—नेत्यनपेक्ष्य अदर्शन इति वदन् दर्शनादन्यत्र मिदिति व्याचष्ट । एवमन्यत्र न फलभेदः ॥

## यमोऽपरिवेषणे ॥ ८०८ ॥

यम उपरमे इत्यग्रे । अयं परिवेषणादन्यत्र भोजनार्था* अन्यत्रामन्तोऽपि न मित् । **आयामयति** । द्राघयति व्यापारयति वेत्यर्थः । परिवेषणे तु—**यमयति** ब्राह्मणान् । अत्र स्वाम्यादयो नेत्यनपेक्ष्य परिवेषणादन्यत्र मित्त्वमिति व्याचक्षते । तद्वृत्तिविरुद्धम् । तथा हि—'न पादमि' इत्यत्र आयामयति इत्युदाहृत्य यमोपरिवेषणे इति मित्संज्ञा प्रतिषिध्यते इति । तत्र न्यासे च—तत्र हि 'न कम्यमिचमाम्' इत्यतो नेति प्रतिषेधोनुवर्तत इति । तथा मैत्रेयादयोऽपि नेत्यनुवृत्त्यैव व्याचक्षते । यमयतीति प्रयोगोऽबन्तात्† 'तत्करोति' इति णौ द्रष्टव्यः ॥

## स्खदिरवपरिभ्यां च ॥ ८०९ ॥

न मिदिति शेषः । **अवस्खादयति** । **परिस्खादयति** 'अपावपरिभ्यः' इति बोधिन्यासे । अत्रापि स्वाम्यादयो नेत्यनपेक्ष्य स्खदे· पूर्वं पाठात् सामान्येन प्राप्तं मित्त्वमुपसृष्टाद्यादि भवति अवाद्युपसृष्टादेवेति व्याचक्षाणाः **प्रस्खादयतीत्यादौ** मित्त्वं नेच्छन्ति । इदं वृत्तिकारादीनामनभिमतम् । यतस्तैः सर्वत्र नेत्यपेक्ष्यते । एव हि निषेधानन्तरं पाठ उपपद्यते । अन्यथा स्खद स्खदने इत्य-

*भोजनार्थव्याघामात्. †नियमयतीति प्रयोगः 'यमस्समुपनिविषु च' इत्यत्र.

स्यानन्तरमेव अवपरिभ्यां चेति पठेत् । एवं हि द्विः स्वदि-ग्रहणं न कर्तव्यं भवति ॥

## फण गतौ ॥ ८१० ॥

नेति निवृत्तम्, असम्भवादिति मैत्रेयः । निषेधात्पूर्वमपाठः फणादिकार्यानुरोधात् इति च ॥

**फणति** । **पफाण** । **पफणतुः, फेणतुः** । **पफणुः, फेणुः** । **पफणिथ, फेणिथ** । **पफण, फेण** । **पफाण, पफण** । **पफणिव, फेणिव** । **पफणिम, फेणिम**—'फणां च सप्तानाम्' इति किति लिटि थलि च सेटि एत्वाभ्यासलोपविकल्पः ।

**फणिता** । इत्यादि । **अफणीत्**—'अतो हलादेः' इति वृद्धिविकल्पः ॥

**पिफणिषति** । **पम्फण्यते**—अनुनासिकान्तत्वान्नुक् । **पम्फणीति, पम्फण्टि** । **पम्फाण्टः**—'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' इति दीर्घः । **पम्फाण्हि** इत्यत्र हेर्झलः परत्वाभावात् धिभावो न भवति ॥

**फणयति** । **अपीफणत्** । अन्यत्र **फाणयति** तक्रं निस्रे हयतीत्यर्थ इति स्वामिसम्मताकारौ ॥

**फाण्टम्**—'क्षुब्धस्वान्त' इत्यादिनाऽनायासेऽनिट्त्वं निपात्यते । अत्रानायासशब्देन अल्पप्रयाससाध्यः कषायविशेष उच्यते । तथा हि—औषधस्य पञ्चकल्पना रसः, कल्कः, शृतम्, शीतः, क्वाथः । तो नाम क्षुण्णमौषधमुदके प्रक्षिप्य रात्रावधिवासितं यदुदकं प्रातः

पीयते सः। तदेवोष्णोदके प्रक्षिप्य सद्योभिषुत्य पूत्वा यत् पीयते स फाण्ट इति तद्विदः॥

## वृत्॥

समाप्तो घटादिः वृत्त इत्यर्थः। अस्मात्पूर्वं वृदित्येक इति मैत्रेयः॥

## ज्वरादय उदात्ता उदात्तेतः॥

## राजृ दीप्तौ॥ ८११॥

## उदात्तः स्वरितेत्॥

**राजति**। **रराज**। रेजतुः, रराजतुः। **रेजिथ, रराजिथ**। **राजिता**। इत्यादि पूर्ववत्। तङि—**राजते**। **रराजे**। इत्यादि॥

**रिराजिषति**। **रिराजिषते**॥ **राराज्यते**। **राराष्टि**। व्रश्चादिषत्वं झलि पदान्ते च। **राजयति**। **अरराजत्**। 'नाग्लोपि' इति ऋदित्त्वादुपधाह्रस्वनिषेधः। सम्यग्राजत इति **सम्राट्**—'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप्। 'मो राजि समः क्वौ' इति समो मकारस्य मकारः क्विबन्ते अस्मिन्परे मोऽनुस्वारापवादः। सम्राजोऽपत्यं **साम्राज्यः**—'सम्राजः क्षत्रिये' इति कुर्वादिपाठात् क्षत्रियवचनात् अस्मात् अपत्ये ण्यः। अक्षत्रियादणि **साम्राजः**॥

राजत इति **राट्**—'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप्॥

**राष्ट्रम्**—'ष्ट्रन्'। 'तितुत्र' इति इण्निषेधः। षित्त्वात् स्त्रियां **राष्ट्री**। स्वामिनीत्यर्थः॥

**राष्ट्रियः**—'राष्ट्रावारपाराद्घखौ' इति भावादौ शैषिकश्छापवादो घः ॥

**राजा**—'कनिन्युवृषि' इत्यादिना कनिन् ॥

दन्तानां राजा **राजदन्तः**—'राजदन्तादिषु परम्' इति षष्ठ्यन्तस्य परप्रयोगः ॥

**राजन्यः** क्षत्रियः । 'राजश्वशुराद्यत्' इति अपत्येऽर्थे यति व्युत्पत्तिः । जातिवचनस्त्वयम् । तथा च तत्र वार्तिकम्—'राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम्' इति । जातिश्चेह क्षत्रियजातिरुच्यते । 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावात् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपाभावः । क्षत्रियजातेरन्यत्राणि—**राजनः**—'अन्' इति प्रकृतिभावः ॥ राज्ञां समूहो **राजकम्**—'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । 'गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराज' इति वुञ् । एवं **राजन्यकम्**—'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' इति यकारस्य अनाति तद्धिते भसंज्ञानिमित्ते विधीयमानो लोपः 'प्रकृत्या अके राजन्यमनुष्ययुवानः' इति प्रकृतिभावान्न भवति । यद्वा—अयं यकारो 'राज्ञोपत्ये जातिग्रहणम्' इत्युक्तत्वान्नापत्यः* ॥

राज्ञ इदं **राजकीयम्** । 'राज्ञः कच' इति छप्रत्ययः शैषिकः, कश्चान्तादेशः ॥

राज्ञः कर्म, भावो वा **राज्यम्**—पत्यन्तपुरोहितादिषु 'राजाऽसे' इति पाठात् असमासोऽयम् । यकारस्य भावकर्मविषयत्वात् प्रकृतिभावात् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । समासे तु ष्यञ्—**आधिराज्यम्** । ब्राह्मणादिषु राजन्शब्दः पठ्यते ।

*नापत्ये

स हि तदन्तात् प्यञर्थः, केवलस्य यको विधानात् । इदमेव 'राजाऽसे' इत्येतद्वचनं ज्ञापकमत्र तदन्तत्वे ॥

अत्रैके ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात् राजन्शब्दान्तात् प्यञि सिद्धे तत्र राजन्शब्दस्य पाठसामर्थ्यात् केवलात् प्यञपि भवतीत्याहुः । तथा चावेष्टचधिकरणे शाबरभाष्यं—राज्यं तस्य कर्मणि प्यञिति ॥

अधिको राजा—**अधिराजः**—'कुगतिप्रादयः' इति तत्पुरुषः । 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इति राजाद्यन्तात् तत्पुरुषात् टचि टिलोपः । अत्र 'लघ्वक्षरं पूर्वं निपतति' इति 'द्वन्द्वे धि' इति च लघ्वक्षरत्वात् ध्यन्तत्वात् सखिशब्दस्य पूर्वनिपाते कर्तव्ये राजन्शब्दं पूर्वं निपात्य सवर्णदीर्घेण निर्देशात् यस्य राजन्शब्दस्य सवर्णदीर्घप्रसङ्गः तस्यैव टजिति ज्ञापनात् लिङ्गविशिष्टपरिभाषया **अधिराज्ञी** इत्यादौ टज्न भवति । अयं समासान्तसमासार्थादुत्तरपदादकृत एव समासे भवतीत्युक्तम् । तेन **पञ्चराजी**त्यादौ अकारान्तोत्तरपदसमाहारद्विगुत्वेन स्त्रियां ङीप् भवति ॥

शोभनो राजा **सुराजा** । **अतिराजा** इत्यत्र 'न पूजनात्' इति समासान्तनिषेधः । तत्र 'स्वती पूजायाम्' इति परिगणितम् ॥

**प्रतिराजा**—इत्यत्र तु 'प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे' इति प्रतेः परेषामंश्वादीनां आद्युदात्तविधौ प्रतिराजा इति पाठात् समासान्ताभावः ॥

**किराजा** । **अराजा** इत्यत्र 'किमः क्षेपे' 'नञस्तत्पुरुषात्' इति समासान्ताभावः ॥

महाराजो देवता अस्य **माहाराजिकः**—'महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ्' इति प्रथमान्ताद्देवतोपाधिकात् अस्येत्यर्थे ठञ् ॥

महाराजो भक्तिः भजनीयोऽस्य **माहाराजिक**—'महाराजाट्ठञ्' इति प्रथमान्तात् भक्त्युपाधिकात् अस्येत्यर्थे ठञ् ॥

शोभनो राजा यस्यास्ति स **राजन्वान्**—'राजन्वान् सौराज्ये' इति मतुपि नलोपाभावो निपात्यते ॥

## टु भ्राजृ टु भ्राशृ टु भ्लाशृ दीप्तौ— ॥ ८१२-८१४ ॥

## उदात्ता अनुदात्तेतः ॥

अत्र स्वामी—आद्यावधिकृत्य टुरुभयस्थगित्येके इत्याह। त्रयोऽपि द्वित इति मैत्रेयः। वृत्तिकारोप्यत्रैवानुकूलः। यदाह 'वाभ्राश' इत्यत्र टु भ्राशृ टु भ्लाशृ इति। तथा 'फणां च सप्तानाम्' इत्यत्र न्यासपदमञ्जर्योः त्रयोऽपि द्वितः पठ्यन्ते। तस्मादयमेव पाठो बहूनां सम्मतः। भ्राजतेः पठितस्यापीह पाठः फणादित्वेन किति लिटि एत्वाभ्यासलोपविकल्पार्थः। द्वित्वं तु न फलम्, तत्रापि टुशब्दस्यासङ्कुं शक्यत्वात्। अनेनैव सिद्धे तस्य पाठो व्रश्चादिषत्वनिवृत्त्यर्थ इति तत्रैवोक्तम् ॥

**भ्राजते। बभ्राजे। भ्रेजे। भ्राजिता।** इत्यादि ॥

**बाभ्राष्टि। अबाभ्राट्।** इत्यादौ व्रश्चादिषत्वम् ॥

**भ्राजथुः**—'द्वितोऽथुच्' ॥

न भ्राजत इति **नभ्राट्**—'नभ्राण्नपात्' इति नञः प्रकृतिभावः ॥

चङ्परे णौ 'भ्राजभास' इत्यादिना उपधाह्रस्वविकल्पनात अस्यापि ऋदित्वं पूर्ववत् अनुदात्तेत्त्वमात्रफलम् ॥

**भ्राष्ट्रम्**—ष्ट्रन् ॥

भ्राष्ट्रमिन्धे इति **भ्राष्ट्रमिन्धः** । कर्मण्यण् । 'भ्राष्ट्राग्न्यो रिन्धे' इति मुम् ॥

**भ्राशते । बभ्राशे । भ्रेशे । भ्राशिता । भ्राशिष्यते । भ्राशताम् । अभ्राशत । भ्राशेत ॥**

आशिषि—**भ्राशिषीष्ट । अभ्राशिष्ट** । सार्वधातुके—'वा भ्राश' इत्यादिना पक्षे शपोऽपवादे श्यनि **भ्राश्यते । भ्राश्यताम् । अभ्राश्यत । भ्राश्येत** । इति भवति ॥

**बिभ्राशिषते । बाभ्राश्यते । बाभ्राष्टि ॥**

**भ्राशयति । अबभ्राशत्** । ऋदित्वान्नोपधाह्रस्वः ॥

**भ्लाशति** । सर्व भ्राशतिवत् ॥

**भ्राशथुः । भ्लाशथुः**—द्वित्वादथुच् ॥

## स्यमु स्वन ध्वन शब्दे ॥ ८१५-८१७ ॥

स्यमादयः क्षरत्यन्ता उदात्ता उदात्तेतः ॥

**स्यमति । सस्याम । सस्यमतुः, स्येमतुः । सस्यमिथ, स्येमिथ । सस्यम, स्येम । स्यमिता** । इत्यादि ॥

**अस्यमीत्** इत्यत्र—'अतो हलादेः' इति वृद्धिः 'ह्मचन्त' इति निषिध्यते ॥

**सिस्यमिषति । सेसिस्यते**—'स्वपिस्यमिव्येञां यडि' इति सम्प्रसारणा द्विर्वचने अभ्यासस्य गुणः । **संस्यमीति, संस्यन्ति ।**

यङो लुंका लुप्तत्वात् तत्ररत्वाभावान्न सम्प्रसारणम् । 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य' इत्यभ्यासस्य नुक् । संस्यान्त इत्यादौ 'अनुनासिकस्य किझलोः' इति दीर्घः ॥

संस्यन्मि—'मोनो धातोः' 'स्वोश्च' इति नत्वम् ॥

संस्यांहि इत्यत्र पूर्वं 'अनुनासिकस्य' इति दीर्घे पश्चात् 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारः । असंस्यन् इत्यत्र पदान्तत्वात् 'मोनो धातोः' इति नः ॥

स्यमयति । असिस्यमत् । अमन्तत्वान्मित्त्वम् ॥

स्यमित्वा, स्यान्त्वा—उदित्त्वादिड्विकल्पः । अनिट्पक्षे 'अनुनासिकस्य' इति दीर्घः ॥

स्यान्तः—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् ॥

स्यमन्तको मणिः—बाहुलकात् अचि संज्ञायां कन् ॥

अयं चुरादौ वितर्कार्थः ॥

स्वनति । सस्वान । सस्वनतुः, स्वेनतुः । स्वनिता । इत्यादि ॥

अस्वनीत्, अस्वानीत्—'अतो हलादेः' इति वा वृद्धिः॥

सिस्वनिषति । संस्वन्यते । संस्वन्ति । संस्वान्तः । स्वानयति । असिस्वनत् । शब्दे अघटादित्वान्न मित्त्वम् ॥

विष्वणति । अवष्वणति । 'वेश्च स्वनः' इति षत्वम् । चकारेणावादित्यनुकृष्यते ॥

विष्वणनम् सशब्दभोजनम् । तथा च वृत्तौ—अभ्यवहारक्रियाविशेषोऽभिधीयते यत्र स्वननमस्ति । सशब्दं भुङ्क्ते इत्यर्थ इति ।

पिनाकी* तु—भुञ्जानः किंचिच्छब्दंकरोतीति । काश्यपस्तु—भोजनमेवार्थमाह । बोधिन्यासेऽपि पक्षत्रयमपि दर्शितम् ॥

**विषण्वाण** । **विषिष्वाणिषतीत्यादौ** 'स्थादिष्वभ्यासेन' इत्युभयत्र षत्वम् । तच्चाषोपदेशार्थं अवर्णान्ताभ्यासार्थं षणि प्रतिषेधार्थं चेत्युक्तम् ॥

**व्यष्वणत्**—'प्राक्सितात्' इति षत्वम् ॥

**अवषंष्वण्यत** इत्यादौ 'नुम्विसर्जनीय' इति 'वेश्च स्वनः' इति षत्वम् । उक्तं च—'अयोगवाहानामट्सु णत्वं शर्षु जशभावषत्वे' इति । अयोगवाहाश्च अनुस्वारविसर्जनीयोपध्मानीयजिह्वामूलीयया उक्ताः । षत्वे कृते सर्वत्र 'रषाभ्याम्' इति णत्वम् । **विषंष्वान्ति** इत्यत्र णत्वस्य पूर्वत्रासिद्धत्वात् 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे परसवर्णो नकारः । तस्य पुनर्णत्वं न भवति, असिद्धत्वादेव ॥

**स्वनः** । **स्वानः**—'स्वनहसोर्वा' इत्यनुपसृष्टाद्धा अप् । तदभावे घञ् । उपसृष्टात्तु—**प्रस्वान** इत्येव ॥

**निस्वनः** । **निस्वानः**—'नौगदनद' इत्यादिना घञपौ ॥

**स्वान्तम्**—'क्षुब्धस्वान्त' इत्यादिना निष्ठायामनिट्त्वं निपात्यते मनोऽभिधानं चेत् । अन्यत्र **स्वनितो मृदङ्गः** । आङ्पूर्वादस्मात् 'रुष्यमत्वरसंघुषा' इति निष्ठायां इड्विकल्पः । इयं चोभयत्र विभाषेति मनस्यन्यत्र च—**आस्वान्तम्** । **आस्वानितमिति** ॥

## फणादयो गताः ॥

*बिकारी.

ध्वनति । दध्वान । ध्वनिता इत्यादि स्वनिवत् ॥

ध्वान्तम्—'क्षुब्धस्वान्त' इति तस्य निष्ठायामनिट्त्वं तमसि । अन्यत्र—ध्वनितम् । ध्वनिः ॥

अयं कथादिश्च । अत्र स्वनिध्वन्योर्मध्ये ष्टनेति क्वचित्पठ्यते । ष्टन वन शब्दे इति पूर्वमेव गतत्वादयमनार्षः । केचित्पौनरुक्त्यपरिहाराय दन्त्यादिं पठन्ति । सोप्यनार्षः, षोपदेशलक्षणविरोधात् । अत एव 'फणाश्च' इत्यत्र सप्तानामिति किमित्युक्त्वा ध्वनिः प्रत्युदाह्रियते । तथा न्यासे च—फणादीन् ध्वन्यन्तानष्ट पठित्वा ध्वनिवर्जिताः शेषाः फणादयस्सप्त इत्युक्तम् । पदमञ्जर्यां चैवमष्ट पठित्वा अन्त्यवर्जं फणादय इत्युक्तम् ॥

## षम ष्टम अवैक्लव्ये ॥ ८१८-८१९ ॥

सनति । ससाम । सेमतुः । सेमिथ । समिता ॥
सिसमिषति । संसम्यते । संसमीति, सम्सन्ति ॥
समयति । असीषमत् ॥
स्तमति । तस्ताम । तस्तमतुः । स्तमिता ॥
तिस्तमिषति । तंस्तम्यते । तंस्तन्ति ॥
स्तमयति । अतिष्टमत् ॥

अत्र स्वाम्यादयः केचिदेतदन्ता घटादय इति । बोधिन्यासे तु ध्वन्यन्ता इति । तत्र—फणतौ मित्त्वे न विवादः* । राजादीनां त्वनन्तराणां चतुर्णां णौ चङ्युपधाह्रस्वनिषेधार्थाद्दित्करणाल्लिङ्गात् न मित्त्वं भविष्यति । स्यमेरमन्तत्वात्स्वनिध्वन्योश्च पूर्वत्र पाठान्मि-

*मित्त्वे विवाद' इति मुद्रितकोशे ।

त्वं सिद्धम् । सर्वैरपि शब्दार्थत्व एव मित्त्वं यथा स्यादिति पूर्वत्र पाठोऽङ्गीकृतः । षमिष्टम्योरप्यमन्तत्वादेव मित्त्वं सिद्धमिति आहोपुरुषिकामात्रमेवैतत् ध्वन्यन्ताप्टम्यन्ता वा घटादय इति मतद्वयम् । यत्तु तैरुक्तम्—षमिष्टम्योरमन्तयो· पुनः पाठेन अमन्तलक्षणस्य मित्त्वस्यानित्यत्वज्ञापनात् उन्नामयतीत्यादिसिद्धिरिति तदस्माभिः 'अमन्ताश्च' इति मित्त्वविधौ प्रकारान्तरेणोपपादितम् ॥

## ज्वल दीप्तौ ॥ ८२० ॥

ज्वलति । जज्वाल । जज्वलतु· । ज्वलिता ॥

अज्वालीत्—'अतो ल्रान्तस्य' इति वृद्धिः ॥

जिज्वलिषति । जाज्वल्यते । जाज्वलीति, जाज्वल्ति । ज्वलयति, ज्वालयति, प्रज्वलयति । घटादिपाठान्नित्यं मित्त्वं सोपसर्गत्वे । अन्यदा तु 'ज्वलह्वल' इति विकल्पेन । घटादिपाठादेव ज्वालयतीत्यादिसिद्धाविहास्य पाठ· 'ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः' इति पाक्षिके णप्रत्यये ज्वालः इति यथा स्यादिति । ज्वलितीति इतिशब्द आद्यर्थे । णाभावे पचाद्यचि ज्वल· ॥

ज्वलनः—'जुचङ्क्रम्य' इति तच्छीलादौ युच् कर्तरि ॥

## चल कम्पने ॥ ८२१ ॥

चलति । चचाल । चेलतुः । चेलुः । चलिता । इत्यादि पूर्ववत् ॥

कम्पने घटादिपाठात् चलयति । अन्यत्र चालयति ॥

चलः । चालः—'ज्वलिति' इति णविकल्पः ॥

**चलाचलः**—चल इत्यर्थः । 'चरिचलिपतिवदीनामच्याक्काभ्यासस्य' इति द्विर्वचनं, अभ्यासस्यागागमश्च ॥

**चाचलिः**—'सहिवहिचलिपतिभ्यो यडन्तेभ्यः किकिनौ' इति तयोरन्यतरः । 'अतो लोपः' 'यस्य हलः' इत्यल्लोपयलोपौ ॥

**चलनः**—'चलनशब्दार्थात्' इति युच् ॥

'चल विलसने' इति तुदादौ । चल गतौ इति चुरादौ ।

## जल घातने* ॥ ८२२ ॥

घातनं तैक्ष्ण्यं इति स्वामी । **जलति** इत्यादि पूर्ववत् ॥

**जलः** । **जालः** ॥

डलयोरेकत्वस्मरणात् **जडः** ॥

जडस्यापत्यं **जाडारः**—गोधाशब्दात् रकाऽपि गोधार इति सिद्धे 'आरगुदीचाम्' इत्यारग्वचनं **जाडारः पाण्डारः** इति सिद्ध्यर्थमिति तत्र स्थितम् ॥

**जाड्यम्** । **जडिमा**—'वर्णदृढादिभ्यष्ष्यञ्च' इति दृढादित्वात् भावकर्मणोः ष्यञिमनिचौ ॥

जल अपवारणे इति चुरादौ ॥

## टल ट्वल वैक्लव्ये ॥ ८२३-८२४ ॥

**टलति** । इत्यादि चलतिवत् ॥

**ट्वलति** । **टट्वाल** । **टट्वलतुः** । **ट्वलिता** । इत्यादि ॥

---

*घात्ये. घान्ये

द्वलः । द्वालः ॥

## ष्ठल स्थाने ॥ ८२५ ॥

स्थानं प्रतिष्ठा । स्थलति । तस्थाल । स्थलिता । अस्थालीत् इत्यादि ॥

तिस्थलिषति—'स्तौतिण्योरेव' इत्यषत्वम् ॥

तास्थल्यते । तास्थल्ति ॥

स्थालयति । अतिष्ठलत् ॥

स्थालम् । स्थलम् । स्थली—'जानपद' इत्यत्र अकृत्रिमायां भूमौ ङीष् । अन्यत्र—स्थला । स्थाली—गौरादित्वात् ङीष् ॥

विष्ठलम्—'विकुशमिपरिभ्यः स्थलम्' इति मूर्धन्यः । एवं क्कादिभ्यः ॥

कपिष्ठलो गोत्रम्—'कपिष्ठलो गोत्रे' इति मूर्धन्यो निपात्यते । अन्यत्र कपीनां स्थलं कपिस्थलमिति भवति ॥

## हल विलेखने ॥ ८२६ ॥

विलेखनं कर्षणम् । हलति । जहाल । हलिता । अहालीत् इत्यादि ॥

हलम् । हालम् ॥

हलिः—'इन्' इतीन्प्रत्ययः ॥

हलि गृह्णाति हलयति । अजहलत् । 'मुण्डमिश्र' इत्यादिना गृह्णात्यर्थे णिचि 'हलिकल्योरत्वनिपातनं सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम्

इतीकारस्यात्वे तस्य वृद्धौ कृतायामकृतायां वा लोपे अग्लोप्य-ङ्गमित्यभ्यासस्य सन्वदित्त्वं न भवति ॥

हलानां समूहो **हल्या**—'पाशादिभ्यो यः' इति पाशादि-पाठात्समूहे यः ॥

हलस्येदं **हालिकम्**—'हलसीराट्ठक्' इति षष्ठचन्तात् इद-मर्थे ठक् ॥

हलं वहति **हालिकः** बलीवर्दः—'हलसीराट्ठक्' इति द्वितीयान्तात् वहतीत्यर्थे ठक् ॥

हलस्य कर्षः **हल्यः**। कर्षः कर्षणं क्रुष्यमाणं वा। 'मत-जनहलात्करणजल्पकर्षेषु' इति षष्ठचन्तात् कर्षेऽर्थे यत् ॥

**द्विहल्या भूः**—'रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ' इति तदन्तविधिः ॥

न विद्यते हलिः यस्यासौ **अहलः**—'नञ्दुस्सुभ्यो हलिस-क्थ्योरन्यतरस्याम्' इति पक्षेऽच् समासान्तः। एवं दुस्सुपूर्वप-दादपि। अत्र हलिहलशब्दाभ्या बहुव्रीहिणा रूपद्वये सिद्धे पक्षे समासान्तविधानं 'शेषाद्विभाषा' इति हल्यन्तात् कन् मा भूदिति। यस्मात् बहुव्रीहे समासान्तो नोक्तः स शेषः। न चात्र हलिग्रहणमर्थभेदनिबन्धनं मन्तव्यम्। महद्धलं हलिः, हल-मात्रं त्वन्यदिति नायमर्थभेदः किञ्चित्कर। यस्मादकारान्ते-नापि समासो न दण्डवारित इति प्रकरणादिवशेनैव अर्थविशे-षावगतिः ॥

## णल गन्धने ॥ ८२७ ॥

**बन्धन** इति काश्यपः। **प्रणलति** इत्यादि ॥

**नालः । नलः ॥**

**नाळी । प्रणाळी ।** गौरादि ङीष् ॥

डलयोरेकत्वस्मरणात् **नडः** । 'अव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम्' इति हरदत्तः ॥

नडाना समूहो **नड्या**—'पाशादिभ्यो यः' इति यः ॥

नडा अस्मिन्देशे सन्तीति **नड्वलः** । **नड्वान्**—कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' 'नडशादाड्वलच्' इति चातुरर्थिको ड्मतुप् ड्वलच्च ॥

**नलिनम्**—'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' इति इनन् बाहुलकादस्मादपि । **नलिनी**—गौरादिषु दर्शनात्, 'जातेरस्त्रीविषयात् इति वा ङीष् । यद्वा—नलशब्दात् 'पुष्करादिभ्यो देशे' इति मत्वर्थीय इनौ ङीपि द्रष्टव्यः ॥

नल गन्धं ददातीति **नलदं** लामज्जकम् ॥

## पल गतौ ॥ ८२८ ॥

**पलति** । इत्यादि ॥

**पलं**—उन्मानविशेषः ॥

**पललं** मांसम्—'कलत्रपश्च' इत्यत्र प्राक् प्रत्ययनिर्देशात् अन्येभ्यो भवतीति कुण्डलादिवदस्मादपि कलप्रत्ययः ॥

**पलालम्**—'स्याचति' इत्यालच् बाहुलकादस्मादपि ॥

महत् पलालं **पलाली**—पिप्पलादित्वात् ङीष् । पलाल्यस्यास्तीति **पलालिनः**—'शाकिपलालिदद्रुवां ह्रस्वत्वं च' इति पामादिपाठान्नप्रत्ययो ह्रस्वत्वं च ॥

पाल रक्षण इति चुरादौ ॥

## बल प्राणने धान्यावरोधे च ॥ ८२९ ॥

प्राणनं जीवनम् । धान्यमवरुद्ध्यते यत्र कुसूलादौ तत् धान्यावरोधं; तद्व्यापार इत्यर्थः । **बलति** । इत्यादि ॥

**बालः** । **बलम्** । करणस्य कर्तृत्वोपचारादच् । **बाला**—अजादिपाठात् 'वयसि प्रथमे' इति ङीषं बाधित्वा टाप् ॥

बलवान् **बलूलः**—'वातदन्तबललाटानामूड् च' इति सिध्मादिपाठाल्लच्प्रत्ययः ऊड्चागमः ॥

**बलः** पुरुषः—'अर्शआदिभ्योऽच्' इति मत्वर्थेऽच् ॥

**बाहुबली** । **ऊरुबली**—'बलाद्बाहूरुपूर्वपदात्' इति पुष्करादिपाठात् इनिर्मत्वर्थे । **सर्वबली**—तत्रैव 'सर्वादेश्च' इति पठ्यते ॥

**बलिः**—'इन्' इतीन्प्रत्ययः ॥

बल्यर्थास्तण्डुलाः **बालेया**—'छदिरुपधिबलेर्ढञ्' इति छदिबलिभ्यां विकृतिवाचिभ्यां विकृत्यर्थाया प्रकृतौ ठञिति ठञ् । उपधेस्तु स्वार्थेयं प्रत्ययः ॥

कुबेराय बलिः **कुबेरबलिः**—'चतुर्थी तदर्थार्थबलिसुखहितरक्षितैः' इति चतुर्थ्यन्तस्य तदर्थादिभिस्तत्पुरुषः । तदर्थेत्यर्थग्रहणम्, तस्मा इदं तदर्थम् । अन्यानि तु प्रातिपदिकानि ॥

अयं चुरादौ मित् ॥

## पुल महत्त्वे ॥ ८३० ॥

**पोलति** । **पुपोल** । **पोलिता** ॥

**पुपुलिषति, पुपोलिषति ॥ पुलित्वा, पोलित्वा**—'रलो व्युपधात्' इति किन्त्वविकल्पः ॥

**पोपुल्यते । पोपुलीति, पोपोल्ति ॥**

**पोलयति । अपूपुलत् ॥**

'उदुपधात्' इति भावादिकर्मणोः निष्ठायाः सेटः किन्त्वविकल्पनात्—**पुलितं अनेन । पोलितं अनेन** इत्यादि ॥

**पोलः** । णाभावे इगुपधलक्षणः कः—**पुलः** । **पुलकः**—संज्ञायां कुन् ॥

**पुलिनम्**—बाहुलकादिनिनि गुणाभावः ॥

**पुलाकः**—'बलाकादयश्च' इत्याकनन्तो निपातितः ॥

अयं चुरादावपि । तुदादावपीति क्षीरस्वामी ॥

## कुल संस्त्याने बन्धुषु च ॥ ८३१ ॥

संस्त्यानं सङ्घात इति स्वामी । क्वचित्तु सन्तान इति पठ्यते । सन्तानो विजातीयैरविच्छिन्नः प्रवाहः । बन्धुशब्देन तद्व्यापारः सम्बन्धोऽभिधीयते । **कोलति** इत्यादि पोलतिवत् ॥

कुलस्यापत्यं **कुलीनः** । **कुल्यः** । **कौलेयः** । कुलशब्दो वृत्तौ तद्वति वर्तते । 'कुलात्खः' 'अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ' इति खयड्ढकञः । अत एवापूर्वपदग्रहणात् खस्तदन्तादपि भवति—**ब्राह्मणकुलीनः** । महाकुलशब्दात् 'महाकुलादञ्खञौ' इत्यञ्खञौ, अन्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेः खश्चेति **माहाकुलः** । **माहाकुलीनः** । **महाकुलीनः** इति भवति । दुष्कुलशब्दात् 'दुष्कुलाड्ढक्

इति ढकि **दौष्कुलेयः** । अत्राप्यन्यतरस्यांग्रहणानुवृत्तेः खे **दुष्कुलीनः** ॥

**कौलेयकः श्वा**—'कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु' इति यथासङ्ख्यं चाच्छुन्यभिधेये कुलाड्ढकञ् ॥

अमुष्य कुलस्य भावः **आमुष्यकुलिका**—'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' इति मनोज्ञादिपाठाड्ढञ् । 'आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेत्युपसङ्ख्यानम्' इति षष्ठ्या अलुक् । स्वभावात्स्त्रीलिङ्गः ॥

**कौलकम्**—अयं मनोज्ञादिः ॥

**निष्कुलाकरोति पशुम्**—निष्कृष्णातीत्यर्थः । 'निष्कुलान्निष्कोषणे' इति कृञो योगे निष्कोषणार्थात् निष्कुलशब्दात् डाच् । निष्कोषणमन्तरवयवानां बहिर्निस्सारणम् ॥

नास्ति कुलमस्य **नकुलः**—'नभ्राण्नपात्' इति नञः प्रकृतिभावः ॥

**कुलकम्**—श्लोकसङ्घातविशेषः । संज्ञायां वुन् । कुलशब्दात्कन्वा ॥

## शल हुल पतॢ गतौ ॥ ८३२-८३४ ॥
## हुल हिंसासंवरणयोश्च ॥ ८३५ ॥

अत्र मैत्रेयः । चकारोत्रान्वाचये । गतावस्य तावत्प्रयोगः । क्वचित्तु—हिंसासंवरणयोश्चेति । क्वचित्तु पठ्यते—शल ह्वल ह्मल पतॢ गतौ । हुल हिंसासंवरणयोश्चेति । अत्र पाठे चकारादृतौ चेति व्याख्येयम् । शलतेः ह्मलतेश्च घटादिपठितस्यापीह

पाठो न विकल्पार्थः । घटादिपाठस्त्वर्थविशेषे मित्त्वार्थ इति च बोध्यम् ॥

**शलति । शशाल । शलिता ।** इत्यादि ॥

**शालः । शाला ॥**

शल इति चलनसंवरणयोर्गतः ॥

**होलति ।** इत्यादि । पोलतिवत् ॥

**पतति । पपात । पेततुः । पतिता ॥**

**अपप्तत्**—लृदित्त्वादङ्, 'पतः पुम्' इत्यडि परे पुमागमः ॥

**पिपतिषति**—'तनिपतिदरिद्राणामुपसङ्ख्यानम्' इति वा इडागमः । अनिट्पक्षे 'सनिमीमाघुरभलभशकपतपदामच इस्' इति सकारादौ सनि विधीयमानेस्भावे 'सस्यार्धधातुके' इति सस्य तत्त्वे-पिच्छब्दस्य द्विर्वचने 'अत्र लोपोभ्यासस्य' इत्यभ्यासस्य लोपः । अत्रग्रहणं 'सनिमीमा' इत्यादिचतुस्सूत्रीविषये अभ्यासलोपार्थमिति स्थितम् । अभ्यासलोपोऽनर्थकत्वादन्त्यस्य न भवति 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः' इति । अन्ये त्वत्रग्रहणं सर्वाभ्यासलोपार्थमाहुः । तत्र मतेऽभ्यासलोपस्य सनिमीमादिचतुस्सूत्रीविषयत्वमधिकाराद्बोद्धव्यम् ॥

**पित्सति । पनीपत्यते । पनीपित्ति**—'नीग्वञ्चु' इत्यभ्यासस्य नीक् ॥

**प्रणिपतति**—'नेर्गदे' इत्यादिना णत्वम् । अङ्ग्रुवायेऽपीदमिष्यते—**प्रण्यपप्तत्** ॥

**पतापतः**—'चलिचरिपतिवदीनां द्वित्वमकाभ्यासस्य' इति पक्षे द्विर्वचनमकाभ्यासस्य ॥

**उत्पतिष्णुः**—'अलङ्कृञ्' इत्यादिना इष्णुच् ॥

**पतनः**—'जुचङ्क्रम्य' इत्यादिना युच् ॥

**पातुकः**—'लषपतपद' इत्यादिना उकञ् ॥

पतत्यनेनेति **पत्रम्**—'दात्रं' इत्यादिना करणे ष्ट्रन् ॥

सर्वपत्र व्याप्नोतीति **सर्वपत्रीणः** सारथिः । 'तत्सर्वादेः' इत्यादिना सर्वादेः पत्रान्तात् व्याप्नोतीत्यर्थे खः ॥

**सपत्राकरोति** सपत्र शरं मृगकाये प्रवेशयतीत्यर्थः । **निष्पत्राकरोति**—सपत्र शरमपरभागे निष्क्रामयतीत्यर्थः । 'सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने' इति कृञो योगे डाच् । अतिव्यथनमतिपीडा ॥

**गेहानुप्रपातमास्ते**—'विशिपतिपदिस्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः' इति कर्मण्युपपदे व्याप्यमानत्वे आसेव्यमानत्वे च गम्यमाने णमुल् । तत्र व्याप्तिर्गुणेन क्रियया वाऽनवयवेन द्रव्याणां सम्बन्धः । सा चेह विश्यादिक्रियादिभिः गेहादेः कर्मणः । आसेवा पौनःपुन्यम्, तच्च स्वभावात् क्रियायाः । तदयमर्थः—गेहं गेहमनुप्रपत्य आस्ते, गेहमनुप्रपत्यानुप्रपत्य आस्ते इति वा । आसेः प्रयोगो धातुसम्बन्धे प्रत्ययविधानात् । तत्र व्याप्त्यासेवनयोः समासेनैवोक्तत्वात् 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनं न भवति इति भाष्यादौ स्थितम् । यदा 'तृतीयाप्रभृतीनि' इति समासाभावः तदा **गेहं गेहमनुप्रपातमास्ते, गेहमनुप्रपातमनुप्रपातमिति** द्विर्वचनं भवत्येव । तत्र नित्यता पौनःपुन्यम्, तच्च क्रियाविषयमिति तत्र क्रियावाचिनो द्विर्वचनम् । वीप्सा तु व्याप्तुमिच्छा, सा च द्रव्यविषयेति द्रव्यवचनस्य । अत्रासेवायां

'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' इति क्त्वाणमुलोर्विधानादेव णमुलि सिद्धे पुनर्विधानं द्वितीयान्तस्यो*पपदत्वार्थम् । तेन पाक्षिकः समासो भवति । क्त्वो निवृत्त्यर्थं तु न भवति, इष्टत्वात्तस्येति हि स्थितम् ॥

आपततीति **आपात्यः**—'भव्यगेय' इति निपातनात् पक्षे कर्तरि ण्यत् । वा वचनेन यथाप्राप्ताभ्यनुज्ञानात् **आपात्यमनेन** इति भावेऽपि ण्यङ्भवति ॥

**पतितः**—गत्यर्थत्वात्कर्तरि क्तः ॥

नरकं पतितः **नरकपतितः**—'द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' इति द्वितीयान्तस्य श्रितादिभिस्तत्पुरुषः ॥

स्वर्गात्पतितः **स्वर्गपतितः**—'अपेतापोढ' इति पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अल्पश इति अल्पायाः पञ्चम्यास्समासविधानात् क्वचित्समासो न भवति प्रासादात्**पतित** इत्यादौ । अत एव निपातनान्निष्ठयामिट् । अन्यथा 'तनिपति' इति सनीड्विकल्पनात् 'यस्य विभाषा' इतीट्प्रतिषेधस्स्यात् । अन्ये तु कृतिप्रभृतीनां 'सेसिचि' इत्यादिना सकारादाविड्विकल्पनादेव निष्ठायामप्यनिट्त्वसिद्धावप्यनिट्त्वार्थमिदित्करणात् 'यस्य विभाषा' इत्यस्यानित्यत्वज्ञापनात् इडित्याहुः ॥

**पापतिः**—'सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ' इति किकिनोरन्यतरः, 'अतो लोपः' 'यस्य हलः' इत्यछोपयलोपौ, अभ्यासस्य 'नी ग्वञ्चु' इत्यादिना नीक् न भवति, 'सासह्यादीनां निपातनं' इति वार्तिककारवचनात् ॥

---

*तृतीयान्तस्यो.

**सन्निपातः**—घञ् । तस्य शमनं कोपनं वा **सान्निपातिकम्**—'सन्निपाताच्चेति वक्तव्यम्' इति ठक् ॥

**पतङ्ग**—'पतेरङ्गच् पक्षिणि' इत्यङ्गच् ॥

**पतत्रम्**—'पतेरत्रन्' इत्यत्रन् ॥

**पतत्रिः**—'पतेरक्च' इति त्रिन्प्रत्ययः अगागमश्च । **पतत्रिन्**शब्दः पतत्रशब्दादिनौ मत्वर्थे ॥

**पातालम्**—'पतिचण्डाभ्यामालन्' इत्यालन् । बाहुलकाद्वृद्धिः । केचिद्वृद्ध्यर्थमालञ् इति पठन्ति । तत् 'तद्युक्तादित्यण्प्रकरणे कुलालवरुडकर्मारनिषादचण्डालमित्रामित्रेभ्य छन्दसि' इति चण्डालात् स्वार्थेऽण्विधानादयुक्तम् ॥

**पताका**—पिनाकादिर्बलाकादिर्वा आकप्रत्ययान्तः ॥

**पताकी**—मत्वर्थीय इनिः ॥

व्रीह्यादित्वात् **पन्था** । 'पतेस्थ च' इतीन्प्रत्ययः, तकारस्य च थकारः । 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इति आकारादेशोऽन्त्यस्य सौ परे 'इतोत्सर्वनामस्थाने' इति पथ्यादीनां इकारस्याकारे सवर्णदीर्घः । 'थोन्थः' इति पथिमथोस्थस्य न्थादेशः सर्वनामस्थाने **पन्थानौ**—'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घः ॥ शसाद्यजादौ **पथः** इत्यादि । 'भस्य टेर्लोपः' भसञ्ज्ञकाना पथ्यादीनां टेर्लोपः, इति टिलोपः । हलादौ नलोप **पथिभ्याम्** इत्यादि ॥

**विपथम्** । **कापथम्**—'कुगतिप्रादयः' इति तत्पुरुषः । 'कापथ्यक्षाभ्यां' इति पथ्यक्षयोरुत्तरपदयोः कुशब्दस्य कादेशः ॥

त्रयाणां पन्थाः **त्रिपथम्** । 'ऋक्पूरब्धूः' इति समासमात्रेऽकारस्समासान्तः 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । 'पथस्संख्या-

व्ययादेः' इति नपुंसकत्वम् । इदं च परवल्लिङ्गतापवाद इति **विपथो देशः** । **विपथा नगरी** । इति बहुव्रीहौ न भवति । तथा पन्थानमतिक्रान्तोऽतिपथ इत्यादौ 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इत्यादिना तत्पुरुषेऽपि न भवति । अत्र हि 'द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधः' इति परवल्लिङ्गता प्रतिषिद्ध्यते । 'पथस्संख्याव्ययात्पर' इति यदमरहिंसेन नपुंसकत्वमुक्तं तदप्युत्तरपदार्थप्राधान्य एव । तथा च तत्र व्याख्यातार.—"प्रधानलिङ्गतापवादक्लीबविधानप्रस्तावादिह न भवति—**अपथा नगरी उत्पथो देश** इति । कथं तर्हि—'व्यध्वो दुरध्वो विपथः कदध्वा कापथः समाः ।' इति विपथकापथयोः पुंस्त्वमुक्तम् । तत्रैव व्याख्येयम्—अस्त्यन्योऽकारान्तः पथिपर्यायः पथशब्दोऽर्धर्चादिपाठादुभयलिङ्गः । तेन समासात्पुंस्त्वं" इति । विपथकापथौ पुन्नपुंसके इति चाहुः सुभूतिचन्द्रादयः । पठितश्च काण्डशेषे अकारान्तः पथशब्दः—'पथःपन्थाश्च मार्गस्स्यात्' इति । शाक्यमुनिस्तु—सङ्ख्याव्ययाभ्यां परस्य पथशब्दस्य पुंस्त्वमेवाह । तत् 'पथ सङ्ख्याव्ययात्परः' इति वार्तिकविरोधात् तत्रत्यभाष्यकैय्यटवृत्त्यादिमहाग्रन्थविरोधादमरसिंहविरोधाच्च दुस्थम् । अत्र कृतसमासान्तस्य निर्देशात् 'न पूजनात्' 'किम· क्षेपे' 'नञस्तत्पुरुषात्' इति यदा समासान्तो निषिद्ध्यते तदा 'परवल्लिङ्गं' इति पुंस्त्वमेव—**सुपन्था**. । **किंपन्थाः** । **अपन्था** इति । 'न पूजनात्' इत्यत्र स्वत्यो. परिगणनात् **सत्पथ** इत्यादौ समासान्तो भवति । 'अव्ययीभावश्च' इत्यत्र **सुपथमिति** यदुदाहरणं तत्र सुशब्दस्य वैपुल्यमर्थो न पूजेति समासान्तलाभः । **अपथमित्यत्र** 'नञस्तत्पुरुषात्' इति निषेधस्य 'पथो विभाषा' इति विकल्पनात् समासान्तः । 'अपथं न पुंसकम्' इति न-

पुंसकत्वम् । 'पथः सङ्ख्याव्ययादेः' इत्येव सिद्धे किं सूत्रेणेत्याशङ्काया केयट—'पूर्वकालत्वात् सूत्रस्य नाय दोषः' इति । यत्तूक्तं अस्त्यकारान्तः पथशब्द इति, तत् 'पथो विभाषा' इति सूत्रविरुद्धम् । सति हि तेन अपथमिति सिद्धचति । न कारान्तेन च अपन्था इति । तत्किं सूत्रेण ॥

पथि जात **पन्थकः**—'पथः पन्थ च' इति सप्तम्यन्ताज्जातार्थे वुन्, पथश्च पन्थादेशः ॥

पथोऽनपेतं **पथ्यम्**—'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति पञ्चम्यन्तादनपेतेऽर्थे यत् ॥

पथि साधु **पाथेयम्**—'पथ्यतिथि' इति ढञ् ॥

पन्थानं गच्छतीति **पथिकः** । **पथिकी**—'पथष्कन्' इति द्वितीयान्तात् गच्छतीत्यर्थे ष्कन् । षित्त्वात् स्त्रियां ङीष् ॥

पन्थान नित्य गच्छतीति विवक्षाया 'पन्थो ण नित्यम्' इति णप्रत्यये **पान्थः** । अत एव निर्देशात् णसन्नियोगेन पन्थादेशः ॥

शतपथमधीते वेद वा **शतपथिकः** । एवं **षष्टिपथिकः** । 'शतषष्टेः पथिष्कन्' इति द्वितीयान्तात् अध्येतृवेदित्रोः ष्किन् । षित्त्वात् स्त्रियां **शतपथिकी** ॥

पन्थानंपन्थानं प्रति **प्रतिपथम्** । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना वीप्सायामव्ययीभावः ॥

पथोऽभिमुखमिति वा **प्रतिपथम्**—'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इति । लक्षणं चिह्नम् । तद्वाचिना अभिप्रती आभिमुख्ये गम्यमाने समस्येते स चाव्ययीभावसमास इति ॥

प्रतिपथमेति **प्रतिपथिकः**, **प्रातिपथिकः** वा—'प्रतिपथमेति ठंश्च' इति द्वितीयान्तात् एतीत्यर्थे ठञ्ठकौ । प्रतिगत इति समासेनाभिधानात् नेमौ प्रत्ययाविति व्याख्यातारः ॥

सर्वपथं व्याप्नोति **सर्वपथीनः** । 'तत्सर्वादेः' इति खः ॥

उत्तरपथेनाहृतं गच्छति वा **औत्तरपथिकः**—'उत्तरपथेनाहृतं च' इति तृतीयान्तात् गच्छत्याहृतं वेत्यर्थे ठञ् । 'आहृतप्रकरणे वारिजङ्गलस्थलकान्तारपूर्वपदादुपसङ्ख्यानम्' इति वार्यादिपूर्वपदादपि ठञ् भवति **वारिपथिकं** इत्यादि ॥

**आजिपथिकः** । **शाङ्कुपथिकः**—'अजपथशङ्कुपथाभ्या च' इति तेनाहृतमित्यत्रैव विषये ठञ् ॥

स्थलपथेनाहृतं मधुकं मरिचं वा **स्थालपथम्**—'मधुकमरिचयोरण् स्थलादिभ्यः' इत्यण् ॥

देवपथ इव प्रतिकृतिः **देवपथः**—'इवे प्रतिकृतौ' इति इवार्थे सादृश्ये वर्तमानात् प्रथमान्तात् कन् । तस्य च सदृशस्य प्रतिकृतित्वे सतीति सूत्रार्थः । तदेतदुक्तं भवति—प्रतिकृतिरूपे सदृशे वर्तमानात् कन्निति ॥

देवपथ इव कश्चित् **देवपथः**—'संज्ञायां च' इतीवार्थे वर्तमानात् कन् । उभयत्र 'देवपथादिभ्यश्च' इति कनो लुक् ॥

परिपन्थशब्दस्तु परिपथपर्यायोऽव्युत्पन्नः । उक्तं च 'परिपन्थं च तिष्ठति' इत्यत्र वृत्तौ समर्थविभक्तिप्रकरणे पुनर्दृष्टीनीयोद्धारणं लौकिकवाक्यप्रदर्शनार्थं परिपथशब्दपर्यायः परिपन्थशब्दोऽस्तीति ज्ञापयति स विषयान्तरेऽपि प्रयोक्तव्य इति । एवं 'पथः

पन्थाश्च मार्गस्स्यात्' इति काण्डशेषे पथिपर्यायो यः पथशब्द उक्तः स नास्तीति प्रतीयेते । सति हि तस्मिन् परिपथशब्दवत् परिपन्थशब्दस्यापि सिद्धेः किं ज्ञापकवर्णनेन । 'पन्थो ण नित्यम्' इत्यत्र प्रत्ययसन्नियोगेन पथः पन्थादेशकथन प्रकृत्यन्तराभाव एव घटते ॥

अयं कथादावपि ॥

## क्कथे निष्पाके ॥ ८३६ ॥

क्कथति । चक्काथ । क्कथिता । अक्कथीत् ॥

क्काथः । क्कथितः ॥

क्कथयतीति घटादिपाठात् ॥

## पथे गतौ ॥ ८३७ ॥

पथति । पपाथ । पेथतुः । अपथीत् ॥

पथः । पाथः ॥

पथि गताविति चुरादौ ॥

## मथे विलोडने ॥ ८३८ ॥

मथति । ममाथ । मेथतुः । अमथीत् ॥

माथः । मथः ॥

क्थ्यादीनां त्रयाणामेदित्त्वात् 'ह्मचन्त' इति सिचि न वृद्धिः ॥

डमाथं धावति दाण्डमाथिकः । माथः पन्थाः दण्ड इव जुरित्यर्थ । 'माथोत्तरपदपदव्यनुपदं धावति' एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो धावतीत्यर्थे ठक् इति ठक् ॥

## टु वम उद्गरणे ॥ ८३९ ॥

उद्गरणमन्तर्गतस्य मुखेन निस्सारणम् । अत्र सुधाकर. उद्गिरण इति पठन्निपातनात् ऋत इदित्याह ॥

**वमति । ववाम । ववमतु**—वादित्वान्नित्वाभ्यासलोपौ । भागवृत्तौ तु अनयोर्विकल्पेन वेमतुरित्युदाहारि । तद्ग्राप्यादिषु चिरन्तनग्रन्थेषु कुत्रापि न दृष्टम् ॥

**वमिता । अवमीत्**—'ह्मचन्त' इति सिचि न वृद्धि. ॥

**विवमिषति । वंवम्यते । वंवन्ति । वंवान्त.** । हेरपित्वात् डित्वात् 'अनुनासिकस्य' इति दीर्घे अनुस्वारे **वंवांहि । अवंवन्** ॥

**वमयति, वामयति**—'ग्लास्त्रावनुवमामनुपसर्गाद्वा' इति मित्त्वविकल्पः ॥

**वामः**—'नोदात्तोपदेशस्य' इति वृद्धिनिषेधस्य 'अचमिकमिवमीनाम्' इति निषेधः ॥

**वान्तः । वान्तवान्**—'आदितश्च' इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् निष्ठायामनिट्त्वमिति वृत्तौ । भाष्यवार्तिकयोरनुक्तमपीद प्रयोगबाहुल्यादुक्तमिति हरदत्तः । तदेवं काश्यपादीनामुदित्पाठः प्रत्युक्तः ॥

**वमथुः**—ट्वित्वादथुच् ॥

## भ्रमु चलने ॥ ८४० ॥

**भ्रमति । बभ्राम । बभ्रमतु, भ्रेमतुः । भ्रेमु । भ्रमुः । बभ्रमिथ, भ्रेमिथ**—'वा जृभ्रमुत्रसाम्' इति किति

लिटि थलि च सेटि वा एत्वाभ्यासलोपौ ॥

**भ्रमिता । भ्रमिष्यति । भ्रमतु । अभ्रमत् । भ्रमेत् । भ्रम्यात् । अभ्रमीत् ॥**

शिद्विषये 'वा भ्राश' इति पक्षे श्यनि **भ्रम्यति । भ्रम्यतु । अभ्रम्यत् । भ्रम्येत् ॥**

**भ्राम्यति** इति दिवादौ शमादिपठितस्य अनवस्थानार्थस्य 'शमामष्टानाम्' इति दीर्घे ॥

**विभ्रमिषति । वम्भ्रम्यते ।** अनुनासिकान्तत्वात् नुक्—**वम्भ्रन्ति । वम्भ्रान्तः ॥**

लोटि हौ—**वम्भ्रांहि ।** लडि **अवम्भ्रन्**—'मोनो धातोः' इति मकारस्य नकारः ॥

**भ्रमयति**—अमन्तत्वान्भित्वम् ॥

णेऽपि—**भ्रम ।** 'नोदात्त' इति वृद्धिनिषेधः । प्रयोजनं तु भ्रमितुं न शक्तः **अभ्रम** इत्यत्र 'अच्कावशक्तौ' इति अजन्तस्य कान्तस्य च नञ परस्योत्तरपदस्य तत्पुरुषे अशक्तौ गम्यमानायां विधीयमानस्यान्तोदात्तत्वस्याभाव । तेन 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' इति तत्पुरुषे तुल्यादिपूर्वपदस्य विधीयमानः प्रकृतिस्वरो भवति । स च निपातत्वादाद्युदात्तत्वम् । अचि तु अच्कावित्यन्तोदात्तमेव ॥

**भ्रमित्वा, भ्रान्त्वा ॥**

**भ्रान्तः । 'भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमम्'** इत्यत्र 'देशश्चाक्काणा' इति देशस्य कर्मत्वम् । केनानभिधानं तु भवतावेवोपपादितम् ॥

**भ्रमणः**—चलनार्थत्वाद्युच् ॥

**भ्रमी**—इति शमादिपठितस्य विनुणि ॥

**भ्रमर**—'अर्तिकमिचमिभ्रमिदेविवाशिवासिभ्यश्च' इति अर-प्रत्ययः ॥

**भ्रुमलः**—अक्षिरोग । 'भ्रमिमस्योरुच्चोपधायाः' इति कल-प्रत्ययः, उपधायाश्चोकारः ॥

भ्रूः—'भ्रमेर्डूः' इति डूः । डित्वाट्टिलोपः । भ्रुवौ । भ्रुवः । अजादौ 'अचि क्ष्नुधातुभ्रुवां' इत्युवङ् ॥

हे भ्रूः इत्यत्र 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति नदीसंज्ञानिषेधात् 'अम्बार्थनद्योः' इति ह्रस्वाभावः । डिद्वचनेषु 'डिति ह्रस्वश्च' इति नदीत्वविकल्पः डिद्वचनेषु इयङुवङ्स्थानेष्वीदन्तमूदन्तमिकारोकारान्तं च स्त्र्याख्यं वा नदी, स्त्रीशब्दं वर्जयित्वेति सूत्रार्थः । तेन नदीसंज्ञायां 'आण्नद्याः' इत्याटि वृद्धावुवङि च—**भ्रुवै** इत्यादि । अन्यदा तु केवलमुवङि **भ्रुवे** इत्यादि ॥

आमि स्त्रीशब्दव्यतिरिक्तयोः इयङुवङ्स्थानयोः 'वामि' इति नदीत्वनिषेधविकल्पनात् **भ्रूणाम्, भ्रुवाम्** इति ॥

भ्रूः नाम काचित्तस्या अपत्यं **भ्रौवेय**—'भ्रुवो वुक्च' इति ढक्, तत्सन्नियोगेन वुगागमः ॥

**लेखाभ्रेयः**—'शुभ्रादिभ्यश्च' इत्यपत्ये ढक् । 'ढे लोपोऽकद्भ्वाः' इति ढे परे कद्भूवर्जितस्योवर्णान्तस्याङ्गस्योकारस्य लोप इत्यूकारलोपः ॥

अक्षिणी च भ्रुवौ च **अक्षिभ्रुवम्**—'अचतुर' इत्यादिना अचि समासान्ते निपातितः ॥

भ्रूकुलम्। भ्रूभङ्ग इत्यादौ 'इको ह्रस्वोऽचो गालवस्य' इति इगन्तस्याङ्यन्तस्य उत्तरपदे विधीयमानो ह्रस्वः तत्रानुवृत्तस्यान्यतरस्यांग्रहणस्य व्यवस्थितविभाषात्वान्न भवति। भ्रुकुंसः। भ्रूकुसः। भ्रूकुटिः। भ्रुकुटि—इत्यत्र तु पक्षे ह्रस्वो भवति। अत्र भाष्ये अपर आह—'अकारो भ्रुकुंसादीनां वक्तव्यः। भ्रकुंसः। भ्रकुटिः'। इति॥

## क्षर सञ्चलने॥ ८४१॥

क्षरति। चक्षार। क्षरिता॥

अक्षारीत्—'अतो ल्रान्तस्य' इति वृद्धिः॥

चिक्षरिषति। चाक्षर्यते। चाक्षर्ति। चाक्षर्हि। अचाक्षः। हल्ङ्यादिलोपः॥

क्षारः। क्षरः॥

क्षरेज., क्षरजः—'विभाषा वर्षक्षरशरत्वरात्' इति जशब्दे उत्तरपदे विभाषा सप्तम्या अलुक्॥

अत्र क्षल सञ्चलने इति क्वचित्पठ्यते। तदपि क्षरिवत्॥

स्यमादय उदात्ता उदात्तेतः॥

## षह मर्षणे॥ ८४२॥

उदात्तोऽनुदात्तेत्॥

'हते। सेहे। सहिता। सोढा। तकारादौ इड्विकल्पः। इडभावे ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपाः। 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इति ढलोपे अवर्णस्यौकारः॥

**सिसहयिषते**—'स्तौतिण्योरेव' इत्यषत्वम् ॥

**सिसाहयिषति**—इत्यत्र स्तौतीति नियम बाधित्वा 'सः स्वदि-स्विदिसहीना च' इति सत्वं भवति ॥

**सासह्यते । सासोढि । सासोढः** । पूर्ववत् ढत्वादि । **सासक्षि**—'पढो. कस्सि' इति कत्वम् । लोटि हेर्धिभावे ढत्व-ष्टुत्वढलोपौत्वेषु **सासोढि** इति भवति ॥

**साहयति । असीषहत् ॥**

**परिषहते । निषहते । विषहते** । 'परिनिविभ्यः' इति षत्वम् । इदं च 'सिवादीना वाऽड्व्यवायेऽपि' इति अड्व्यवाये विकल्प्यत इति **पर्यषहत । पर्यसहत** । इनि ॥

'स्थादिष्वभ्यासेन' इत्यत्र 'प्राक्सितात्' इत्यनुवर्तनात् **परि-षिसहिषत** इत्यत्र उत्तरखण्डस्य षणि प्रतिषेध एव भवति । अत एव 'प्राक्सितात्' इत्यनुवर्तनात् तत्र 'अभ्यासस्य' इति योगभेदेन स्थादिष्वेव अभ्यासस्य षत्वमिति क्रियमाणो नियमोऽ-स्मिन् प्राक्सितीये नेति षत्वमभ्यासस्य भवत्येव । तथा च तत्र वृत्तौ—प्राविसतीयः सुनोत्यादिरेव प्रत्युदाहृतः । आत्रेयस्तु—सामान्येन नियममिच्छन्नषत्वमाह । तत् 'स्तम्भुसिवुसहां चडि' इत्यभ्यासस्य षत्वनिषेधवैयर्थ्यप्रसङ्गात् वृत्र्यनाञ्जस्याच्च हेयम् । **परिसोढा** इत्यादौ सहेः सोढूपत्वात् 'सोढः' इति षत्वं निषि-ध्यते । **परिषासोढि** इत्यत्र अभ्यासस्य असोढूपत्वान्नायं निषेधः ॥

**पर्यसीषहत्** इत्यादौ 'स्तम्भुसिवुसहां चडि' इति 'परिनि-विभ्यः' इति षत्वं निषिध्यते । अभ्यासात्परस्य तु 'इणकोः' इति भवत्येव ॥

'दाश्वान् साह्वान्' इत्यत्र वृत्तौ, साह्वानिति निपातनमस्येत्युक्तम् । यदाह—परस्मैपदमुपधादीर्घत्वमद्विर्वचनमनिट्त्वं च निपात्यत इति । कैय्यटे तु 'आधृषाद्वा' इति विभाषितणिच इत्युक्तम् । एवं पदमञ्जर्यामपि । अत्र मते तस्य सहेः परस्मैपदित्वात् क्वसुर्न निपात्य. ॥

**सह्यम्**—'शकिसहोश्च' इति कर्मणि यत् ॥

साहयतीति **साहयः**—'अनुपसर्गाल्लिम्प' इत्यादिना शप्रत्ययः । शपि गुणायौ ॥

**साहः । सहः**—णाभावेऽच् ॥

**सर्वसहा** वसुमती—'संज्ञायां भृतृवृजि' इत्यादिना खच् । 'अरुर्द्विषत्' इति मुम् ॥

सर्वं सहत इति **सर्वसहः**—'पूस्सर्वयोर्दारिसहोः' इति यथासङ्ख्यादस्य सर्वशब्दे कर्मण्युपपदे खच् ॥

**सहिष्णुः**—'अलङ्कृञ्' इत्यादिनेष्णुच् ॥

**सहनः**—'अनुदात्तेतः' इति युच् ॥

**सासहिः**—'सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ' इति किकिनोरन्यतरः ॥

**सहित्रम्**—'अतिलूधूसूखनसहचरइत्रः' इति करणे इत्रप्रत्ययः ॥

**षट्**—'सहेष्षष् लुक् च' इति सहेः षषादेशः, कनिनश्च लुक् । 'ष्णान्ता षट्' इति षट्संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जशसोर्लुक् । **षण्णाम्** इत्यत्र 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति षट्संज्ञकत्वात् आमो नुट् ॥

षण्णां पूरणः **षष्ठः**—'तस्य पूरणे डट्' इति षष्ठ्यन्तात्पूरणे सङ्ख्यान्तरस्योत्पादकेऽर्थे डडिति डटि 'षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्' इति थुगागमे ष्टुत्वम् । टित्त्वात् स्त्रियां—**षष्ठी** । यदा तु पूरणो भागो भवति तदा 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इति स्वार्थे ञप्रत्ययः, चकारादञ्च—**षाष्ठः** । **षष्ठः** । यदा तु पूरणो भागो मानं भवति तदा 'मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च' इति यथासङ्ख्यात् षष्ठस्य माने कन्, अष्टमस्य लुक् । स च 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इति विहितयोः ञाञोः । चकाराद्यथाप्राप्तौ ञाञौ । तेन **षष्ठकं** मानम्, **षाष्ठम्**, **षष्ठम्** इति त्रीणि रूपाणि भवन्ति । 'पूरणगुण' इति पूरणार्थेन षष्ठीसमासनिषेधात् 'तान्युञ्छषष्ठ' इत्यादिप्रयोगश्चिन्त्यः ॥

षट् दन्ता अस्य **षोडन्**—'वयसि दन्तस्य दत्' इति दन्तान्तस्य बहुव्रीहौ वयसि गम्यमाने दत्रादेशः । उगित्त्वान्नुम् ॥

षट् दश च **षोडश**—'चार्थे द्वन्द्वः' इति द्वन्द्वः । समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । तत्र असामर्थ्यात्समुच्चयान्वाचययोर्न समास इति स्थितम् ॥

**षोढा**—'सङ्ख्याया विधार्थे धा' 'अधिकरणविचाले च' इति धाप्रत्ययः । तत्र 'षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेष्टुत्वं च' इति षषोन्त्यस्य उत्वं उत्तरपदादेष्टुत्वम् । 'धासु वा' इति वचनात् उत्वष्टुत्वे धाप्रत्यये पक्षे न भवत इति **षड्धा** इत्यपि भवति । अत्र षकारस्य धाप्रत्यये 'स्वादिषु' इति पदत्वाज्जश्त्वं डकारः । धकारस्य तु ष्टुत्वं 'न पदान्तात्' इति निषेधान्न भवति । पदान्तात् टवर्गात्परस्यानाम्वर्जितस्य स्तोः ष्टुत्वं नेति सूत्रार्थः ॥

## रम क्रीडायाम् ॥ ८४३ ॥

अनुदात्तोऽनुदात्तेत् ॥

**रमते** । **रेमे** । **रेमिषे** । **रेमिध्वे**—क्रादिनियमादिट् ॥

**रन्ता** । **रंस्यते** । **रमताम्** । **अरमत** । **रमेत** । **रंसीष्ट** । **अरंस्त** ॥

**रिरंसते** । **रंरम्यते** । **रंरन्ति** । **रंरतः** । प्रकृत्तिग्रहणन्यायेन 'अनुदात्तोपदेश' इत्यनुनासिकलोपः ॥ **रंरंसि** । **रंरंमि** । **रंरण्वः**—'म्वोश्च' इति नत्वे णत्वम् । **रंरंहि** इत्यत्र अनुनासिकलोपस्यासिद्धत्वात् 'अतो हेः' इति लुङ्न भवति ॥

**अरंरन्**—'मोनो धातोः' इति नत्वम् ॥

**रमयति** । **अरीरमत्** ॥

**विरमति** । **आरमति** । **परिरमति**—'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् ॥

**उपरमति**—'उपाच्च' इति परस्मैपदम् । इदं च सकर्मकविषयम् । अकर्मकत्वे **उपरमति** । **उपरमते** इति; 'विभाषाऽकर्मकात्' इति विकल्पस्योक्तत्वात् । अन्तर्भावितण्यर्थोयं सकर्मकः ॥

**विरराम** । **विरेमतुः** । **विरेमिथ, विररन्थ** । थलि 'उपदेशेऽत्वतः' इति उपदेशेऽत्वतस्तासौ सतस्तत्र नित्यानिटस्थलोण्निषेधेऽपीह भारद्वाजनियमादिट्पक्षे भवति ॥

लुडि 'यमरमनमातां सक्' इति परस्मैपदपरे सक्, सिच-श्रेट्, 'इट ईटि' इति सिज्लोपः—**व्यरंसीत्** । **व्यरंसिष्टाम्** ॥

**रमः** । **राम**—'ज्वलतिकसन्तेभ्यो णः' इति पक्षे णः । मान्तत्वेऽप्यनुदात्तोपदेशत्वात् वृद्धिनिषेधाभावः ॥

**रमणः**—नन्द्यादित्वाण्ण्यन्ताल्लयुः ॥

**स्तम्बेरमः**—'स्तम्बकर्णयोरमिजपोः' इति स्तम्ब उपपदेऽच्प्रत्ययः । 'हस्तिसूचकयोः' इति वचनात् हस्तिविषयश्चायम् । 'तत्पुरुषे कृति' इति सप्तम्या अलुक् ॥

**रन्तिः**—'न क्तिचि दीर्घश्च' इति दीर्घानुनासिकलोपनिषेधः ॥

अयमुदिदिति केचित् क्त्वायामिड्विकल्पमुदाहरन्ति । तन्महान्तो न सहन्ते ॥

**रन्तम्**—'रमेस्तच' इति नप्रत्ययः तकारश्चान्तादेशः ॥

**रमतिः** स्वर्गः । 'रमेर्नित्' इत्यतिप्रत्ययः ॥

**सुरतः** कामः—'सौरमेः क्तः' इति क्तः ॥

**सूरतः** कृपावान् । 'रमेः पूर्वपदस्य च दीर्घः'* इति क्ते पूर्वपदस्य दीर्घः ॥

**रथः**—'हनिकुषि' इत्यादिना क्थन् ॥

**रथ्या** । **रथकट्या**—'खलगोरथात्' 'इनित्रकट्यचश्च' इति यकट्यचौ 'तस्य समूहः' इति विषये । स्वभावात् स्त्रीलिङ्गता ॥

रथस्येदं **रथ्यम्** । 'रथाद्यत्' 'तस्येदं' विषये यत् । अत्र वृत्तौ—'रथाङ्ग एवेष्यते' इति 'रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ तदन्तविधिः' इत्युक्तत्वात् **परमरथ्यमित्याद्यपि** भवति ॥

*रमेर्दीर्घश्च

**आश्वरथः**—'पत्रपूर्वादञ्' इति वाहनवाचिपूर्वपदात् रथान्तादञ् । यतोऽपवादः । अयमपि रथाङ्ग एवेष्यते ॥

रथं वहति **रथ्यम्**—'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति द्वितीयान्तात् वहतीत्यर्थे यत् ॥

रथाय हिता **रथ्या**—'खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च' इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् चतुर्थ्यन्ताद्धितार्थे यत् ॥

वामरथस्यापत्यं **वामरथ्यः**—'कुर्वादिभ्यो ण्यः' इति ण्यः । तत्र 'वामरथस्य कण्वादिवत् स्वरवर्जं' इति पठ्यते । तस्यायमर्थः—वामरथ्यशब्दस्य गर्गाद्यन्तर्गणस्य यञन्तस्य कण्वादेर्यत् कार्यं तद्भवति स्वरं वर्जयित्वा इति तेन 'यञञोश्च' इति गोत्रेऽभिधीयमाने बहुत्वे विधीयमानो लुगस्यापि भवति—**वामरथा** इति । तथा 'यञश्च' 'प्राचां फ्यतद्धितः' इति स्त्रियां विधीयमानो ङीष् फ्यश्चास्यापि भवतः—**वामरथी । वामरथ्यायनी ।** इति । फ्यस्य षित्त्वाद् ङीष् । 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः । 'यस्येति च' इत्यल्लोप । तथा यूनि 'यञञोश्च' इति विधीयमानः फगत्रापि भवति **वामरथ्यायन** इति । 'आपत्यस्य' इति यलोपः तत्रैव 'अनाति' इति निषेधान्न भवति । तथा 'सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण्' इति यञन्तात् सङ्घाङ्कलक्षणेषु विधीयमानोऽण् अस्मादपि भवति—**वामरथानि** सङ्घाङ्कलक्षणानीति । तत्र घोषग्रहणं चोदितम् । तेन **वामरथो** घोष इत्यपि भवति । 'आपत्यस्य' इति यलोप । तथा—'कण्वादिभ्यो गोत्रे' इति गोत्रापत्यवाचिभ्यो यञन्तेभ्य कण्वादिभ्यो विधीयमानोण् अस्मादपि भवति—**वामरथाः** छात्रा इति । 'स्वरवर्जम्' इत्युक्तत्वात् 'ञिन्नित्यादिर्नित्यम्' इति प्रकृतेराद्युदात्तत्वं न भवति, प्रत्ययस्वर एव भवति ॥

## षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु ॥ ८४४ ॥

अयं शदिक्रुशी चानुदात्तौ उदात्तेतः ॥

सीदति—'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः' इति शिति प्रत्यये परे यथासङ्ख्यात् सदेः सीदादेशः ॥

**ससाद** । **सेदतुः** । **ससत्थ** । **सेदिथ**—थलि भारद्वाजनियमात् इट्पक्षे 'थलि च सेटि' इत्येत्वाभ्यासलोपौ । **सेदिव** । **सेदिम** । क्रादिनियमान्नित्यमिट् ॥

**सत्ता** । **सत्स्यति** । **सीदतु** । **असीदत्** । **सीदेत्** । **सद्यात्** ॥

**असदत्**—लृदित्त्वादङ् ॥

**सिसत्सति** । **सासद्यते**—भावगर्हायां 'लुपसद' इति यङ् ॥

**सासत्ति** । लडि सिपि 'दश्च' इति वा रुत्वम्—**असासत्, असासः** ॥

**सादयति** । **असीषदत्** ॥

**निषीदति**—'सदिरप्रतेः' इति अप्रतेरिण्णन्तादुपसर्गात्परस्य षत्वम् । **न्यषीदत्**—'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' इति षत्वम् ॥

**निषित्सति** । **न्यषीषदत्**—इत्यत्र, 'स्थादिष्वभ्यासेन च' इत्युभयत्र षत्वम् । यद्वा—अभ्यासस्य 'सदिरप्रतेः' 'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' इति षत्वम् । उत्तरस्य तु 'इण्कोः' इति ॥

**निषसाद** इत्यत्र तु—'सन्दिष्वञ्ज्यो परस्य लिटि' इति उत्तरखण्डस्य षत्वनिषेधः । **निषेदतुः** इत्यादौ अभ्यासस्य लोपे सति अभ्यासात्परत्वाभावान्नायं निषेधः ॥

**सेदिवान्**—'भाषायां सदवसश्रुवः' इति भूतसामान्ये वा लिट्, तस्य च क्वसु· । अस्मादेव वचनात् भूतसामान्ये सदादिभ्यो लिडनुमीयते । इद चानुमानं विकल्पेन । अस्य च लिटो नित्यं क्वसुरिति न तिङा श्रवणम् । नापि लुङो धातुसामान्यविहितस्य सदादिविशेषविहितेनानेन बाध । न च सदादौ भूतसामान्ये सावकाशस्यास्य लिटः 'अनद्यतने लङ्' 'परोक्षे लिट्' इति भूतविशेषविहिताभ्या सदादिभ्योन्यत्र सावकाशाभ्यां बाध·, तद्विधानेऽप्यस्यानुवर्तनादिति भाष्यादौ स्थितम् । क्रादिनियमादिट्, उगित्त्वान्नुम् । 'सान्तमहत' इति असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने दीर्घे सोः 'हल्ङ्याभ्यः' इति लोपः । सकारस्य संयोगान्तत्वाल्लोपः । भसंज्ञायां वसोः सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति परपूर्वत्वे **आसेदुषः** इत्यादि । सम्प्रसारणविषये नेडागम· प्रवर्तते, पश्चान्निमित्तविवातो भविष्यतीति । हलादौ—'वसुस्रंसु' इत्यादिना दत्वे **आसेदिवद्भ्याम्** इति ॥

**परिषत्**—'सत्सूद्विष' इति क्विप् । **पर्षच्छब्दस्तु**—पृषोदरादित्वात् परेः इकारलोपे ॥

पर्षदा कृतं **पारिषदकम्**—'कुलालादिभ्यो वुञ्' इति 'तेन कृतं' इति विषये वुञ् ॥

परिषद इदं **पारिषदम्**—'पत्राध्वर्युपरिषदश्च' इति तस्येदमर्थेऽञ् ॥

**परिषद्वलः**—'रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्' इति मत्वर्थे वलच् ॥

परिषदं समवैति, तत्र साधुर्वा **पारिषद्यः**—'परिषदो ण्यः' इति योगाभ्यां 'तं समवैति' 'तत्र साधुः' इति विषये ण्यः ।

एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् कृतेकारलोपस्याप्येते प्रत्यया भवन्ति। तथा च भाष्यं 'एओङ्' इत्यत्र—पार्षदकृतिरेषा तत्रभवतामिति। तथा 'सम्प्रति पर्षद्बलोक्तं' इति भारते वलच् दृश्यते। भट्टिकाव्ये च—पर्षद्बल इति वलच्॥

**दिविषत्**—पूर्ववत्क्विप्। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक्। सुषामादिपाठात्षत्वम्। बहुलग्रहणात् लुकि—**द्युसत्** 'दिव उत्' इति पदत्वे उत्वम्॥

**सदः। सादः॥**

निषीदत्यस्मिन्पापमिति **निषादः**—'हलश्च' इत्यधिकरणे घञ्। 'उपसर्गस्य घञि' इति दीर्घः। तत्रैव 'अमनुष्य' इति पर्युदासात् न भवति॥

निषादस्यापत्यं **नैषादकिः**—'अत इञ्' 'सुधातुरकञ्च' इत्यत्र 'व्यासवरुडनिषाद' इत्यकञादेशः॥

**सद्रुः**—'दाधेट्सिशदसदो रुः' इति तच्छीलादौ रुः॥

**निषद्या**—'संज्ञायां समज' इत्यादिना स्त्रियामकर्तरि क्यप्॥

**सदः**—असुन्॥

**सत्त्रम्**—'गुधृविपाचिवचियमिसादिभ्यश्च' इति त्रप्रत्ययः। पापं चिकीर्षति **सत्रायते**—'सत्रकक्ष' इत्यादिना कण्वचिकीर्षायां क्यङ्। कण्वं पापम्। सत्त्रादयो वृत्तिविषये पापार्था इत्युक्तम्॥

**निषद्वरः**—कामकर्दमौ। 'नौ सदेः' इति वरच्॥

**सद्म**—मनिन्॥

सूकरसद्मन इमे **सौकरसद्माः**—'नान्तस्य टिलोपः' इत्यादिना 'अन्' इति प्रकृतिभावापवादः टिलोपः ॥

**सादिः**—'वसिवपिराजिधृषिसदिहनिवाशिवदिभ्य इञ्' इतीञ्-प्रत्ययः । अयं तुदादावपि । उभयत्र पाठे प्रयोजनमुञ्छतिवन्नेयम् । चुरादौ चायम् ॥

## शदॢ शातने ॥ ८४५ ॥

अत्र मैत्रेयः—शदॢ शातने विशीर्णतायां वर्तते । शातनं च विषयभावेन निर्दिश्यते प्रसिद्धत्वादिति ॥

**शीयते**—'पाघ्रा' इत्यादिना शीयादेशः । 'शदेः शितः' इति शिद्भाविनोऽस्मात्तङ् ॥

**शशाद । शेदतुः । शशत्थ, शेदिथ । शेदिव । क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमादिड्विकल्पः ॥**

**शत्ता । शत्स्यति । शीयताम् । अशीयत । शीयेत ।** आशिषि—**शद्यात् ॥**

**अशदत्**—लृदित्वादङ् ॥

**शिशत्सति**—शिद्भाव्येव शदिरात्मनेपदस्य निमित्तं न केवल इति प्रकृतेरतङ्निमित्तत्वात् 'पूर्ववत्सनः' इति न भवति ॥

**शाशद्यते । शाशत्ति ॥**

**शातयति**—'शदेरगतौ तः' इति णौ तत्वम् । गतौ तु गा **शादयति** गोपालक इति तत्वं न भवति । अयमेव गतौ तत्वप्रतिषेधो गत्यर्थत्वे प्रमाणम् ॥

शदः । शादः ॥

शाद्वलम्—'नडशादाद्वलच्' इति वलच् चातुरर्थिकः, डित्त्वाट्टिलोपः ॥

शद्रुः—'दाधेट्सिशदसदो रुः' ॥

शातयतीति शत्रुः । 'तृशदिम्यां त्रुन्' इति त्रुन् । बाहुलकात् णेर्लोपो वृद्ध्यभावश्चेति प्रत्ययलक्षणेन णिचः परत्वात् तत्त्वम् ॥

## कुश आह्वाने रोदने च ॥ ८४६ ॥

सदादयस्त्रयोऽनुदात्ता उदात्तेतः । तथा च व्याघ्रभूतिः—

अदि हर्दि स्कन्दिभिदिच्छिदिक्षुदीन्
शर्दिं सर्दिं स्विद्यतिपद्यती खिदिम् ।
तुर्दिं नुर्दिं विद्यति विन्त इत्यपि
प्रतीहि दान्तान् दश पञ्च चानिटः ॥

दिर्शि दर्शि दंशिमथो मृशि स्पृशिं
रिर्शि रुर्शि क्रोशतिमष्टमं विशिम् ।
लिशं च शान्ताननिटः पुराणगाः
पठन्ति पाठेषु दशैव नेतरान् ॥ इति ॥

क्रोशति । चुक्रोश । चुक्रुशतुः । चुक्रोशिथ । चुक्रुशिव । चुक्रुशिम । क्रादिनियमादिट् ॥

क्रोष्टा । क्रोक्ष्यति । क्रोशतु । अक्रोशत् । क्रोश्यात् । आशिषि—क्रुश्यात् ॥

अक्रुक्षत्—'शल इगुपधात्' इति क्सः ॥

चुक्रुक्षति । 'हलन्ताच्च' इति कित्त्वम् ॥

चोक्रुश्यते । चोक्रोष्टि । हौ—चोक्रुड्डि । धित्वषत्वष्टुत्वजश्त्वानि । लडि तिप्सिपोः—अचोक्रोट् ॥

क्रोशयति । अचुक्रुशत् ॥

आक्रोशकः—'देविक्रुशोश्चोपसर्गे' इति तच्छीलादौ वुञ् ॥

हे क्रोष्टो—'सितनिगमि' इत्यादिना तुन् । अस्य 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने तृजन्तरूपातिदेशात्—क्रोष्टा । क्रोष्टारौ इत्यादि । शसि क्रोष्टून् । अन्यत्र अजादौ 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावविकल्पनात्—क्रोष्ट्रा । क्रोष्टुना । इत्यादि । आमि 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट्तूर्वविप्रतिषेधेन' इति नुटि अनजादित्वात् तृज्वद्भावाभावे नामि दीर्घे—क्रोष्टूनाम् इति भवति ॥

क्रोष्ट्री—'स्त्रियां च' इति तृज्वद्भावः ॥

'मतिबुद्धि' इत्यत्र चकारस्य अनुक्तसमुच्चयार्थत्वात् आक्रुष्टः । वर्तमाने क्तः ॥

क्रोशः । क्रुशः—णाभावे इगुपधत्वात् कः ॥

## कुच सम्पर्चनकौटिल्यप्रतिष्टम्भविलेखनेषु ॥ ८४७ ॥

एतदादयः कसन्ता उदात्ताः उदात्तेतः । रुहिस्त्वनुदात्तः ॥

कूचति । इत्यादि ॥

'कुच शब्दे तारे' इति पठितस्यापीह पाठः सम्पर्चनादावेव **कोच** इति ज्वलादिनिबन्धनो णो यथा स्यादिति ॥

## बुध अवगमने ॥ ८४८ ॥

**बोधति । बुबोध । बोधिता ।** इत्यादि ॥

**बुबुधिषति । बुबोधिषति । बोधित्वा, बुधित्वा**—'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः ॥

रुधिस्सराधिर्युधिबान्धिसाधयः
क्रुधिक्षुधी शुध्यतिबुध्यती व्यधिः ।

इत्यत्र श्यना निर्देशात् दैवादिकस्यैव ग्रहणं नास्य । नापि 'बुधिर् बोधने' इति वक्ष्यमाणस्य ॥

**बोबुद्धयते । बोबोद्धि**—'झषस्तथोः' इति धत्वे जश्त्वम् । **बोभोत्सि**—'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति भष्त्वे, 'खरि च' इति चर्त्वम् । लोटि हेर्धिभावे जश्त्वे च—**बोबुद्धि । बोबुधानि**—'नाभ्यस्तस्य' इति गुणनिषेधः । लङि तिपि—**अबोभोत् ।** पदत्वात् भष्भावो जश्त्वं च । सिपि 'दश्च' इति वा रुत्वे—**अबोभोः** इत्यपि भवति ॥

**बोधयति** देवदत्तः । **अबूबुधत्** देवदत्तः 'अणावकर्मकात्' इति परस्मैपदम् । यदाऽयमणावचित्तवत्कर्तृकस्तदाऽपि 'बुधयुध' इति परस्मैपदमेव । न च तत्र युधादिसाहचर्यात् बुध्यतेरेव ग्रहणमिति वाच्यम् । एवं हि बुधिग्रहणं व्यर्थं स्यात्, यतो बोधने बोधयते इति दुर्वारम् । न च बोधतिबुध्यत्योरर्थभेदः ॥

एवम्—'दीपजन' इति लुडि तशब्दे वा चिण्विधावापि श्यन्विकरणैः आत्मनेपदिभिश्च साहचर्येऽपि बुध्यतिबोधत्योः द्वयोर्ग्र-

हणमिति—**व्यत्यबोधि, व्यत्यबोधिष्ट** इति द्वयमपि भवति । अस-त्यपि वाऽस्य ग्रहणे न विशेषः । यतो दैवादिकेनैव **व्यत्यबोधि व्यत्यबोधिष्ट** इति रूपद्वयं दुर्वारम् ॥

भावादिकर्मणोः **बुधितमनेन । बोधितमनेन ।** इत्यादि ॥

## रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च ॥ ८४९ ॥

अनुदात्त उदात्तेत् ॥

**रोहति । रुरोह । रुरोहिथ । रुरुहिव ।** क्रादिनियमादिट् ॥

**रोढा**—गुणढत्वधत्वष्टुत्वढलोपाः ॥

**रोक्ष्यति**—'षढोः कस्सि' इति कत्वम् ॥

**रोहतु । अरोहत् । रोहेत् ।** आशिषि—**रुह्यात्** ॥

**अरुक्षत्**—'शल इगुपधादनिटः क्सः' ॥

**रुरुक्षति । रोरुह्यते । रोरोढि । रोरूढः**—'ढ्रलोपे' इति दीर्घः ॥

**रोरोक्षि ।** लोटि—सेः हौ धित्वढत्वष्टुत्वढलोपदीर्घेषु—**रोरूढि** ॥

लङि—**अरोरोट् । अरोरूढाम्** ॥

**रोहयति । अरूरुहत्** ॥

**रोपयति । अरूरुपत् ।** 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' इति णौ पक्षे हकारस्य पकारः ॥

**आरूढो वृक्षम् । आरूढो वृक्षः**—'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादिना कर्तृकर्मणोः क्तः ॥

**रोढ्**—'ह्मसृरुहियुषिभ्य इतिः' इतीतिः ॥

**रोहितः । लोहितः**—'रुहेरितश्च लो वा' इतीतः । पक्षे रफस्य लत्वम् ॥

अलोहितो लोहितो भवति **लोहितायते, लोहितायति**। 'लोहितादिडाज्भ्य· क्यप्' इति च्व्यर्थविषयादच्व्यन्तात् भवत्यर्थे क्यष्। 'वा क्यषः' इति पक्षे तङ्॥

लोहित एव **लोहितको** मणिः—'लोहितान्मणौ' इति मणौ वर्तमानात् लोहितशब्दात्स्वार्थे कन्। **लोहितकं** कोपेन मुखं 'वर्णे चानित्ये' इति अनित्यवर्णे वर्तमानात् लोहितशब्दात् स्वार्थे कन्। स्त्रियां 'लोहिताल्लिङ्गबाधनं वा' इत्युक्तत्वात्, 'वर्णादनुदात्तात्' इति ङीपा पक्षे कनो न बाधेति **लोहितिका** इति भवति। अन्यदा तु ङीम्नकारयोः लिङ्गविशिष्टपरिभाषया कनि ह्रस्वे च **लोहिनिका** इति॥

लोहितेन रक्तो **लोहितकः** पटः—'रक्ते' इति लाक्षादिना रक्तेऽर्थे वर्तमानात् लोहितशब्दात् स्वार्थे कन्। अत्रापि स्त्रियां 'लोहितात् लिङ्गबाधनं वा' इत्यस्यानुवर्तनात् **लोहितिका पटी, लोहिनिका पटी**। इत्युभयं भवति॥

**रोहिषो** मृगभेदः। 'रुहेर्वृद्धिश्च' इति टिषचि वृद्धिः। स्त्रियां—**रौहिषी**॥

## कस गतौ॥ ८५०॥

**कसति। चकास। कसिता। अकसीत्। अकासीत्॥**

**चिकसिषति। चनीकस्यते। चनीकसीति। चनीकधि** इत्यत्र हेर्धित्वे 'धिच' इति सलोपः। तस्यासिद्धत्वात् 'अतो हेः' इति लुङ् न भवति। लडि तिपि 'तिप्यनस्तेः' इति सकारस्य पदान्तत्वात् दत्वे—**अचनीकत्**। सिपि तु 'सिपिधातोरुर्वा' इति रुत्वम्। 'नीग्वञ्चु' इत्यभ्यासस्य नीक्॥

**कासयति । अचीकसत् ॥**

**कस्वरः**—'स्थेशभास' इति वरच् ॥

शब्दकुत्साया कसते इति गतम् । कुचादय उदात्ता उदात्तेतः । रुहिस्तु अनुदात्तः ॥

## वृत् ॥

ज्वलादयो वृत्ता इत्यर्थः ॥

## अथोभयपदिनः.

## हिक्क अव्यक्ते शब्दे ॥ ८५१ ॥

एतदादयो गूहत्यन्ता उदात्ताः स्वरितेतः ॥

**हिक्कति । जिहिक्क । हिक्किता । हिक्किष्यति । हिक्कतु । अहिक्कत् । हिक्केत् । आशिषि—हिक्क्यात् । अहिक्कीत् ॥**

**जिहिक्किषति । जेहिक्क्यते । जेहिक्कि । 'स्को·' इति कलोपस्यासिद्धत्वात् अलघूपधत्वान्न गुणः ॥**

**हिक्कयति । अजिहिक्कत् ॥**

**हिक्कते । जिहिक्के । हिक्किता । हिक्कितासे । हिक्किष्यते । हिक्कताम् । अहिक्कत । हिक्केत । हिक्किषीष्ट । अहिक्किष्ट ॥**

**जिहिक्किषते** 'पूर्ववत्सनः' इति तङ् ॥

**हिक्कितम् ॥**

## अञ्चु गतौ याचने च ॥ ८५२ ॥

**अञ्चति । इत्यादि ॥**

अञ्चु गतिपूजनयोः इत्यत्रैवोदाहृतम् ॥

**अञ्चते । आनञ्चे । अञ्चितासे ॥**

**अञ्चिचिषते ॥**

पूर्वत्र गतौ पाठः क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वे परस्मैपदार्थः । अचु इत्येके इति मैत्रेयः । क्षीरस्वामी तु—'अञ्चु गतौ । अञ्चि गतौ' इति द्वौ धातू पपाठ । तत्र इदित्त्वप्रयोजनं **अञ्चितः** इत्यादौ न लोपाभावमाहुः । काश्यपमैत्रेयसम्मताकारास्त्वस्य इदित्त्वं नानुमन्यन्ते । अञ्चू इति पठन् शाकटायनोऽपि उदित्पक्ष एवानुकूलः । तेन ह्युदित्स्थान एव ऊदित्पठ्यते ॥

## टु याचृ याच्ञायाम् ॥ ८५३ ॥

**याचतिं । ययाच । याचिता ॥**

**याचते । ययाचे ॥**

**यियाचिषते । यायाच्यते । यायाचीति । यायाक्ति ॥**

**याचयति । अययाचत् ।** 'नाग्लोपि' इति ह्रस्वनिषेधः ॥

न याचत इति **अयाची** । ग्रहादिषु 'याचृव्याह्वव्रजवदवसां प्रतिषिद्धानाम्' इति पाठात् णिनिः । प्रतिषिद्धानां नञ्पूर्वाणामित्यर्थः ॥

**याचथुः**—टित्वेऽथुच् । केचित् ङित्वं पठन्ति । तदपि प्रमाणम् । तेन **याचित्रम्** इत्यपि भवति ॥

याचितेन निर्वृत्तं **याचितकम्** । 'अपमित्ययाचिताभ्यां कन्नौ' इति तृतीयान्तात् निर्वृत्तमित्यर्थे यथासञ्ज्ञात् कन् । अय-शब्दस्याव्ययत्वान्न तृतीयाऽस्ति ॥

याच्ञा—'यजयाच' इत्यादिना नङ्। 'स्तोश्चुना श्चुः' इति श्चुत्वम् ॥

याच्यम्—'यजयाचरुचप्रवचर्चश्च' इति ण्यति कुत्वनिषेधः। 'निष्ठायामनिटः कुत्ववचनं' इति वार्तिकमते कुत्वस्य नैव प्रसङ्गः ॥

## रेटृ परिभाषणे ॥ ८५४ ॥

रेटति । रिरेट । रेटिता ॥

रिरेटिषते । रेरेट्यते । रेरेट्टि ॥

रेटयति । अरिरेटत् । ऋदित्त्वान्नोपधाह्रस्वः ॥

रेटते । रिरेटे । रेटिता इत्यादि ॥

रेटित्वा । रेटितः ॥

## चते* याचने च ॥ ८५५ ॥

चचाति । चचात । चेततुः । चतिता । अचतीत्—एदित्त्वान्न वृद्धिः ॥

चिचतिषति । चाचत्यते । चाचत्ति ॥

चातयति । अचीचतत् ॥

चतते । चेते । चिचतिषते । इत्यादि ॥

चतित्वा । चतितः ॥

चत्यम्—'तकिशसिचति' इति यत् ॥

च■ः—'मन्दिवाशि' इत्यादिनोरच् ॥

न चतुरः अचतुरः । अविद्यमाना वा चतुरा यस्य अच-

*चते चदे.

तुरः; तस्य भावः **आचातुर्यम्**—ब्राह्मणादिपाठात् ष्यञ्। 'न नञ्पूर्वात् तत्पुरुषात्' इति निषेधोऽत्रैव अचतुरादिपर्युदासात् न भवति॥

**चत्वारः**—'चेतेरुरन्' इत्युरन्। 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इति सर्वनामस्थाने आमागम.। तदन्तविधेरत्रेष्टत्वात् **प्रियचत्वाः**। **प्रियचत्वारौ**। **प्रियचत्वारः** इत्यादावप्याम् भवति। हे **प्रियचत्वः** इत्यत्र तु 'अम्सम्बुद्धौ' इत्यमागम.। अयं समास एव। केवलस्य नित्यबहुवचनान्तत्वात्संबुद्ध्यभावात्। आमि 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुटि—**चतुर्णाम्**। अत्रापि तदन्तविधिना **परमचतुर्णाम्**, इत्यत्रापि नुड्भवति। 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति बहुवचननिर्देशात् यत्र सङ्ख्यायाः प्राधान्यं तत्रैवायमिति **प्रियचतुराम्**। इत्यादौ अप्रधाने नुण्न भवति। **चतुर्षु** इत्यत्र 'रोः सुपि' इति नियमात् न विसर्जनीयः। स्त्रियाम्—'त्रिचरोः स्त्रिया तिसृचतसृ' इति विभक्तौ चतस्रादेशे, 'अचि र ऋतः' इत्यजादावृकारस्य पूर्वसवर्णदीर्घापवादे च रेफे **चतस्रः** इत्यादि। 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप् स्वस्रादिपाठात् 'न षट्स्वस्रादिभ्य.' इति निषिध्यते। **चतसृणाम्** इत्यत्र 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट्पूर्वविप्रतिषेधेन' इति नुटि अजादिविभक्त्यभावात् न रेफादेश.। नामि दीर्घो 'न तिसृचतसृ' इति प्रतिषेधान्न भवति। चतस्रादेशस्तदन्तेऽपि भवतीति **परमचतस्र** इत्यादि भवति। यत्र बहुव्रीह्यादिना समासस्यान्यलिङ्गत्वं तत्रापि चतुरर्थस्त्रीत्वाश्रयोऽयमादेशो भवति। प्रियाश्चतस्रो यस्य **प्रियचतसा** ब्राह्मणः **प्रियचतस्रौ**इत्यादि। सौ अनडादेशः। अजादौ 'अचि र ऋतः'। अयं परत्वात् पूर्वसवर्णत्वं बाधते। 'ऋतोऽङि सर्वनामस्थानयोः' इति गुणं पूर्वविप्रतिषेधेन। तेन अजादौ

सर्वत्र रेफ एव भवति । अत्र 'नद्यृतश्च' इति कप् सन्नि पातपरिभाषया न भवति । कपि हि प्रकृतिविभक्त्योरानन्तर्यं विहन्यते ॥

प्रियाश्चत्वारोऽस्याः प्रियचत्वाः स्त्री । **प्रियचत्वारौ**—इत्यत्र अङ्गस्य स्त्रीत्वेऽपि चतुरर्थस्यास्त्रीत्वात् चतस्रादेशो न भवति ॥

चतुर्णां पूरणः **चतुर्थः**—'तस्य पूरणे डट्' इति डटि 'षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्' इति थुगागमः ॥

**तुरीयम् । तुर्यम्**—'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' इति पूरणार्थे छयतौ, चशब्दस्य च लोपः ॥

तुरीयं भिक्षायाः **तुरीयभिक्षा** । चतुर्थं भिक्षायाः **चतुर्थभिक्षा**—'द्वितीयतृतीयचतुर्थतुरीयाण्यन्यतरस्याम्' इति द्वितीयादीन्येकदेशवाचिना षष्ठ्यन्तेन सह वा समस्यन्ते इति तत्पुरुषः एकदेशिसमासः । अन्यदा षष्ठीसमासे **भिक्षातुरीयम् । भिक्षाचतुर्थम्** । इत्यपि भवति पूर्वनिपातभेदः ॥

**चतुष्टयम्**—'सङ्ख्याया अवयवे तयप्' इति अवयवे वर्तमानायास्सङ्ख्याया अवयविनि तयप् । 'खरवसानयोः' इति रेफस्य विसर्जनीये 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' इति तस्य षत्वं ष्टुत्वं तकारस्य । जसि 'प्रथमचरमतय' इति वा सर्वनामत्वात् **चतुष्टये, चतुष्टयाः** ॥

स्त्रि[illegible] 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीपि—**चतुष्टयी** ॥

**चतुर्भुङ्क्ते**—चतुरो वारान् भुङ्क्ते इत्यर्थः । 'द्वित्रिचतुर्भ्यस्सुच्' इति क्रियाभ्यावृत्तिगणने सुच् । 'रात्सस्य' इति

सकारलोपः । एककर्तृकाणां तुल्यजातीयानां क्रियाणां जन्मसङ्ख्यानं क्रियाभ्यावृत्तिगणनम् । स्वाद्युत्पत्तिः । स्वरादिषु 'सुच्' इति पाठात् अव्ययत्वात् सुब्लुक् ॥

**चतुःकरोति । चतुष्करोति**—'द्वित्रिभ्यश्चतुरिति कृत्वोर्थे' इति कृत्वोर्थे वर्तमानानामेषां विसर्जनीयस्य कुप्वोर्वा षत्वम् । अन्यदा 'कुप्वोः कःपौ च' इति विसर्जनीयजिह्वामूलीयौ ॥

**चतुष्कपालम् । चतुष्पात्**—'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इकारोकारोपधस्य यो विसर्जनीयोप्रत्ययसम्बन्धी तस्य कुप्वोः ष इति षत्वम् ॥

अविद्यमानानि विशिष्टानि शोभनानि चत्वारि यस्य सः **अचतुरः । विचतुरः । सुचतुरः**—'अचतुर' इत्यादिना बहुव्रीहावचि निपात्यन्ते ॥

त्रयश्चत्वारोवाऽर्थोऽन्यपदार्थः—**त्रिचतुराः** । वृत्तिस्वाभाव्यात् सन्दिग्धेष्वस्य वृत्तिः ॥

चतुर्णा समीपभूता **उपचतुराः**—'सङ्ख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्यासङ्ख्येये' अव्ययादिपूर्वपदानि सङ्ख्येयवाचीनि सङ्ख्यया समस्यन्ते इति बहुव्रीहिः । 'चतुरोच्प्रकरणे न्युपाभ्यामुपसङ्ख्यानम्' इत्यच्समासान्तः । **चात्वालम्**—यत उत्तरवेद्यर्थाः पांसवो ह्रियन्ते तदुच्यते । 'स्थाचतिमृजेरालच्वालजालीयचः' इति यथासङ्ख्यात् वाऽऽलच् ॥

**चत्वरम्**—'छित्वरचत्वर' इति ष्वरचि निपात्यते । उणादिवृत्तौ 'छद अपवारणे' इत्यस्य निपातनमुक्तम् ॥

अयं द्वितीयादिश्च पक्ष्यते । छदति । छदते* । इत्यादि ॥

## प्रोथृ पर्याप्तौ ॥ ८५६ ॥

प्रोथति । पुप्रोथ । प्रोथिता । प्रोथते । इत्यादि ॥

पुप्रोथिषति, पुप्रोथिषते । पोप्रोथ्यते । पोप्रोथीति, पोप्रोत्ति ॥

प्रोथयति । अपुप्रोथत् । ऋदित्त्वान्नोपधाह्रस्वः ॥

'प्रोथदश्वो न यवसे'† इत्यत्र 'प्रोथति सूदति अश्व इवायमग्निः' इति भट्टभास्करः । अयमेव 'अपप्रोथ दुन्दुभे दुच्छुनान्'‡ इत्यत्र—प्रोथय मारय दुच्छुनान् दुरवलिप्तान् । उपसर्गान्तरविकारः । प्रोथृ पर्याप्तिगतौ इत्याह । क्षुरे तु—अपप्रोथनं§ हुंकरणमिति ॥

प्रोथः—'हलश्च' इति करणे घञ् ॥

## मिदृ मेदृ मेधाहिंसनयोः ॥८५७-५८॥

अयं पाठो देवादीनाम् ॥

मेदति । मिमेद । मेदिता । मेदिष्यति ॥

मिमिदिषति, मिमेदिषति । मिदित्वा, मेदित्वा । मेमिद्यते । मेमेत्ति । मेदयति । अमिमेदत् ॥

मेदृङ् इत्यादि ॥

तायस्य तु मिमेदतुः इत्यादौ क्ङितोरेकारश्रवणं विशेषः ॥

---

*चदति । चदते । † तै. स ४-४-३. ‡ तै. स ४-६-६. §प्रोथन.

क्षीरस्वामिनस्थान्तावेतौ । भिदादिसूत्रे मेधाशब्दं व्युत्पादयन् न्यासकारो धान्तावाह । भोजराजस्तु मेधिं नानुमन्यते । यदाह— अड्विधौ रिखिलिखिसिधिमिधिगुधिभ्यो* गुणश्चेति । कौमाराश्चात्रैवानुकूलाः ॥

मेदत इति द्युतादौ स्नेहने गतम् ॥

## मेधृ सङ्गमे च ॥ ८५९ ॥

मेधनं । मिमेध । मेधिता । मेधते । इत्यादि ॥

मेधा—भिदादित्वादङ् । गृहमेधो देवताऽस्य **गृहमेध्यम्** । **गृहमेधीयम्**—'द्यावापृथिवी' इत्यादिना छयतौ ॥

## णिद णेद कुत्सासन्निकर्षयोः॥ ८९०-९१

**नेदति** इत्यादि, मिदमेदवत् ॥

**प्रणेदति**—'उपसर्गात्' इति णत्वम् ॥

निन्दति इति कुत्सायां गतम् ॥

## शृधु मृधु उन्दने ॥ ८९२-९३ ॥

उन्दनं क्लेदनम् । शर्धति । शशर्ध । शशृधतुः । शर्धिता ॥ शर्धते । शशृधे । इत्यादि ॥

**शिशर्धिषति** । **शरीशृध्यते** । **शरीशर्धि** । 'झषस्तथोः' इति धत्वे जश्त्वम् । लोटि हौ **शरीशृद्धि** । लडि तिपि **शा-**

*गुहिभ्यो.

रीशर्त् 'रात्सस्य' इति नियमात् न संयोगान्तलोपः । सिपि तु जश्त्वे 'दश्च' इति वा रुत्वे 'रोरि' इति लोपे 'ढ्रलोपे' इति दीर्घ **अशरीशाः** इत्यपि भवति । एवं रुग्रिकोरपि ॥

**शर्धयति । अशशर्धत् । अशीशृधत् । 'उरृद्धा' ॥**

**शर्धित्वा, शृद्ध्वा ॥**

**शृद्धः ॥**

**एवं मर्धति ।** इत्यादि ॥

शृधेः वृतादौ पाठः शब्दकुत्सायां क्रियाफलस्य अकर्तृगामित्वेऽपि आत्मनेपदार्थः । तथा 'वृङ्चस्स्यसनोः' इति स्यसनोः लुटि च क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वेऽपि परस्मैपदार्थः । तथा पुषादिद्युतादीत्यङर्थश्च । वृतादिश्च द्युताद्यन्तर्गणः । तथा 'न वृङ्चश्रतुर्म्य' इति स्यसनो. परस्मैपद इण्निषेधार्थश्च ॥

## बुधिर् बोधने ॥ ८६४ ॥

**बोधति । बुबोध । बोधिता । अबुधत्, अबोधीत्**—'इरितो वा' इत्यङ् विकल्पेन ॥

**बोधते । बुबुधे ।** इत्यादि ॥

क्षीरस्वामी तु बुधेत्यनिरितं पपाठ । बोधति इति ज्वलादिः परस्मैपदी अवगमने गतः । अस्य तशब्दे 'दीपजन' इति चिण्नेति **अबोधिष्ट** इत्येव भवति । तत्र हि दैवादिकैः नित्यात्मनेपदि एकर्मकैः साहचर्यात्तादृश एव बुधिर्गृह्यते । तथा 'बुधयुध' इत्यत्र युधनशजनैरकर्मकैः साहचर्यान्नास्य ग्रहः । स्पष्टं चैतदेवं तत्र वृत्तौ । तेन **बोधयति बोधयते** इति भवति ॥

## उ बुन्दिर् निशामने ॥ ८६५ ॥

निशामनं चक्षुर्विज्ञानम् । **बुन्दति** । **बुबुन्दे** । **बुन्दिता**। **अबुन्दत्** । **अबुन्दीत्** । **बुबुन्दिषति** । **बोबुन्द्यते** । **बोबुन्ति** । हौ डित्त्वादनुनासिकलोपे **बोबुद्धि** ॥

**बुन्दते** । **बुबुन्दे** । इत्यादि ॥

उदित्त्वात् क्त्वायामिड्विकल्पनात्—**बुन्दित्वा** । **बुन्त्वा** ॥

**बुन्नम्**—नलोपे 'रदाभ्याम्' इति निष्ठानत्वम् ॥

**बुद्बुदम्**—घञर्थे के नलोपे 'कृञादीनां के द्वे भवतः' इति द्विर्वचनम् । पृषोदरादित्वान्न हलादिशेषः ॥

## वेणृ गतिज्ञानचिन्तानिशामनवादित्रग्रहणेषु ॥ ८६६ ॥

वादित्रग्रहणं नाम वादित्रस्य वाद्यभाण्डस्य वादनार्थं ग्रहणमिति क्षीरस्वामी ॥

**वेणति** । **विवेण** । **वेणिता** । **विवेणिषति**। **वेवेण्यते**। **वेवेण्टि** । **वेणयति** । **अविवेणत्** । **वेणते** । **विवेणे** । इत्यादि ॥

**वेणिः** । **वेणी** । इन् । 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीष्वा ॥

'उत माता महिषमन्ववेनत्'* इत्यत्र भाष्यकारास्तवर्गपञ्चमान्तममुं पेठुः ॥

## खनु अवदारणे ॥ ८६७ ॥

---

* तै. स. ३-२-११.

**खनति । चखान । चख्नतुः**—'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' इत्यजादौ क्ङित्युपधालोपः । तस्य 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वात् द्विर्वचनम् ॥

**खनिता । खनिष्यति । खनतु । अखनत् । खनेत् ।** आशिषि—**खन्यात्, खायात्**—'जनसनखनां सञ्झलोः' 'ये विभाषा' इत्यात्वम् ॥

धातुपारायणे तु 'लोपो यि' इतिवत् 'ये विभाषा' इति वर्णमात्रे निर्देष्टव्ये य इत्यत्वतो निर्देशात् इदमात्वं यग्यङोरेव न तु यासुटि इत्युक्तम् ॥

**अखनीत्, अखानीत् । चिखनिषति । चङ्ख्न्यते, चाखायते । चङ्ख्न्ति । चङ्खातः**—'अनुनासिकस्य' इति दीर्घं परत्वाद्बाधित्वा 'जनसनखनाम्' इत्यात्वं भवति । तत्र झल्ग्रहणं सनोत्यर्थं, तस्यैव झलादेः सनः सम्भवात् । तेन **चिखनिषति** इत्यत्रात्वाभावः ॥

**खानयति । अचीखनत् ॥ खनते । चख्ने ।** इत्यादि ॥

**खेयम्**—'ईच खनः' इति क्यपि तत्सन्नियोगेन ईकारेऽन्तादेशे आद्गुणः । इ. इ. इति प्रश्लेषेण इकारद्वयं विधीयते । एकस्मिन्विधीयमाने 'ये विभाषा' इत्यात्वाभावपक्षे सावकाशोऽसौ परेणान्तरङ्गेण चात्वेन बाध्येत । तद्धि यकारादौ बुद्धिस्थ एव विधानादन्तरङ्गम् । ईकारस्तु क्यप्सन्नियोगेन विधानात् बहिरङ्गः यदा तु—'ये विभाषा' इति परसप्तमी तदा आत्वमेव बहिरङ्गम् । ईत्वं तु क्यप्सन्नियोगेन विधानादन्तरङ्गमिति नार्थः प्रश्लेषेणात्वबाधनार्थेन इकारान्तरविधानेन । एवं च सूत्रेऽपि

ह्रस्व एव पठितव्यः । नन्वेवमेकादेशस्य 'षत्वतुकोरसिद्धः' इत्यसिद्धत्वात् ह्रस्वाश्रयस्तुक् स्यात् । नैतत् । पदान्तपदाद्योरेकादेशोऽसिद्ध इत्येवं तत्र व्यवस्थापनात् ॥

**खनक, खनकी**—'शिल्पिनि ष्वुन्' इति ष्वुन् । तत्र च 'नृतिखनिरञ्जिभ्य.' इति परिगण्यते ॥

परित. खाता **परिखा**—'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डः ॥

खायतेऽनेनेति **खनित्रम्**—अर्तीत्यादिना करणे इत्रः ॥

**खात्वा, खनित्वा**—उदित्त्वादनिट्पक्षे झलादिकित्परत्वात् पूर्ववदात्वम् ॥

**निखाय, निखय**—'ये विभाषा' इत्यात्वं वा ॥

**खात**—'यस्य विभाषा' इत्यनिट्त्वम् ॥

खन्यतेऽनेन अत्रेति वा **खनः**—'खनो घ च' इति करणाधिकरणयोर्घः । चकारात् घञि—**आखानः** । **आखः**—'डो वक्तव्य' इति ड ॥

**आखरः**—'डरो वक्तव्यः' इति डरः ॥

**आखनिकः**—'इको वक्तव्यः' इतीकः ॥

**आखनिकबक**—'इकबको वक्तव्यः' इतीकबकः ॥

आखादयः खनित्रवचनाः ॥

परिखा भवेदस्मिन् अस्य वा **पारिखेयं** स्थलम्—'परिखाया ढञ्' इति प्रथमान्तात् सम्भावनोपाधिकात् अस्यास्मिन्नित्यर्थे ढञ् ॥

आखनतीति **आखुः**—'आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च' इति डप्रत्यये डित्त्वाट्टिलोपः ॥

**मुखम्**—'डित् खनेर्मुट् चोदात्तः' इत्यच्प्रत्यये डित्त्वाट्टिलोपः। धातोर्मुडागमश्च ॥

मुखे भवं **मुख्यम्**—'दिगादिभ्यो यत्' इति यत्प्रत्ययः। इह पाठोऽशरीरावयवार्थ। शरीरावयवस्य तु 'शरीरावयवाद्यत्' इत्येव सिद्धः ॥

मुखमिव **मुख्या**—'शाखादिभ्यो यः' इतीवार्थे यः ॥

मुखतो भवं **मुखतीयम्**—'मुखपार्श्वतसोर्लोपः' इति गहादिपाठात् छप्रत्यये सलोपे यस्येति लोपः ॥

परिमुखं भव **पारिमुख्यम्**—'अव्ययीभावाच्च' इति ञ्यः। तत्र हि—'परिमुखादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति वार्तिकम्। तेन परिखादेरेवाव्ययीभावादयं प्रत्ययः ॥

परिमुखं वर्तते **पारिमुखिकः** सेवकः—'परिमुखं च' इति द्वितीयान्तात् अस्माद्वर्तते इत्यस्मिन्नित्यर्थे ठक् ॥

मुखस्य सदृशं **यथामुखम्** प्रतिबिम्बम्। समं मुख **सम्मुखम्**। समशब्दः सर्वपर्यायः। यथामुखं दर्शनः **यथामुखीनः** आदर्शादि। एव संमुखस्य दर्शनः **संमुखीनः**। 'दर्शने' इत्यधिकरणे ल्युट्। 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः' इति षष्ठचन्ताभ्यामाभ्यां दर्शन इत्यर्थे खः। अत एव निर्देशात् सादृश्येऽपि '**यथामुखम्**' इत्यव्ययीभावः। तथा समोऽन्त्य अ। अयं च लोपः प्रत्ययसन्नियोगेनेति केवलो न प्रयोगार्ह इति व्याख्यातारः। **यथामुखीना सीताया** इति भट्टिप्रयोगश्चिन्त्यः ॥

**गौरमुखा** नाम काचित्—'नखमुखात्संज्ञायाम्' इति स्वाङ्गलक्षणस्य पाक्षिकस्य ङीषो निषेधात् टाबेव ॥

असंज्ञायां तु **सुमुखी, सुमुखा** इत्युभयं भवति ॥

## चीवृ आदानसंवरणयोः ॥ ८६८ ॥

**चीवति । चिचीव । चीविता । चिचीविषति । चेचीव्यते । चीवयति । अचिचीवत् । चीवते । चिचीवे।** इत्यादि ॥

ऊङ्भावित्वान्नास्य यङ्लुगस्ति । अनूदिदित्येके ॥

**चीवरम्**—'छित्वर' इत्यादिना वरचि वलोपः । चिनोतेर्वा निपातनम् ॥

**सञ्चीवरयते** भिक्षुः चीवरमर्जयति परिधत्ते इति वा अर्थः । 'पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्' इति णिङ् । तत्र 'चीवरादर्जने परिधाने वा' इति वृत्तिः । अयं चुरादौ च ॥

## चायृ पूजानिशामनयोः ॥ ८६९ ॥

**चायति । चचाय । चायिता ॥**

**चिचायिषति । चेकीयते**—'चायः की' इति यङ्लुकोः कीभावः । दीर्घोच्चारणं यङ्लुगर्थमिति स्थितम् । **चेकयीति, चेकेति । चेकितः ॥ चाययति । अचचायत् ॥**

**चायते । चचाये ।** इत्यादि । **चायित्वा ॥**

**अपचितः**—'अपचितश्च' इति निष्ठायामनिट्त्वम्, चिभावश्च पक्षे निपात्यते। अन्यदा—**अपचायितम्**। 'क्तिनि नित्यं चिभावो वक्तव्यः'—**अपचितिः** ॥

**चनः** अन्नम्—'चायतेर्ह्रस्वश्च' इत्यसुनि नुडागमो ह्रस्वश्च। 'वलिलोपः' ॥

## व्यय गतौ ॥ ८७० ॥

**व्ययति । वव्याय । व्ययिता । विव्ययिषति । वाव्ययते । वाव्ययीति, वाव्याति । व्याययति । अविव्ययत् ॥ व्ययते । वव्यये** इत्यादि ॥

व्ययत इति वित्तत्यागे नित्यमात्मनेपदी । अय चुरादावदन्तः॥

## दाशृ दाने ॥ ८७१ ॥

**दाशति । ददाश । दाशिता । दिदाशिषति । दादाश्यते । दादाष्टि । दाशयति । अददशत् ॥ दशने । ददाशे ।** इत्यादि ॥

**दाश्वान्**—'दाश्वान्साह्वान्' इति क्वसावद्वित्वमनिट्त्वं च निपात्यते ॥

दाशन्तेऽस्मै इति **दाशः**—'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' इत्यचि निपात्यते ॥

पुरे श्यत इति पुरोडाश । तत्सहचरितग्रन्थोऽपि पुरोडाशः। पुरोडाशस्य संस्कारकः 'मखस्य शिरोऽसि' इत्यादिमन्त्र **पौरोडाशः** । पुरोडाशस्य **पौरोडाशस्य** च व्याख्यानं तत्र भवं वा

**पुरोडाशिकम् । पौरोडाशिकम्**—'पौरोडाशपुरोडाशात् ष्ठन्' इति प्रत्येकं सप्तमीषष्ठचन्ताभ्यामाभ्यां भवव्याख्यानयोरर्थयोः ष्ठन् । अत्रैव निर्देशात् दाशेर्दकारस्य डकारः ॥

अस्मादनन्तर स्वामिकाश्यपावयतिं पठतः । तदनार्ष प्रतीयते । यदाह—'उपसर्गस्यायतौ' इत्यत्र हरदत्तः—अयतिरनुदात्तेत् । इति ॥

## भेषृ भये ॥ ८७२ ॥

क्वचित्तु गताविति पठ्यते । **बिभेषति । बिभेष । भेषिता । बिभेषिषति । बेभेष्यते । बेभेष्टि । भेषयति । अबिभेषत् । भेषते । बिभेषे ।** इत्यादि ॥

## भ्रेषृ गतौ ॥ ८७३ ॥

भेषृ इत्यपीति मैत्रेय. । क्वचित्तु पठ्यते—चलन इति । **भ्रेषति** इत्यादि पूर्ववत् ।

**भ्रेषः** ॥

## अस गतिदीप्त्यादानेषु ॥ ८७४ ॥

**असति । असिता । असिसिषति । आसयति । आसिसत् । आसते । आसे ।** इत्यादि ॥

अष इत्येक इति क्षीरस्वामिमैत्रेयौ । शाकटायनस्तूभावपि ॥

## स्पश बाधनस्पर्शनयोः ॥ ८७५ ॥

स्पशनं ग्रथनमिति स्वामी । ग्रहणश्लेषयोरयं चुरादौ ॥

**स्पशति । पस्पाश । स्पशिता । अस्पाशीत्, अस्पशीत् । पिस्पशिषति । पास्पश्यते । पास्पष्टि ॥**

**पस्पशा**—यङ्लुगन्तादचि टाप् । 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति न अभ्यासस्य दीर्घः ॥

**स्पाशयति । अपस्पशत्**—'अत्स्मृदृत्वर' इत्यादिना अभ्यासस्यात्वम् ॥

**स्पशते । पस्पशे ।** इत्यादि ॥

अत्र स्वामी—पष इत्येक इति । तेन पाषण्ड. पाषाण इत्याह । दुर्गशाकटायनयोरप्ययमेव पक्ष. । अनयोः पाठे 'प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितम'* । 'यतो व्रतानि पस्पशे'† 'अपसर्पश्चरस्पशः' 'शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ।' इत्यादिप्रयोगोऽनुगुणः‡ । पाषण्डपाषाणप्रयोगस्तु 'पष अनुपसर्गात्' इति कथादेः भविष्यति । यद्वा—पष बन्धन इति युजादेः । अस्ति चायं युजादौ । यद्वक्ष्यति चुरादौ पश बन्धन इत्यत्र मैत्रेयः—पष बन्धन इति युजादावेके पठन्तीति । अत्र स्वामिकाश्यपाद्य.—पाशादिदर्शनात् पशेति पठन्ति । पाशादयोपि चौरादिकेन बन्धनार्थेनापि सिद्धा. । पशुशब्दस्तु दृशेर्व्युत्पादयिष्यते ॥

पस इति दन्त्यान्त. सौत्रो धातु. । तस्य **पसति** इत्यादि । पसेर्यङ्यङ्लुकोः 'जपजभ' इत्यादिना अभ्यासस्य नुकि **पंपस्यते । पंपसीतीत्यादि ॥**

**पति**—इति कण्ड्वादे. । दुःखायते इत्यर्थ. ॥

---

* तै. स. १-२-१४ † तै. स १-३-६. ‡ऽनुगुणः.

## लष कान्तौ ॥ ८७६ ॥

कान्तिरिच्छा । लषति । ललाष । अलषीत् । अलाषीत् । ललिषिषति । लालष्यते । लालष्टि । लाषयति । अलीलषत् । लषते । लेषे । इत्यादि ॥

'वा भ्राश' इत्यादिना शब्विषये वा श्यनि—लष्यति । लष्यते । इत्यादि ॥

**लषणः**—'जुचङ्क्रम्य' इत्यादिना युच् ॥

**लाषुकः**—'लषपत' इत्यादिना उकञ् । **विलाषी** । **अपलाषी**—'अपे च लष' इति घिनुण् चशब्दाद्वौ च । त्रयोऽपि ताच्छीलिकाः ॥

## चष भक्षणे ॥ ८७७ ॥

**चषति** । इत्यादि लषतिवत् ॥

**चषकम्**—'कुन् शिल्पिसंज्ञयो.' इति कुन् ॥

**चाषः**—घञ् ॥

## छष हिंसायाम् ॥ ८७८ ॥

**छषति**—इत्यादि पूर्ववत् ॥

**चच्छाष** । **चच्छषतुः** इत्यादौ अभ्यासस्य चश्त्वम् । 'चर्त्वमेत्वतुकोः सिद्धं वक्तव्यम्' इत्यत्र यथासङ्ख्यानात् णात् एत्वाभ्यासलोपयोरपि चर्त्वस्य सिद्धत्वादादेशादित्वान्नैत्वाभ्यासलोपौ ॥

## झष आदानसंवरणयोः ॥ ८७९ ॥

झषति । झषते । इत्यादि लषिवत् ॥
अयं हिंसार्थः परस्मैपदी गतः ॥

## भ्लक्ष अदने ॥ ८८० ॥

भ्रक्ष इति स्वामी । भक्ष इति मैत्रेयः । तत्र 'गतिबुद्धि' इत्यत्र, 'भक्षेरहिंसार्थस्य प्रतिषेधः' इति वार्तिकस्य **'भक्षयति पिण्डीं देवदत्त. भक्षयति पिण्डीं देवदत्तेन'** इति ण्यन्ताद्धेतुमण्णौ प्रयोज्यस्य कर्मत्वाभावं दर्शयतो भाष्यकृतो भक्षतिरनभिमतः। सति हि 'अणि कर्ता स णौ' इत्याञ्जस्यार्थमस्मादेव हेतुमण्णावुदाहृतं स्यात् । तथा वृत्तितद्वचख्यानेष्वपि 'भक्षेरहिंसार्थस्य' इत्यत्र चुरादिण्यन्तादेव भक्षेर्हेतुमण्णावुदाह्रियते ॥

**भ्लक्षति । बभ्लक्ष । भ्लक्षिता । बिभ्लक्षिषति । बाभ्लक्ष्यते । बाभ्लष्टि ।** स्कोरिति कलोपः । लोटि हौ—**बाभ्लड्ढि ।** धित्वष्टुत्वजश्त्वानि । लडि तिप्सिपोः हल्ङ्यादिलोपे—**अबाभ्लट् । भ्लक्षयति । अबभ्लक्षत् । भ्लक्षते । बभ्लक्षे ।** इत्यादि ॥

योऽत्र प्लक्ष इति केषाचित्पाठः सोऽपि प्रक्षरतीति प्लक्ष इति प्रपूर्वात् क्षरतेः प्लक्षशब्दस्य भाष्यकारेण व्युत्पादितत्वादनार्ष एव । तथा च श्रुतिरपि—'तस्य शिरश्छित्वा मेधं प्राक्षारयन्त्स प्रक्षोऽभवत्तत्प्रक्षस्य प्रक्षत्वं यत्प्लक्षशाखा'* इति । अत्र ल कपिलकादित्वाद्रूष्टव्यम् ॥

## दासृ दाने ॥ ८८१ ॥

*तै. स ६-३-१०.

दासति । ददास । दासिता ॥

दासते । इत्यादि दाशतिवत् ॥

## माह माने ॥ ८८२ ॥

माहति । ममाह । माहिता । माहते । ममाहे । मिमाहिषते । मामाह्यते । मामाढि—धित्वढत्वष्टुत्वढलोपाः । माहयति । अममाहत् ॥

## गुहू संवरणे ॥ ८८३ ॥

गूहति । जुगूह—'ऊदुपधाया गोहः' इत्यजादौ प्रत्यये ऊकारः । स च गोह इति विकृतनिर्देशात् गुणविषय एव । तेन जुगुहतुः इत्यादौ न भवति ॥

गूहिता । ऊदित्त्वादनिट्पक्षे धत्वढत्वष्टुत्वढलोपगुणेषु—**गोढा** । ढत्वादेरसिद्धत्वात्पूर्वमेव गुण इति ढलोपदीर्घाप्रसङ्गः ॥

**गूहिष्यति, घोक्ष्यति**—ढत्वभष्भावयोः 'षढोः कस्सि' इति कत्वम् ॥

गूहतु । अगूहत् । गूहेत् । आशिषि—**गुह्यात्** । अगुणविषयत्वात् अनजादित्वाच्च ऊत्वं न भवति । **अगूहीत्** । इडभावे 'शल इगुपधात्' इति क्से ढत्वभष्भावयोः—**अघुक्षत्** ॥

गूहते । जुगूहे । गूहिता, गोढा । गूहिष्यते, घोक्ष्यते । गूहताम् । अगूहत । गूहेत । आशिषि—**गूहिषीष्ट** । इडभावे 'लिङ्सिचौ' इति कित्त्वान्न गुणः । अत एव षोहिरूपाप्रसङ्गात् अजादित्वाभावाच्च ऊत्वं न भवति—**घुक्षीष्ट** इति । **अगूहिष्ट** ॥

इडभावे क्सस्य 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहात्मनेपदे दन्त्ये' इति दन्त्यादावात्मनेपदे पक्षे लुकि धत्वष्टुत्वढलोपदीर्घेषु **अगूढ** । **अगूढाः** । अत्र 'तौ' इति वक्तव्ये दन्त्यग्रहणस्य दन्त्योष्ठ्यस्यापि परिग्रहार्थत्वात् **अगुह्वहि** इत्यत्रापि लुग्भवति ॥

अलुक्पक्षे ढत्वभष्भावकत्वष्टुत्वेषु—**अघुक्षत्** । **अघुक्षाताम्** । इत्यादि । 'क्सस्याचि' इत्यजादावल्लोपः ॥

कर्मण्येकवचने चिणि—**अगूहि** । अन्यत्र कर्तृवत् ॥

सनि 'सनिग्रहगुहोश्च' इतीण्निषेधे 'हलन्ताच्च' इति कित्त्वढत्वादौ—**जुघुक्षति** ॥

**जोगुह्यते** । **जोगुहीति** । 'नाभ्यस्तस्य' इति गुणनिषेधादूत्वाभावः । **जोगोढि**—अनजादित्वादूत्वाभावः ॥

**गूहयति** । **अजुगूहत्** । ऊदिनि तपरकरणाण्णौ चङ्युपधाह्रस्वत्वं बाध्यते इति केचिदाहुः । एतद्भाष्यवार्तिकादौ न दृश्यते । अपरे तु ब्रुवते—'निगूह्य गतः' इत्यत्र 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशे कर्तव्ये 'असिद्धवदत्र' इत्यूत्वस्यासिद्धत्वनिवृत्त्यर्थमिति । नैतद्युक्तम् । व्याश्रयत्वेनासिद्धत्वाप्रसङ्गात् । ल्यपि णेरयादेशः, ऊत्वं तु णावुपधायाः ॥

**गुह्यम्**—'शासिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यं' इति क्यप् । तदभावे ण्यति **गोह्यम्** ॥

काकेभ्ये गुह्यन्त इति **काकगुहाः** तिलाः—'मूलविभुजादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति कः ॥

गूहन्तेऽत्र अनयेति वा **गुहा**—'गिर्योषधयोः' इत्यड् । **गूढिः** अन्यत्र ॥

**गूहित्वा, गूढ्वा । गूढः ॥**

हिक्कादय उदात्ताः स्वरितेतः ॥

## अथाजन्तानुभयपदिन आह—

## श्रीञ् सेवायाम् ॥ ८८४ ॥

उदात्तः ॥

**श्रयति । शिश्राय । शिश्रियतुः । शिश्रियुः । शिश्रयिथ । शिश्राय । शिश्रय । शिश्रियिव ।** अचि किति* इयङादेशः । अन्यत्र वृद्धिगुणौ । अत्र 'असंयोगाल्लिट्कित्' इति लिटः कित्त्वात् 'श्रयुकः किति' इति प्राप्तस्येटो निषेधस्य क्रादिनियमेन बाधः ॥

**श्रयिता । श्रयिष्यति । श्रयतु । अश्रयत् । श्रयेत्।** आशिषि **श्रीयात्**—'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः । **अशिश्रयत्**—'णिश्रि' इति चङ् । लघूपधगुणादन्तरङ्गत्वादियङ् ॥

**श्रयते । शिश्रये ।** इत्यादि ॥

**शिश्रयिषति, शिश्रीषति**—'सनीवन्तर्ध' इत्यादिनेडिकल्पः । अनिट्पक्षे 'अज्झन' इति दीर्घः । 'इको झल्' इति कित्त्वादगुणत्वम् ॥

**शेश्रीयते । शेश्रयीति, शेश्रेति । श्राययति । अशिश्रयत्**—वृद्ध्यायौ । णौ कृतस्य स्थानिवत्त्वात् श्रीशब्दस्य द्विर्वचनम् ॥

**श्रायः**—'श्रीणी भुवोऽनुपसर्गे' इति घञ् ॥

---

*अपिति

**उच्छ्रायः**—'उदि श्रयतियौतिपूद्रवः' इति घञ् । कथं 'पतनान्तास्समुच्छ्रयाः' इति । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति वचनात् 'एरच्' । एवं च 'उदि श्रयति' इति तिपा निर्देशात् यङ्लुगन्तात् **उच्छ्रेश्रयः** इति अजेव ॥

**विश्रयी**—'जिदृक्षिविश्रि' इति ताच्छीलिक इनिः ॥

**श्रीत्वा । श्रितः**—'श्रुचुकः किति' इतीण्निषेधः ॥

**कष्टश्रितः**—'द्वितीयाश्रित' इति समासः ॥

**श्रेणिः**—'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नि' इति निः ॥

**श्रेणी**—कृदिकारत्वात् ङीष् ॥

अश्रेणयः श्रेणय कृता. **श्रेणीकृताः**—'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' इति तत्पुरुष । श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनमिति तत्र वार्तिकम् ॥

**श्रीः**—'क्विब्वचि प्रच्छचायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च' इति क्विब्दीर्घौ । इयङ्स्थानित्वात् नदीत्वाभावात् हे **श्रीः** इत्यत्र 'अम्बार्थनद्यो. ह्रस्व.' इति न ह्रस्वः ॥

डिद्वचनेषु 'डिति ह्रस्वश्च' इति पक्षे नदीत्वादाटि डेश्रामि । **श्रियै । श्रियाः । श्रियाम् ।** इत्यादि ॥

अन्यदा इयडि—**श्रिये । श्रिय. । श्रियि ।** इति ॥

षष्ठीबहुवचने च, 'वामि' इति पक्षे नदीत्वे नुटि **श्रीणाम् श्रियाम् ॥**

**श्रमन्यम्** ब्राह्मणकुलम् । इत्यत्र भाष्यकारवचनात् श्रीशब्दस्य ह्रस्वः मुभावश्च ॥

श्मश्रु—'श्मनि श्रयतेः ड्रुन्' इति श्मन्शब्दे उपपदे ड्रुन् टिलोपः ॥

श्मश्रुणः—पामादित्वान्नः ॥

## भृञ् भरणे ॥ ८८५ ॥

एतदादयो नयत्यन्ता अनुदात्ता उभयपदिनः ॥

**भरति** । **बभार** । **बभ्रतुः** । **बभर्थ** । **बभूव**—क्रादिनियमादिडभावः । पिति गुणवृद्धी । अन्यत्राजादौ यण् । **भर्ता** । **भरिष्यति**—'ऋद्धनोस्स्ये' इतीट् । **भरतु** । **अभरत्** । **भरेत्** । आशिषि **भ्रियात्**—'रिङ्शयग्लिङ्षु' इति रिङादेशः । रीडि प्रकृते रिङ्ग्रहणात् 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति न दीर्घः । **अभार्षीत्** ॥

**भरते** । **बभ्रे** । **भर्तासे** । **भरिष्यते** । **भरताम्** । **अभरत** । **भरेत** । आशिषि **भृषीष्ट**—'उश्च' इति आत्मनेपदविषययोः झलाद्योः लिङ्सिचोः कित्त्वान्न गुणः । **अभृत**—'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः । सिजाश्रयो गुणः 'उश्च' इति किच्चात् न भवति ॥

**बिभरिषति**—'सनीवन्त' इत्यादिना वेट् । इडभावे सनो झलादित्वात् 'इको झल्' इति किच्चे 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घे । 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इति उत्वरपरत्वयोः 'च' इति दीर्घे **बुभूर्षति** । **बेभ्रियेत** । 'रीङृतः' इति त्वाद्रीडि कृते द्विर्वचनम् । **बर्भर्ति** । लोटि—हेर्डित्वादगुणत्वे **बर्भृहि** लङि हल्ङ्यादिलोपे—**अबर्भः** । एवं रिम्रीकोरपि । 'सनीव-

न्तर्ध' इत्यत्र भरेतिशपा निर्देशात् यङ्लुक नेड्विकल्प इति बभरिषति इत्येव भवति । अत एव शपा निर्देशात्, आचार्याः शब्विकरणं नेच्छन्तीति मतं प्रत्युक्तम् । तथा च वर्धमानसुधाकरशिवस्वाम्यादयो भरेति शपा निर्देशात् 'भृञ् भरणे' इति भौवादिकस्य ग्रहणमिच्छन्ति ॥

**भारयति । अबीभरत् ॥ भर्ता**

भर्तुर्भावकर्मणी **भार्त्रम्**—उद्गात्रादित्वादञ् ॥

**ग्रामभर्ता**—याजकादित्वात्समासः ॥

चारं भरतीति **चारभरः**—चारभरेति पचादिपाठादच् ॥

**भृत्यो** भरणीयः—'भृञोसंज्ञायाम्' इति क्यपि तुक् । 'संपूर्वात् विभाषा' इत्युक्तत्वात् ण्यदपि भवतीति **सम्भृत्यः सम्भार्यः** इति क्यब्ण्यतौ भवतः । संज्ञायां तु ण्यदेव भवति—**भार्या** इति, पाणिगृहीतीत्यर्थः ॥

**सम्भर्यम्** गवामयने हविर्विशेषः ॥

**भृत्या** भरणविशेषः—'संज्ञायां समज' इत्यादिना स्त्रियां भावे क्यप् । 'कर्मणि भृतौ' इति निर्देशान् **भृतिः** इति क्तिन्नपि भवति ॥

**आत्मम्भरिः**—'फले ग्रहिरात्मम्भरिश्च' इति इन्प्रत्ययान्तो निपातितः । चकारात् **कुक्षिम्भरिश्च** इति वृत्तौ । अत एव चकारा 'ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोरा' इत्यपि निर्वाह्यम् ।

**वम्भरः**—'संज्ञायां भृतृवृजि' इत्यादिना खचि मुमागमः ॥

**भारः**—घञ् ॥

वंशभारं वहति **वांशभारिकः**—'तद्धरति वहत्यावहति भारादंशादिभ्यः' वंशादिपूर्वपदात् भारान्तात् प्रातिपदिकात् द्वितीयासमर्थात् वहत्यादिष्वर्थेषु ठगिति ठक् ॥

अपो भरतीति **अभ्रम्**—मूलविभुजादित्वात् कः ॥

अभ्रं करोति **अभ्रायते**। 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' इति द्वितीयान्तात् करणे क्यङ्। करणं क्रिया। 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः ॥

**भरूः** भर्ता—'भृमृशि' इत्युप्रत्ययः ॥

**बभ्रुः**—पिङ्गलो नकुलश्च। 'कुम्रश्च' इति कुप्रत्यये द्वित्वम् ॥

**भरतः**—'पृभृदृशियजि' इत्यतच्।

द्विदयं जुहोत्यादौ। ऋकारान्तो भर्त्सनादौ क्रचादौ ॥

## हॄञ् हरणे ॥ ८८६ ॥

हरणं प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च। यथा—भारं हरति ग्रामम्। अंशं हरति। सुवर्णं हरति चोरः। पापं हरतीति। विहाराहारप्रहारादावर्थान्तराभिधानं तूपसर्गवशात्। तत्र यदा प्रापणमर्थः तदा 'अकथितं च' इति द्विकर्मकोऽयम्। तत्रास्य लादयः प्रधानकर्मणि भवन्ति—**ह्रियते भारो ग्रामम्**। **हर्तव्यः**। **हृतः**। **सुहरः** इति। कृद्योगलक्षणा षष्ठी द्वितीयावदुभयत्र भवति—**हर्ता भारस्य ग्रामस्य** इति। 'उभयथा गौणिकापुत्र' इति भाष्ये उक्तत्वात् गुणकर्मणि द्वितीयाऽपि द्रष्टव्या—**हर्ता भारस्य ग्राममिति**। **हर्तव्यो भारो ग्रामं देवदत्तेन** इत्यत्र 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति प्राप्ता षष्ठी 'कृत्यानां कर्तरि

वा' इत्यत्र कृत्यानामिति योगं विभज्य उभयप्राप्ताविति नेति च अनुवर्त्य उभयप्राप्तौ कृत्ये षष्ठी नेति भाष्ये प्रतिपादनान्न भवति। स्पष्टं चैतत्तत्र कैय्यटादौ ॥

**हरति । हरते ।** इत्यादि भरतिवत् ॥

**हारयति । अजीहरत्** भारं देवदत्तं यज्ञदत्तः देवदत्तेनेति वा । 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इत्यणौ कर्तुर्णौ वा कर्मत्वम् । इयं च विभाषा यदाऽग गत्यर्थोऽभ्यवहारार्थो वा तदा पूर्वेण नित्ये प्राप्ते कर्मत्वे, अन्यदा त्वप्राप्त इत्युभयत्र विभाषा द्रष्टव्या ॥

**हारयति** भारम् इत्यत्र प्रापणार्थत्वेऽप्यस्ति गतिप्रतीतिरिति गत्यर्थत्वेन प्राप्तिरुक्ता । स्पष्टं चैतत् 'हृक्रो' इत्यत्र न्यासपदमञ्जर्यो. । कैय्यटकारस्य त्वत्र गत्यर्थत्वमनभिमतमेव । यदाह— 'न वेति विभाषा' इत्यत्र 'हृक्रो.' इत्यस्य उभयत्र विभाषोक्तौ प्रत्युदाहरणप्रदर्शने 'विपूर्वो हरतिः गत्यर्थः' इति ॥

**सम्प्रहरन्ते** राजान इत्यत्र हरतेर्हिंसार्थत्वेऽपि 'न गतिहिंसा' इति निषेधस्य 'हृवह्योरप्रतिषेध' इति तद्। अत्र हरदत्तः— अर्थग्रहणसामर्थ्यात् ये शब्दान्तरनिरपेक्षा गतिहिंसनयो वर्तन्ते त इह गृह्यन्ते इत्युपसर्गवशेन हिंसार्थत्वात् हरतेरप्रतिषेध इत्याहुरिति । एवं हि **अभ्यवहारयति** इत्यत्र 'निगरणचलनार्थेभ्यः' इति परस्मैपदनियमो न स्यात् । तथा 'इदमेषामभ्यवहृतम्' इत्यत्र 'क्तोऽधिकरणे च' इति क्तो न स्यात् । किं च— अर्थग्रहणमन्तरेणाऽपि न्यायत एवान्यानपेक्षया तत्तदर्थाभिधायिनां ग्रहण सिद्धत्वादर्थग्रहणं यथाकथंचित्तदर्थाभिधायिना ग्रहण एव प्रत्युत प्रमाणम् । एवं हि—'उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव' इति प्रकृतिग्रहणमप्यर्थवत् । तस्येदं हि प्रयोजनम्—यत्र णि-

निप्रकृतिरेव शब्दार्थः तत्रैवायं स्वरो यथा स्यात् । यत्र तूपसर्गाद्यपेक्षया शब्दार्थत्वं गर्दभोच्चारी इत्यादौ तत्र मा भूदिति । यद्यर्थग्रहणमप्यन्यानपेक्षयोपात्तार्थाभिधायिनां ग्रहणार्थं स्यात् किं प्रकृतिग्रहणेन । तथा च तत्र वृत्तिरपि—प्रकृतिग्रहणं किम्, प्रकृतिरेव यत्रोपसर्गनिरपेक्षा शब्दार्था भवतीति । एवं तत्र न्यासपदमञ्जर्योरपि । तस्मात् अर्थग्रहणं यथाकथंचिदुपात्तार्थाभिधायिनां ग्रहण एव प्रमाणम् । अत एव 'न गतिहिंसा' इत्यत्र पदमञ्जर्यां 'आहुः' इति कर्त्रन्तरनिर्देशः । 'ततः संप्रहरिष्यन्तौ दृष्ट्वा कर्णधनञ्जयौ' इत्यत्र युद्धाभिमुख्यमात्रमर्थ इति कर्मव्यतिहारस्याभावात् परस्मैपदम् ॥

पैतृकमश्वा **अनुहरन्ते** पितुरागतं प्रकारं सततं परिशीलयन्तीत्यर्थः । 'हरतेर्गततात्च्छील्ये' इति तङ् । गतं प्रकारः । तात्च्छील्यं तत्स्वभावता । न्यासे तु गतीति पठ्यते । यदाह—गतौ तात्च्छील्यमिति ॥

शतस्य **व्यवहरति**—शतं पणते क्रीणाति, विक्रीणीते इति वा अर्थः । 'व्यवहृपणोस्समर्थयोः' इति शेषे कर्मणि षष्ठी । द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे च समानार्थत्वमनयोः । अन्यत्र शलाकां **व्यवहरः** इति द्वितीयैव । विक्षिपतीत्यर्थः ॥

**प्रतिहर्ता** तस्य भावकर्मणी **प्रातिहर्त्रम्** । उद्गात्रादित्वादञ् ॥

**अवहारः** ग्राहः—'श्याद्व्यधा' इत्यादिना णः ॥

**अंशहरः**—'हरतेरनुद्यमनेऽच्' इति कर्मण्युपपदेऽच् अनुद्यमनमनुक्षेपणम्* । उद्यमने तु **भारहर** इत्येव ॥

---

*अनुत्क्षेपण.

**कवचहरः**—'वयसि च' इति कर्मोपपदात् हरतेरच् वयसि गम्यमाने कालकृतशरीरावस्था यौवनादिर्वयः । उद्यमनार्थोऽयमारम्भः । यदुद्यमनं क्रियमाणं संभाव्यमानं वा वयो गमयतीति वृत्तिः ॥

**पुष्पाहरः**—'आडि ताच्छील्ये' इति कर्मोपपदात् आङुपसृष्टात् हृञः ताच्छील्येऽच् प्रत्ययः ॥

**टतिहारिः** पशुः । **नाथहरिः** पशुः—'हरतेर्टतिनाथयोः पशौ' इति टतिनाथयोः कर्मणोरुपपदयोः हृञः पशौ कर्तरि इन्प्रत्ययः ॥

संहियन्तेऽनेनात्रेति वा **संहारः**—'अध्यायन्यायोद्यावसंहाराधारावायाश्च' इति करणाधिकरणयोः घञ् निपात्यते ॥

हरणं **हारा**—'हाराकाराबन्धने' इति भिदादिपाठादङ् । गुणो दीर्घत्वं च ॥

आह्रियतेऽस्माद्रस इति **आहारः**—'अकर्तरि च कारके' इति घञ् ॥

**हरिः** इन्प्रत्ययः ॥

**प्राहिः** कूपः । 'प्रहरते कूप' इति प्रोपसृष्टादस्मात् इकारप्रत्ययः । तत्र डिदित्यनुवृत्तेः टिलोपः ॥

**हृदयम्**—'वृञ्हृञोष्णुकृदुकौ च' इति कयप्प्रत्ययो दुगागमश्च ॥

हृदयस्य प्रियं **हृद्यम्**—'हृदयस्य प्रियं' इति षष्ठ्यन्ताद्यत् ॥

य बन्धनो **हृद्यो** मन्त्रः—'बन्धने चर्षौ' इति षष्ठ्यन्ताद्यत् । बध्यते अनेनेति बन्धनम् । ऋषिः वेदः ॥

हृदये भवं **हार्दम्**—'प्राग्दीव्यतोऽण्' ॥

हृदयं लिखतीति **हृल्लेखः**। हृदयस्य लासो **हृल्लासः**—'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृदादेशः। तत्र वृत्तौ लेख इत्यणन्तस्य ग्रहणं, घञि तु हृदयलेख इति॥

हृदयस्य शोको **हृच्छोकः**। **हृदयशोकः**। सुहृदयस्य भावकर्मणी **सौहृदयं, सौहार्दं**—ब्राह्मणादिपाठात् ष्यञ्। एवं **दौहृदयं, दौहार्दम्**। हृदयस्य रोगः **हृद्रोगः हृदयरोगः**। 'वा शोकष्यञ्रोगेषु' इति हृदादेशविकल्पः। ष्यञि हृद्भावपक्षे 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः॥

**सुहृत्**। **दुर्हृत्**—'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति बहुव्रीहौ हृदयस्य हृदादेशस्समासान्तः। मित्रामित्राभ्यामन्यत्र **सुहृदयो दुर्हृदय** इति भवति॥

सुहृदः सुहृदयस्य च* भावकर्मणी **सौहार्दम्**—'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' इत्यण्। 'हृद्भग' इत्युभयपदवृद्धिः। 'हृदयस्य हृल्लेख' इत्यादिना हृदयस्य हृद्भावः॥

हृदयस्य भावकर्मणी **हार्दम्**—युवादिषु 'हृदयासे' इति पाठात् अणि हृद्भावः॥

हृदयमस्यास्तीति **हृदयालुः**—'हृदयाच्चालुजन्यतरस्याम्' इति मत्वर्थीय आलुच्। तदभावे इनिठनोः **हृदयी। हृदयिकः** इति॥

**हरिणः**—'शास्त्यादृश्विभ्य इनच्' इतीनच्। **हरिणी**—'जातेरस्त्रीविषयात्' इति ङीष्॥

**हरेणुः** गन्धद्रव्यविशेषः—'कृहृभ्यामेणुः' इत्येणुप्र॥

**हरितः**—'हृश्याभ्यामितन्' इति इतन्॥

---

*सुहृदः.

**हरिणी** ब्राह्मणी—'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति स्त्रियां वा ङीप् तकारस्य च नकारः। अयं इतनो नित्त्वादुदात्तादिस्तकारोपधश्च भवति। ङीबभावे टापि **हरिता** ब्राह्मणी॥

**हरित्**—'हृसृरुहियुपिभ्य इतिः' इति इतिप्रत्ययः॥

## धृञ् धारणे ॥ ८८७ ॥

**धरति** इत्यादि भरतिवत्। 'धारेरुत्तमर्ण' इत्यत्र 'धृञ् अनवस्थाने' इति तौदादिकस्य ग्रहणमिति न्यासपदमञ्जर्यादिषु। 'इङ्धार्योः' इत्यत्राप्यस्येति न्यासे। 'अध्यायन्याय' इति निपातनमपि तस्येति वृत्तिकारेण दर्शितम्॥

धारयतीति **धारयः**—'अनुपसर्गाच्छिम्पविन्द' इत्यादिना शे शपि गुणायौ॥

वसु धारयतीति **वसुन्धरा**—'संज्ञाया भृतृवृजि' इति खचि 'खचि ह्रस्वश्च' इति ह्रस्वत्वे मुमागमः॥

**धारा**—'धारा प्रपतन' इति भिदादिपाठादङि गुणो दीर्घत्वं च। द्रवद्रव्यनिपातनं धारा इति न्यासे। खड्गधारादावुपमानात् प्रयोगः॥

**धर्म**—'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्' इति मन्॥

धर्मं चरति **धार्मिकः**। 'धर्मं चरति' इति द्वितीयान्ताच्चरतीत्यर्थे ठक्। तत्र 'अधर्माच्चेति वक्तव्यम्' इत्युक्तत्वात् **आधर्मिको** ॥

धर्मेण प्राप्यं **धर्म्यम्**—'नौ वयोधर्म' इति तृतीयान्तात् प्राप्येऽर्थे यत्॥

धर्मादनपेतमपि **धर्म्यम्**—'धर्मपत्यर्थ' इति यत् ॥

कल्याणो धर्मोऽस्येति **कल्याणधर्मा**—'धर्मादनिच्केवलात्' इति धर्मान्तात् बहुव्रीहेः अनिच् । अत्र केवलात् इति बहुव्रीह्याक्षिप्तस्य पूर्वपदस्य विशेषणं, तेन पूर्वपदीभवतः केवलादन्यनिरपेक्षात्परो यो धर्मशब्दस्तदन्तात् बहुव्रीहेः इति सूत्रार्थः । तेन परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्म इति त्रिपदे बहुव्रीहौ अनिच् न भवति । तत्र अन्यसापेक्ष एव स्वशब्दः पूर्वपदं भवति । 'सर्वनामसंख्ययोरुपसङ्ख्यानं' इति स्वशब्दस्य पूर्वनिपातो न भवति, आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् । यदा स्वो धर्मः स्वधर्मः, परमः स्वधर्मोऽस्येति बहुव्रीहिः तदा यद्यपि पूर्वपदं केवलं भवति, तथाऽपि ततः परो न धर्मशब्द इति समासान्ताभावः । 'निवृत्तिधर्मा हि स्थानी' इत्यत्र निवृत्तिशब्दो बहुव्रीहेः पूर्वपदं भवन्नान्यमपेक्षत इति केवलादस्मात्परो धर्मशब्द इति अनिच् भवति । एवं 'साध्यसमानधर्मा धर्मी पक्षः' इत्याद्यपि निर्वाह्यम् साध्येन समानः साध्यसमानः धर्मोऽस्येति ॥

ब्राह्मणस्य धर्मो ब्राह्मणधर्मः । सोऽस्यास्तीति **ब्राह्मणधर्मी**—धर्मशीलवर्णान्ताच्च' इति मत्वर्थीय इनिः । सिद्धे सति वचनं ठनो निवृत्त्यर्थम् ॥

धृञ् अवध्वंसन इतीहैवाग्रे । धृ धारणे इति चुरादौ क्षीरस्वामी । तद्भाष्यकारस्यानभिमतम् । यदाह भिदादौ—'धारा प्रपतने । धृतिरन्या' इति । यद्ययं चुरादिः स्यात् अस्मादेवाङि धाराशब्दं व्युत्पाद्य धारणान्या इति ब्रूया एवं हि दीर्घनिपातनक्लेशोऽपि न भवति । न चास्यास्त्यर्थभेदः । तथा न्यासकारहरदत्तावपि न सहेते । यदाहतुः—दीर्घत्वं निपा-

तनादिति । तथा—'अनुपसर्गाल्लिम्प' इत्यत्र न्यासे धृञ् हेतुमण्ण्यन्त उक्तः । पार्यादयस्तूभयथा । यदाह—पार तीर कर्मसमाप्तौ, चुरादिण्यन्त· । अथ वा—पॄ पालनपूरणयो·, हेतुमण्ण्यन्त इत्यादि ॥ हरदत्तोपि—धृञ् धारणे । धृङ् अनवस्थाने । ण्यन्तौ । विद चेतनाख्याननिपातनेषु । चुरादिः । ज्ञानाद्यर्थान्यतमो वा हेतुमण्ण्यन्त इति । यदि धरति· चुरादिश्च स्यात्, इतरव ञुरादिण्यन्तो वेति ब्रूयाताम् ॥

अत्र केचित् 'कृञ् करणे' इति धातुं पठन्ति । तदनार्षम् । यदाहतुः न्यासकारहरदत्तौ—'कः करत् करति' इत्यत्र करतीति व्यत्ययेन शबिति । किं च यद्ययं स्यात् अकरत् इत्येवमर्थं 'कृमृदरुहिभ्यश्छन्दसि' इति करोतेरङ्विधानमनर्थकं स्यात्, अस्माल्लङि शपि अस्य रूपस्य सिद्धेः । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति लुडादीनामेकत्र विधानात् नास्त्यर्थभेदः ॥

## णीञ् प्रापणे ॥ ८८८ ॥

इह प्रापणं गमनं भवति । **नयति** । **प्रणयति** । **अन्तर्णयति** । अन्तश्शब्दरयाङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वमुक्तम् । **निनाय**—वृद्ध्यायौ । 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवद्भावान्नीशब्दो द्विरुच्यते॥

**निन्यतुः**—इयङस्थानिवद्भावान्नीशब्दे द्विरुक्ते पुनरुत्तरखण्डस्येयङ् भवति । अस्या दशायामनेकाच्त्वात् 'एरनेकाचः' इति यणा बाधात् ति 'इटकिट' इत्यत्रोपपादितम् । **निनयिथ । निनेथ । निन । निन्य । निनाय । निनय** । गुणवृद्ध्योरयायौ । **निन्यिव**—क्रादिनियमादिट् । थलि तु भारद्वाजनियमाद्विकल्पः ।

**नेता । नेष्यति । नयतु । अनयत् । नयेत् । नीयात् । अनैषीत् ॥**

**निनीषति । नेनीयते । नेनयीति । नेनेति, नेनीतः । नाययति । अनीनयत् ॥**

**नाययति** अजां देवदत्तो यज्ञदत्तेन—'नीवह्योः प्रतिषेधः' इति प्रयोज्यस्य कर्मत्वनिषेध । अत्र हरदत्त.—यद्यपि नेतयोर्गतिरर्थः, तथाऽपि गतिफलं प्रापणमर्थ इति फलतया गतिः प्रतीयते इति मत्वा प्रतिषध इति । तथा च कैयटेऽनयोः यद्गत्यर्थत्वमुक्तं तत्फलतया प्रतीयामानगत्यपेक्षम् ॥

**नयते । निन्ये । निन्यिषे । निन्यिध्वे । निन्यिढ्वे । निन्यिवहे । नेतासे । नेष्यते । नयताम् । अनयत । नयेत । नेषीष्ट । अनेष्ट ॥**

'संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः' । अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः । संमाननं पूजनम् । उत्सञ्जनमुत्क्षेपणम् । आचार्यकरणमाचार्यक्रिया । ज्ञानं प्रमेयनिश्चयः । भृतिर्वेतनम् । विगणनमृणादेः प्रतिनिर्यातनम् । व्ययो धर्मादिप्रयोजनो विनियोगः । तत्र समाननाचार्यकरणप्रभृतयो धात्वर्थविशेषणानि । अन्ये तु धात्वर्थाः । ईदृशार्थान्नयतेस्तङ्भ्रुचात् । **नयते** शास्त्रे । अर्थान् युक्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्येभ्यः प्रतिपादयतीत्यर्थः । इह पूजा शास्त्रार्थस्य युक्तिभिस्स्थिरीकरणम् । शिष्याणा मेवंविधा प्रतिपादना । पुत्रं **उदानयते** । उत्क्षिपतीत्यर्थः । रङ-शावकं **उपनयते** । शास्त्रीयेन विधिना आत्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । **नयते शास्त्रे** । तत्र प्रमेयं निश्चिनोतीत्यर्थः । अत्रायमकर्मकः,

कर्मणो धात्वर्थान्तर्भावात् । कर्मकरान् **उपनयते** । भृतिदानेन आत्मनः समीपं प्रापयतीत्यर्थः । ऋणं **विनयते** । निर्यातयतीत्यर्थः । शतं **विनयते** । धर्मादौ विनियुङ्क्ते इत्यर्थः ॥

'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' नयत्यर्थस्य यः कर्ता तत्स्थे शरीरैकदेशवर्जिते कर्मणि कारके सति नयतेः तङ्च्चात् । इह शरीरं तदेकदेश इति वृत्तौ । मन्युं **विनयते** । कर्तृग्रहणात् देवदत्तस्य मन्यु विनयतीत्यत्र न भवति । तथा शरीरग्रहणात्—गडुं **विनयति** इत्यत्र न भवति । अयमकथितेप्सिततमाभ्यां द्विकर्मक इत्युक्तम् । तत्र लादयः प्रधाने कर्मणि भवन्ति । षष्ठी तूभयत्र अप्रधाने, पक्षे द्वितीयाऽपि । उभयप्राप्तौ कृत्ये कर्तृकर्मणोः षष्ठी नेति । सर्वमेतत् धरतावुक्तमुदाहृतं च । इहापि तथैवोदाहरण नेयम् । 'अकथितं च' इत्यत्र न्यासे नीवहिहरिजिदण्डीन्प्रस्तुत्य ग्रामादीनामप्यजादिवत् क्रियाजन्यफलभाक्त्वेऽपि तदविवक्षायां अकथितत्वमुक्तम् । यदाह—अकथितेप्वेषां ग्रहणं यदा ग्रामादीनामीप्सिततमत्वमनीप्सितमत्वं च न विवक्ष्यते किं तु कर्तुरीप्सितत्वमात्रमेव तदर्थमिति । न्यासोद्योते च—अजादीनां ग्रामादीनां चेप्सिततमत्वमविशिष्टमित्युक्तम् । तदयुक्तं—तत्र नीवहिहरीणां प्रापणमर्थ इति । तथा च—'न गतिहिंसा' इत्यत्र भाष्यम्—देशान्तरप्रापणक्रिया वहतिरिति । तत्रैव कैय्यटे—देशान्तरप्राप्त्युपसर्जनं प्रापणमस्य वाच्यम् । तत्र गतिर्ज्ञान्तरीयकत्वात्प्रतीयते । न त्वसौ धात्वर्थ इति । गतिबुद्धीत्य नीवही प्रकृत्य पदमञ्जर्यामेतयोः गतिफलं प्रापणमर्थ इति , तस्मादत्र गतेरधात्वर्थत्वात् अकर्तृव्यापारत्वात्तत्फलसंयोगाप्यमानत्वेऽपि ग्रामादीनां न कर्मतोपपत्तिः । अजादीनां तु धात्वर्थकर्तृव्यापारप्रापणफलगतिद्वारेणाप्यमानत्वाद्युक्तं कर्मत्वम् । न

चैवं वाच्यं—अजादिभिः स्वव्यापारे गतौ कर्तृभिः तत्फलसंयोगद्वारेणाप्तुमिप्यमाणत्वादस्तीप्सितकर्मत्वमिति । यतः 'कर्तुरीप्सिततमम्' इत्यत्र कर्तृग्रहणं कर्मणः स्वव्यापारद्वारेणाप्तुमिष्यमाणत्वमस्य कर्मत्वनिवृत्त्यर्थमिति स्थितम् । अत एव 'माषेष्वश्वं बध्नाति' इत्यत्र बन्धनकर्मणाऽश्वेन स्वव्यापारेण भक्षणेनाप्तुमिष्यमाणतमानामपि माषाणां कर्मत्वं न भवति । कथं तर्हि 'गत्यर्थलोटा' इत्यत्र भाष्यवृत्त्योः 'उह्यतां देवदत्तेन' इति वहिर्गत्यर्थ उदाहृतः । नैष दोषः, तत्र गतिलोटीत्युच्यमानेऽपि अर्थाद्गत्यर्थलोटीति सिद्धे अर्थग्रहणस्य प्रतीयमानगतीनामीदृशामपिसङ्ग्रहार्थत्वात् । यच्च—'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इत्यत्र हरतेः 'गतिबुद्धि' इति नित्ये प्राप्ते विकल्प इति हरदत्तादिवचनं तत्र गतिबुद्धीत्यत्रापि अर्थग्रहणस्य पूर्ववन्नयत्याद्यर्थपरिग्रहार्थत्वात् युक्तमेव प्रतीयमानगतीनामपि तत्र ग्रहणम् । नैवं नीवह्योः प्रतिषेध उपपद्यते । 'न गतिहिंसा' इत्यत्र त्वर्थग्रहणेन प्रतीयमानगतीनां ग्रहणं भाष्यकारस्य नेष्टम् । यत्तत्र 'हरिवह्योरप्रतिषेधः' इति वार्तिके वहिग्रहणं न वहिर्गत्यर्थ इति प्रत्याचष्टे ॥

**विनीयः** कल्क । कल्कश्च पिष्टौषधे पक्वानां तैलादीनामृजीषे पाके च वर्तते । 'विपूयविनीयजित्यामुञ्जकल्कहलिषु' इति विपूर्वादस्मात्कल्के क्यपि निपात्यते ॥

**आनाय्यः**—गार्हपत्यादानीयप्रणीतो दक्षिणाग्निः । तस्य हि योनिः विकल्प्यते 'वैश्यकुलाद्वित्तवतो भ्रातृव्याद्गार्हपत्य' इति । 'आनाय्योऽनित्ये' इति आङ्पूर्वादस्मात् ण्यदायौ दङ्-त्येते । अनित्यत्वं चास्य नित्यमज्वलनात् । निपातनस्य रूढ्यर्थत्वाद्वा-दावन्ययौनौ च दक्षिणाग्नौ **आनेय** इति भवति ॥

**प्रणाय्यः**—अपूज्यो निष्कामो वा । 'प्रणाय्योऽसम्मतौ' । इति प्रपूर्वादस्माण्ण्यदायौ । सम्मतिः पूजा अभिलाषो वा यस्य नास्ति सोसम्मति. । सम्मतौ तु यति **प्रणेयः** ॥

**सान्नाय्यं** हविः तच्च दधिपयसी । 'पाय्यसान्नाय्यनिधाय्यधाय्यामानहविर्निवाससामिधेनीषु' इति हविषि ण्यदायौ उपसर्गस्य दीर्घत्वं च ॥

नयतीति **नायः**—'दुन्योरनुपसर्गे' इत्यनुपसृष्टात् अस्मात् कर्तरि ण. । उपसृष्टात्तु **उन्नयः** इति पचाद्यच् ॥

**प्रणीः**—'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप् ॥

**ग्रामणीः** इत्यत्र पूर्ववत् क्विपि 'अग्रग्रामाभ्या नयतेरुपसंख्यानम्' इति णत्वम् ॥

**नायः**—'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इति घञ् । उपसृष्टात्तु—**निर्णयः** । **दुर्णयः** । **निर्नाय** इत्येतत्तु उपसर्गप्रतिरूपकात्परस्य निञो घञि । णत्वं चानुपसर्गत्वादेव न भवति । कथं **नय** इति, बाहुलकात् अच् । **अवनायः** । **उन्नायः**—'अवोदोर्नियः' इति घञ् । **उन्नयः** पदार्थानामिति बाहुलकादचि ॥

**परिणायः**—समन्ताच्छारिनयनम् । 'परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः' इति यथासङ्ख्यात् परावुपपदे द्यूते निञो घञ् । अक्षादिभिः क्रीडनं द्यूतम् । भ्रेषश्चलनम् । अचलनमभ्रेषः, अनपचार इति यावत् ॥

**आनायः**—'जालमानायः' इति जाले घञि निपात्यते ॥

**नेमिः**—'निञो मिः' इति मिः ॥

**नेमः**—'अर्तिस्तु' इत्यादिना मन् । अस्य सर्वादित्वात् तत्कार्यं पूर्वशब्दवत् ॥

**नीथो** यज्ञः—'हनिकुषि' इत्यादिना क्थन् ॥

**नेष्टा**—'नयतेः षुक्' इति तृनि गुणे धातोष्पुगागमः । अप्तृन्नित्यादिना 'ऋतो ङि' इत्यादिना च यथायोगं गुणदीर्घौ सर्वनामस्थाने ॥

हरत्यादयश्चत्वारोऽनुदात्ता उभयपदिनः ॥

## अथाजन्तानिटः परस्मैपदिन आह—

## धेट् पाने ॥ ८८९ ॥

एतदादयो जयत्यन्ता अनुदात्ता उदात्तेतः ॥

**धयति । दधौ । दधतुः । दधुः । दधाथ । दधिथ । दधिव** । 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति एजन्तो यो धातुरुपदेशे तस्यात्वमशितीति सर्वत्राकारे 'आत औ णलः' इत्यौत्वे वृद्धिः । अन्यत्र क्ङित्यजादावार्धधातुके 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपः । तस्य 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वात् धाशब्दस्य द्विर्वचनम् । क्रादिनियमादिट्, थलि भारद्वाजनियमादिड्विकल्पः ॥

**धाता । धास्यति । धयतु । अधयत् । धयेत् ।** आशिषि **धेयात्**—'एर्लिङि' घुमास्थागापाजहातिसामाकारस्यैकारः क्ङित्यार्धधातुके लिङीत्येकारः । 'दाधाघ्वदाप्' 'दाण् दाने' 'देढ क्षणे' 'डुदाञ् दाने' 'दो अवखण्डने' 'धेट् पाने' 'डुधाञ् धारणादौ' इत्येते घुसंज्ञकाः 'दाप् लवने' 'दैप् शोधने' इत्येतौ वर्जयित्वा । 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' इत्यात्वेनैजन्तानुकरण

मपि दाधारूपमिति लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाया नेह प्रसङ्गः। एवं हि अदाबिति सामान्यग्रणार्थं दैपः पित्त्वमर्थवद्भवति ॥

**अदधत्** । **अदधताम्**—'विभाषा धेट्श्व्यो' इति कर्तृवाचिनि लुडि च्लेर्विभाषया चडि 'आतो लोप इटि च'। इत्याल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् 'चडि' इति धाशब्दस्य द्वित्वम्' चडभावे सिचि 'यमरमनमाताम्' इति सकि सिचश्चेटि **अधासीत्** । **अधासिष्टाम्** । इत्यादि । यदा 'विभाषा घ्राधेट् शाच्छाम.' इति घ्रादिभ्य. परस्मैपदपरस्य सिचो लुक् तदा **अधात्** । **अधाताम्** । **अधुः** । इत्यादि । 'आत.' इति झेः जुस् सिज्लुगन्तात् यदि भवति आत एवेति नियमार्थमिदं सूत्रमित्युक्तम् । यदा कर्मव्यतिहारे तङ् तदा—**व्यतिधयते** । **व्यतिदधे** इत्यादि । 'आदेच उपदेशे' इत्यत्र अशितीति कर्मधारये नञ्तत्पुरुष.. श एव इत् शित्, न शित् अशित् इति । तेन 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति इत्संज्ञकशकारादावयं पर्युदास इति एशि आन्त्वमेव भवति । लुडि तु 'विभाषा धेट्श्व्योः' इति वा चडि **अदधत** । **अदधेताम्** । अन्यदा 'स्थाध्वोरिच्च' इति आत्मनेपदपरस्य सिचः किन्त्वे धातोश्चेत्त्वे 'हस्वादङ्गात्' इति झल्परत्वेन सिचो लोपे **व्यत्यधित** । **व्यत्यधिषाताम्** । **व्यत्यधिषत** । सिचः किन्त्वाद्गुणो न भवति । इत्त्वविधानं तु गुणविधानार्थमेव स्यात्। 'स्थाध्वोरिः' इत्येकारस्याविधानमपि ह्रस्वादिति सिचो लोपार्थं लाघवाच्च स्यात् । इदं चेत्त्वं न सिचीत्युच्यते। किं तर्हि इकारादेशः, सिच्च कित् भवति इत्येतावत् । तेनास्यासिद्धनिमित्तत्वात् सन्निपातपरिभाषया सिज्लोपो न स्यादिति नाशङ्कनीयम् । कर्मणि लुडचेकवचने **अधायि** । 'आतो युक्चि-

ण्कृतोः' इति युक्। चिणि जिति णिति च कृतिपरे आकारान्ताङ्गस्य युगित्यर्थः। द्विवचनादौ चिण्वदिट्पक्षे युकि **अधायिषाताम्** इत्यादि। अन्यदा—**अधिषाताम्** इत्यादि॥

**धित्सति**—'सनि मीमा' इत्यादिना अच इसि 'सस्त्यार्धधातुके' इति तत्त्वं, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इति लोपः॥

**देधीयते**—'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' इति एषां हलादौ क्ङिति आर्धधातुके परे आकारस्येकार इतीकारे द्विर्वचनम्। **दाधेति** ईटि आद्गुणः। अन्यदा **दाधाति**। **दाद्धः**—'श्नाभ्यस्तयोरातः' अनयोराकारस्य क्ङिति सार्वधातुके लोप इति लोपे 'झषस्तथोः' इति धत्वे जश्त्वम्। 'ईहल्यघोः' इतीत्वमत्रैव 'अघोः' इति निषेधान्न भवति। आकारलोपस्य पूर्वस्मादपि विधाविति स्थानिवद्भावः 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति निषिध्यते। अत एव हि अध इति दधातिः पर्युदस्यते। धयतेस्त्वयं पर्युदासोऽस्माज्झषन्तात्परयोः असंभवान्न भवति। न च यङ्लुकि सम्भवात्तदर्थोऽयं पर्युदासस्स्यादिति वाच्यम्, दधातौ चरितार्थत्वात्। तथा च तत्र वृत्तिः—दधातिं वर्जयित्वेति। काश्यपवर्षसेनौ तु अध इति पर्युदासमिच्छतः॥

**दाधति** आल्लोपः। **दाधेषि**। **दाधासि**। **दाधेमि**। **दाधामि**। **दाध्वः**। लोटि हौ—'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति अन्त्यस्यैकारोऽभ्यासलोपश्च। अत्र लोपस्य शित्त्वात्सर्वादेशत्वम्। तेन **धेहि** इति भवति। लङि—**अदाधात्**। **अदाद्धाम्**। **अदाधुः**—'सिजभ्यस्त' इति झेर्जुस् नित्यम् त्वात् 'लङश्शाकटायनस्यैव' इति आकारान्तनिबन्धनो विकल्पो नाशङ्क्यः; अस्मात्परत्वान्नित्यत्वाच्च 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इति

पूर्वमेवाङ्लोपे आकारान्तत्वस्याभावात्। लिङि **दाध्यात्**—'श्नाभ्यस्त' इत्याङ्लोपः । आशिषि 'एर्लिङि' इत्येत्वे **दाधेयात्** । लुङि—**अदाधात्** । 'गातिस्था' इति नित्य सिचो लुक् 'विभाषा घ्राधेट्' इति विकल्पस्तु सानुबन्धकनिर्देशान्न भवति । अत एव 'विभाषा धेटश्चो·' इति चङपि न भवति ॥

**धापयति** । **धापयते** शिशुम् । आत्वे पुक् । 'पादिषु धेट उपसङ्ख्यानम्' इति 'निगरणचलन' इति परस्मैपदं निषिध्यते । **अदीधपत्** इत्यत्र आकाराश्रयः पुक् तस्योपधात्वसम्पादनेन 'णौ चङि' इति ह्रस्वस्य निमित्त न स्यादिति नाशङ्क्यम्, 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' इति जानातेर्णौ पुकि ह्रस्वार्थात् मित्त्वविधानाच्छिङ्गात् ॥

**उद्धयः** । **धय**·—'पाघ्राध्माधेट्दृशः शः' इति उपसृष्टादनुपसृष्टाच्च कर्तरि शः ॥

**स्तनन्धयः** । **नासिकन्धयः**—'नासिकास्तनयोर्ध्माधेटो·' इति खशि मुमागमः । नासिकाया 'खित्यनव्ययस्य' इति ह्रस्वश्च । धेटः टित्त्वमवयवेऽचरितार्थत्वात् **स्तनन्धयी** इति समुदाये ङीबर्थम् । अत्र हरदत्तः— स्तनन्धयीत्यत्रैव ङीबिष्यते । नान्यत्र इत्याहुरिति । इदं खश्प्रत्ययान्तोपलक्षणं इत्येके । तथा च क्षीरस्वामी—स्तनन्धयी इत्यादौ ङीबर्थ इति । वर्धमानोऽपि—शुनन्धयी स्तनन्धयीति खश्प्रत्ययान्त एव ङीबिति ॥

**इन्धयः** । **मुष्टिन्धयः**—'नाडीमुष्टयोश्च' इति खश् ॥

**शुनिन्धयः**—'खश्प्रकरणे वातशुनीतिलशर्धेष्वजधेट् तुदजहातिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति शुनीशब्दे उपपदे खश् ॥

**घटिन्धयः** । **खरिन्धयः** । खरी गर्दभी । **वातन्धयः** । 'खरीघटिवातेषु' इति वक्तव्यात् खश् । केचित्तु—खरी-शब्दस्थाने खारीशब्द परिमाणवचनं पठन्ति । वातशब्दो भाष्ये न दृश्यते इति हरदत्तः ॥

**धारुः** वत्सः मातरम्—'दाधेट्सी' इति रुः । 'नलोका-व्यय' इति कर्मणिषष्ठ्या निषेधः । तत्र हि उकारोऽपि प्रश्लिष्यते—उ उक इति ॥

धयन्ति तामिति **धात्री**—स्तनपायिका । 'धः कर्मणि ष्ट्रन्' इति ष्ट्रन् । कर्मणीतीहाभिधेयनिर्देशः । षित्त्वं ङीषर्थम् ॥

**धीत्वा**—'घुमास्था' इतीत्वम् । **प्रधाय**—'न ल्यपि' इतीत्वनिषेधः । 'ईत्वमवकारादौ' इति भाष्ये स्थितमिति । क्वि-प्यपि—**धाः** ॥

**सन्धिः**—'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्ययः ॥

धीयन्त इति **धानाः**—'धापृवस्यज्यतिभ्यो नः' इति नः ॥

**धेनुः**—'धेट इच्च' इति नुप्रत्ययः, इकारश्च धातोरिति । डिद्वचनेषु 'डिति ह्रस्वश्च' इति पक्षे नदीसंज्ञायामाट्—**धेन्वा** इति । **धेन्वाम्** इत्यत्र 'इदुद्भ्याम्' इति इकारोकाराभ्यां परस्य डेरामादेशः । विसंज्ञापक्षे गुणादौ **धेनवे** । **धेनोः** । इति । **धेनौ** इत्यत्र 'अच्च घेः' इति डेरौत्वम्, धेश्चाकारः ॥

धेनूनां समूहो **धैनुकम्**—'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' ठकि, 'इसुसुक्तान्तात्कः' इति कादेशः । सामूहिकेषु तदन्तविधिरिष्यते । तेन गोधेनूनां समूहः **गौधेनुकम्** इति भवति । 'जङ्गलधेनुव-लजान्तस्य विभाषितमुत्तरं' इति वृद्धिनिमित्ते तद्धित उत्तरपदस्य

वा वृद्धिः, पूर्वपदस्य तु नित्यम् । 'पोटायुवति' इत्यादिना समासः। अधेनूनां समूहः **आधेनवम्** । **आधैनवम्** । इत्यत्र 'धेनोरनञः' इति ठड्ढिपेधात् प्राग्दीव्यतीय उत्सादिलक्षणोऽञ् ॥

**धेनुष्या**—बन्धकीकृता धेनु· पीतदुग्धेति यस्याः प्रसिद्धिः। 'संज्ञायां धेनुष्या' इति यत्प्रत्यय· षुगागमश्च निपात्यते ॥

धेनुर्भविष्यतीति **धेनुंभव्या**—'धेनोर्भव्यायां मुम्' इति मुमागमः ॥

## ग्लै म्लै हर्षक्षये ॥८९०-८९१॥

हर्षक्षयो धातुक्षयः । **ग्लायति** । **जग्लौ** । **जग्लतुः** । **जग्लाथ** । **जग्लिथ** । **जग्ल, लग्लौ** । **जग्लिव** । **जग्लिम** । **ग्लाता** । **ग्लास्यति** । **ग्लायतु** । **अग्लायत्** । **ग्लायेत्** । आशिषि—**ग्लायात्, ग्लेयात्** 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' इति स्थोऽन्यस्य संयोगादेरार्धधातुके किति लिडि वा एत्वम् । **अग्लासीत्**—सगिटौ ॥

**जिग्लासति** । **जाग्लायते** । **जाग्लेति** । **जाग्लीतः**—'ई हल्यघोः' इति क्ङिति सार्वधातुके श्नाप्रत्ययस्य चाघोरभ्यस्तस्य चाकारस्य ईकारविधानात् ईत्वम् । लोटि हेरपित्त्वात् ङित्वादत्वम्—**जाग्लीहि** ॥

**ग्लपयति, ग्लापयति** । **अजिग्लपत्** । **प्रग्लापयति** । 'ग्लास्नावनुवमां च' इति अनुपसृष्टस्य वा मित्त्वमुक्तम् ॥

सुग्लायीति **सुग्लः**—'आदेचः' इत्यात्वं प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेरनाद्यन्तकमिति 'आतश्चोपसर्गे' इति उपसृष्टादाकारान्ताद्विहितः को भवति ॥

**ग्लानः**—'संयोगादेरातोधातोर्यण्वतः' इति निष्ठानत्वम् ॥

**ग्लास्नुः**—'ग्लाजिस्थश्च स्नुः' ॥

**सुग्लानं** भवता—'आतो युच्' इति ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु युच् ॥

स्त्रियां **ग्लानिः**—'ग्लाम्लाज्याहात्वारिभ्यो निः' इति निः ॥

**ग्लौः**—'ग्लानुदिभ्यां डौः' इति डौ डित्त्वात् टिलोपः । 'च्विरव्ययम्' अय च्व्यन्त एवाव्ययमिति नियमात् 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वाभावात् । तेन **ग्लावौ** । **ग्लावः** । इत्यादि यथासंभवं नेयम् ॥

एवं **म्लायति** इत्यादि । म्लै गात्रविनामे इति क्वचित्पठ्यते। गात्रविनामः कान्तिहानिः ॥

## द्यै न्यङ्करणे ॥ ८९२ ॥

न्यङ्गविधान इति क्षीरस्वामी । न्यङ्गं कुत्सिताङ्गमिति च ॥ **द्यायति** । **दद्यौ** । इत्यादि ग्लायतिवत् ॥

## द्रै स्वप्ने ॥ ८९३ ॥

## ध्रै तृप्तौ ॥ ८९४ ॥

## ध्यै चिन्तायाम् ॥८९५॥

**द्रायति** । **ध्रायति** । **ध्यायति** । इत्यादि ग्लावत् । 'स्तृहिगृहि' इत्यालुचि 'द्रा कुत्सायां गतौ' इत्यादावकस्य ग्रहणमिति वृत्तौ ॥

**निद्रा**—'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ् ॥

अनिद्रो निद्रावान् भवति **निद्रायति** । **निद्रायते** । 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति लोहितादेराकृतिगणत्वात् अस्मात् च्वर्थे भवत्यर्थे क्यष् । 'वा क्यषः' इति पक्षे तङ् । निद्राशब्दो वृत्तिविषये तद्वति वर्तते इति न्यासकैय्यटपदमञ्जर्यादिषु । निद्रातीति **निद्रः** 'आतश्चोपसर्गे' इति कर्तरि कः । अस्माद्वा क्यष् । उक्तं चैतत् 'द्रा कुत्सायां गतौ' इत्यत्र आत्रेयेण ॥

**निद्राणः**—अकर्मकत्वात् कर्तरि निष्ठा 'सयोगादेः' इति निष्ठानत्वम् ॥

**निद्रित**—इति तारकादेराकृतिगणत्वात् इतच् ॥

सुष्ठु ध्यायतीति **सुधीः**—'ध्यायतेः संप्रसारणं च' इति क्विप्सम्प्रसारणयोः 'सम्प्रसारणाच्च' इति परपूर्वत्वे 'हल' इति दीर्घः । **सुधियौ** इत्यादौ 'एरनेकाचः' इति यणः 'न भूसुधियोः' इति निषेधात् 'अचि श्नुधातु' इतीयङ् ॥

**ध्यातः**—'संयोगादेः' इति निष्ठानत्वं 'न ध्याख्या' इति निषिध्यते ॥

**धीवा**—'ध्याप्योः सम्प्रसारणं च' इति क्वनिपि सम्प्रसारणे रपूर्वत्वदीर्घत्वे । स्त्रियाम्—'वनोरच' इति ङीब्रेफयोः—**धीवरी** ॥

## [illegible]राब्दे ॥८९६॥

**रायति** । **ररौ** । इत्यादि पूर्ववत् ॥

कीर्तिं रायतीति **कीरः**—'सुपि स्थः' इत्यत्र 'सुपि' इति योगविभागात्कः । एवमीदृशोऽन्येऽपि निर्वाह्याः ॥

रा दान इत्यदादौ ॥

## स्त्यै ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः ॥ ८९७-९८ ॥

एको दन्त्यादिः । अपरो मूर्धन्यादिः । षोपदेशलक्षणपर्युदास एक एव गृह्यते, उभयोः पाठवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अत्रार्थयोः यथासङ्ख्यं न भवति, पृथगनिर्देशात् ॥

**स्त्यायति** । **तस्त्यौ** इत्यादि ग्लैवत् । षोपदेशस्यापि 'धात्वादेः षस्सः' इतीदमेव रूपम् । प्रयोजनं तु **तिष्ट्यासति** । **अतिष्ट्यपत्** इत्यादावादेशसकारत्वात् षत्वम् । यत्तु—मैत्रेयसम्मताकारकाश्यपादिभिरुक्तं—पुनः पाठफलं 'धात्वादेः षस्सः' इति सत्वाभाव इति—तत् 'अज्दन्त्यपराः सादयः षोपदेशाः' इति लक्षणस्याव्याप्तिप्रसङ्गादुपेक्ष्यम् । पाठे षोपदेशानां प्रयोगे सादित्वाद्ज्दन्त्यपरत्व हि लक्षणं, व्यापेकन च नाम लक्षणेन भवितव्यम् ॥

**प्रस्तीतः** । **प्रस्तीमः** । **प्रस्तीतवान्** । **प्रस्तीमवान्**—'स्त्यः प्रपूर्वस्य' इति निष्ठायां सम्प्रसारणे परपूर्वत्वदीर्घत्वयोः 'प्रस्त्योन्यतरस्याम्' इति प्रोपसृष्टादस्मात्पराया निष्ठायास्तकारस्य पक्षे मकारः । मकाराभावे 'संयोगादेः' इति निष्ठानत्वस्य 'स्त्यः' इति सम्प्रसारणे पूर्वत्रासिद्धत्वात् कृते च तस्मिन् क्त्वाकारान्तत्वयोरभावादप्रसङ्गः । प्रस्त्य इति लघुवक्तव्ये 'स्त्यः प्रपूर्वस्य' इति 'वचनं प्रशब्दो यस्माद्धातूपसर्गसमुदायात्पूर्व इत्या

श्रयणार्थम् । तेन **प्रसंस्तीत** इत्यादावन्योपसर्गव्यवधानेऽपि प्रसारणं भवति । मत्वं तु 'प्रस्त्यः' इति निर्देशात् व्यवहिते न भवति । **स्त्यानः, संस्त्यान** इत्यादौ प्रस्त्याभावान्न सम्प्रसारणम् । नापि मत्वम् । सम्प्रसारणविधौ षोपदेशोऽप्ययं स्त्यारूपो गृह्यते इति वृत्त्यादौ । तेन तस्यापि निष्ठायामुक्तान्येवोदाहरणानि द्रष्टव्यानि । येऽस्य सत्वं नेच्छन्ति तेषां स्त्यारूपमापन्नयोर्द्वयोः ग्रह इति वृत्त्यादिमहाग्रन्थविरोधश्च । न चास्त्यस्य 'प्रकृतिवदनुकरणं' इति स्त्यारूपत्वं, यतस्त्वेप्रकृतावेव सत्वं नाभ्युपगम्यते ॥

स्त्यायति संहन्यतेऽस्यां गर्भ इति **स्त्री**—'संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रईट्' इति ड्रटि डित्त्वाट्टिलोपे वलिलोपे च टित्त्वात् ङीप् । द्विवचनाद्यजादौ 'स्त्रिया' इतीयडि—**स्त्रियौ** इत्यादि । अम्शसोस्तु 'वाम्शसो.' इतीयड्विकल्पनात्—**स्त्रीम् । स्त्रियम् । स्त्रियः । स्त्रीः** इति प्रथमयो. पूर्वसवर्णदीर्घोऽपि भवति । 'नेयङुवङ्' इत्यत्र अस्त्रीति निषेधात् इयङ्स्थानत्वेऽपि नदीत्वात् **स्त्रियै । स्त्रियाः । स्त्रियाम्**, इत्यत्र 'आण्नद्या' इति ङिद्वचनस्याडागमो 'डेराम्' इति डेराम् भवति । तथा **स्त्रीणाम्** इत्यत्र 'ह्रस्वनदी'इति नुड्भवति । तथा हे **स्त्रि** इत्यत्र 'अम्बार्थनद्योः' इति ह्रस्वो भवति ॥

स्त्रियाः सम्बन्धि सर्वं **स्त्रैणम्**—'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' आभ्या यथासङ्ख्यं प्राग्भवनीयेष्वर्थेषु तत्तदर्थानुकूलसमर्थविभक्त्या 'नञ्स्नञौ' इति नञ् ॥

**स्त्रीत्वम् । स्त्रीता**—'आ च त्वात्' इति चकारेण त्वतलोरभ्यनुज्ञानात् त्वतलौ । 'स्त्रीवन्माभूम' इति भाष्यकारप्रयोगात् वति-

स्साधुः । 'स्त्री पुंवच्च' इत्यादिनिर्देशस्य प्रयोगापेक्षत्वाद्वा । अत्र विषये 'बाधकान्येव निपातनानि' इति नञ्स्त्रञौ वतिना बाध्येते । यथा 'सर्वनाम' इत्यत्र णत्वम् ॥

परस्त्रिया अपत्यं **पारशवः**—'परस्त्रीपरशुं च' इति शिवादिपाठात् अपत्ये अण् परशुभावश्च ॥

**पारस्त्रैणेयः**—षष्ठ्यन्तादपत्येऽर्थे 'कल्याण्यादीनामिनङ्' इति ढकीनङादेशोऽन्त्यस्य । अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः ॥

कुस्त्रिया भावः कर्म वा **कौस्त्रम्**—युवादित्वादण् । एवं **सौस्त्रम्** । **दौस्त्रम्** ॥

**स्त्रीतरा, स्त्रितरा**—'नद्याः शेषस्य' इति ह्रस्वो वा । सूत्रार्थश्चेलत्यादौ द्रष्टव्यः ॥

**स्तूपः** उच्छ्रायः—'स्त्यः सम्प्रसारणमुच्च' इति पप्रत्ययः । प्रसारणपूर्वत्वे तस्य चेकारस्य उकारो दीर्घश्च । ऊचेत्येव वक्तव्ये दीर्घविधानं ह्रस्वस्यापि श्रवणार्थम् । तेन **स्तुप** इत्यपि भवति ॥

## खै खदने ॥ ८९९ ॥

खदनं स्थैर्यं हिंसा च । **खायति** । **चखौ** । **खाता** । इत्यादि ॥

## क्षै जै षै क्षये ॥ ९००-९०२ ॥

**क्षायति** । **चक्षौ** । **क्षाता** । इत्यादि ॥

**क्षामः** । **क्षामवान्**—'क्षायो मः' इति निष्ठातो मः ॥

णौ **क्षपयति** । अयं मिदिति घटादौ ध्वनतावुक्तम् ॥

एवं **जायति** । **जजौ** । **जाता** । **सायति** । **ससौ** । **साता** । इत्यदि । 'घुमास्था' इत्यत्र साग्रहणेन स्यतेः ग्रहणं नास्येति आशीर्लिङि 'एर्लिङि' इत्येत्वाभावात् **सायात्** इति भवति । अत एव **सायते** । **सासायते** । इत्यादौ 'घुमास्था' इतीत्वं न भवति । तथा च तत्र न्यासे—गामादाग्रहणेष्वविशेषमुक्त्वा 'षो अन्तकर्मणि' इत्ययमेवोपात्तः । तथा च तन्त्रान्तरे—'स्थास्यतिजहातिमाति' इति स्पष्टः 'षो अन्तकर्मणि' इत्ययमेव निर्दिश्यते । 'विभाषा घ्राधेट् शाच्छासः' इति सिचो लुग्विधावपि श्यन्विकरणाभ्या साहचर्यात्स्यतिरेव गृह्यते इत्यस्मात् सिचि सकि च **असासीत्** इत्येव भवति ॥

**सिषासति**—आदेशसकारत्वात् षत्वम् ॥

**सापयति** । **असीषपत्** । 'शाच्छासा' इति युग्विधावपि श्यन्विकरणाभ्यां शाच्छासाभ्यां साहचर्यात् स्यतिरेव गृह्यते इत्यस्य पुगेव भवति ॥

केचिदमुं दन्त्यादि पठन्ति । तत् पोपदेशलक्षणविरोधादुपेक्ष्यम् ॥

## कै गै शब्दे ॥ १०३-१०४ ॥

इह शब्दः शब्दविशेषः । उक्तं चैवं स्वामिना ॥

**कायति** । **चकौ** । **काता** ॥

—'इण्भीक' इति कन् ॥

**गायति** । **जगौ** । **गाता** । इत्यादि । 'घुमास्था' इत्यत्र

'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' इति लाक्षणिकगारूपस्य गायतेरपि ग्रहणात् आशीर्लिङि एत्वे **गेयात्** इति भवति ॥

'गातिस्था' इत्यत्र 'गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम्' इति वृत्तावुक्तत्वात् अस्मात् सिचो लुगभावात् **अगासीत्** इति भवति ॥

**गाथकः । गायनः**—'गस्थकन्' 'ण्युट्च्' इति कर्तरि थकन् ण्युट् च । ण्युटो णित्त्वात् 'आतो युक्' इति युक् । टित्त्वात् स्त्रिया **गायनी** ॥

वासरूपेण ण्वुल् तृचोः—**गायकः । गाता** । इति भवति ॥

**उद्गाता** । तस्य भावकर्मणी—**औद्गात्रम्** 'उद्गात्रादिभ्योऽञ्' इत्यञ् ॥

साम गायतीति **सामगः**—'गापोष्टक्' इति कर्मण्युपपदे टक् । टित्त्वात् स्त्रिया **सामगी** ॥

**गीत्वा । गीतम्** । 'घुमास्था' इतीत्वम् ॥

**प्रगीतिः**—'स्थागापापचो भावे' इति स्त्रियां भावे क्तिन् । 'स्त्रिया क्तिन्' इत्येव सिद्धे पुनर्वचनं 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङो बाधनार्थम् ॥

**गाथा** पद्यविशेषः—'उषिक्कुषिगाथिभ्यः कथन्' इति कथन् ॥

**अवगथः** प्रातस्सवनम्, सोमो वा । 'निशीथगोपीथावगथाः' इत्यवपूर्वादस्मात्थनि धातोर्ह्रस्वत्वं च निपात्यते ॥

**उद्गीथः**—'गश्चोदि' इति उदुपसृष्टात् कथन् । 'घुमास्था' इतीत्वम् ॥

## श्रै स्रै* पाके ॥ १०५-१०६ ॥

इह पाको विक्लित्तिः । तथा च 'शृतं पाके' इत्यत्र वृत्त्यादावुक्तम् ॥

**श्रायति । शश्रौ । श्राता ॥**

**स्रायति । सस्रौ । स्राता ।** इत्यादि ग्लायति†वत् ॥

**श्रपयतीति** घटादित्वात्पाके मित्त्वम् । अन्यत्र—**श्रापयति ।** स्वेदयतीत्यर्थः ॥

**शृतं** क्षीरम्—'शृतं पाके' इति के शृभावो निपात्यते । अत्र पाको विक्लित्तिः तत्फलको व्यापारश्च । तत्र तत्फलके व्यापारे णिचमन्तरेण वृत्तेरभावात् श्रपेरप्ययं शृभाव इति **शृतं** क्षीरं देवदत्तेन इति भवति । तथा च तत्र वार्तिकम्—'श्रा-श्रप्योः शृभावो निपात्यते' इति । यस्तु श्रपेर्णिचि श्रपिशब्दः न तस्यायमादेशः, पाक इति वचनात् । अत्र पाचनार्थः पा-कस्तु गुणभूतः । अयं च शृभावो व्यवस्थितविभाषावि-ज्ञानात् क्षीरहविषोर्नित्यं भवति । अन्यत्र तु न भवति—**श्राणा** यवागूः । **श्रपिता** यवागूः इति । 'संयोगादेः' इति निष्ठानत्वम् ॥

श्राणाऽस्मै नियमेन दीयते **श्राणिकः**—'श्राणामांसौदनाट्ठिठन्' इति नियमेन दीयमानत्वोपाधिकार्थात् प्रथमान्तादस्मै दीयत इति चतुर्थ्यर्थे ठिठन् । टित्त्वात् स्त्रियाम्—**श्राणिकी** ॥

---

*श्रै इति केषुचित्पाठः । तदनुसारेण शायति श्रायति इत्युत्तर-त्रापि पठ्यते.

†गायति.

श्रातीत्यादादिकस्य । श्रापयतीति चौरादिकस्य ॥

## पै ओ वै शोषणे ॥ १०७–१०८ ॥

**पायति** । 'पाघ्रा' इत्यत्र नास्य ग्रहणम्, पारूपस्य लाक्षणिकत्वात् । ऐकारोपदेशसामर्थ्यात् शिति पारूपस्यैवाभावाच्च ॥

**पपौ** । **पाता** । **पास्यति** । **पायतु** । **अपायत्** । **पायेत्** । आशिषि—**पायात्** 'घुमास्था' इतीत्वं तद्विषयं 'एर्छिडि' इत्येत्वं चास्य न भवति, पारूपस्य लाक्षणिकत्वात् । अत एव 'गातिस्था' इति सिज्लुग्विधावपि अस्याग्रहणात् **अपासीत्** इति भवति ॥

**पिपासति** । **पापायते**—'ई हल्यघोः' इत्यभ्यस्ताश्रयमीत्वं क्ङित्सार्वधातुकविषयमितीह न भवति ॥

**पापाति, पापेति**—ईटि गुणः । **पापीतः**—'ई हल्यघोः' इति क्ङित्सार्वधातुकपरत्वादीत्वम् । **पापति**—'श्नाभ्यस्तयोः' इत्यालोपः ॥

लङि—**अपापेत्** । **अपापात्** । **अपापीताम्** । इत्यादि । 'सिजभ्यस्त' इति नित्यं जुस्भावे—**अपापुः** । 'लङः शाकटायनस्यैव' इति विकल्पो नेति धयतावुक्तम् । आशीर्लिङि आर्धधातुकत्वात् 'ई हल्यघोः' इतीत्वाभावात् **पापायात्** इति भवति । 'घुमास्था' इतीत्वमस्य नेति प्रागेवोक्तम् ॥

**पाययति**—'शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्' इति णौ युक् । तत्र लाक्षणिकपारूपस्यापि ग्रहणमिति वृत्तिन्यासपदमञ्जर्यादिषु ॥

**पीत्वा । पातं सरः ॥**

पा इति पानार्थ इहाग्रे । रक्षणार्थोऽदादौ ॥

**वायति । ववौ** इत्यादि पायतिवत् ॥

णौ **वापयति** सरः । आत्वे पुक् । 'वो विधूनने जुक्' इत्यत्र 'वा गतिगन्धनयो·' इत्याददिकस्यैव ग्रहणं, तस्यैव विधूनने वृत्तिसम्भवादिति व्याख्यातार· । 'शाच्छासा' इति युक्तु तत्रैव 'वे' इति निर्देशात् 'वेञ् तन्तुसन्ताने' इत्यग्रे पठिष्यमाणस्यैव, न त्वस्य प्रसजति ॥

**वानं** फलम् । ओदित्त्वान्नत्वम् ॥

## ष्टै वेष्टने ॥ १०९ ॥

**स्तायति । तस्तौ । स्ताता ॥**

**स्तापयति । अतिष्टपत् ।** इत्यादि । अयं च पाठो मैत्रेयस्य । भट्टभास्करो प्यत्रानुकूलः । यदाह—'स्तायूनां पतये नमः'* इत्यत्र छद्मना ये वस्त्रादीनपहरन्ति ते स्तायवः । 'ष्टै वेष्टने' इत्यस्माद्वाहुलकादुणिति । स्वाम्यादयस्तु बहवः 'ष्णै वेष्टने' इति पठन्ति । तथा च निरुक्तम्—'उष्णीषं स्नायतेः इति । व्याचख्युश्चैतदेवं—उष्णीषं शिरोवेष्टनम्, स्नायतेः शौचा*र्थस्य वेष्टनार्थस्य वा, उभयत्रापि संभवादिति । अत एव व्याख्यानात् ष्णै शौचे† इत्यपि भूवादौ द्रष्टव्यः । प्रयुज्यते च भारते—

ल्याः पद्मपत्राक्ष्याः स्नायन्त्या जघनं घनम् ।
या· स्त्रियो दृष्टवत्यस्ताः पुम्भावं मनसा ययुः ॥ इति ।

---

*शोभा. †शोभने.

क्रियानिघण्टौ च—'स्नाति स्नायत्याप्लवते' इति। दैवे च—

'स्नातीति शौचे च स्नायेदिति चेच्छन्ति केचन।' इति॥

## दैप् शोधने॥ ९१०॥

पकारोऽदाविति विशेषणार्थः। अयमेव लाक्षणिकानामपि घुसंज्ञायां ग्रहणे लिङ्गम्। **दायति** इत्यादि पायतिवत्॥

णिचि—**दापयति**। **अदीदपत्**॥

दाण् दाने, देड् रक्षणे इतीहैवाग्रे। दाप् लवने। इत्यदादौ। डु दाञ् दाने इति जुहोत्यादौ। दो अवखण्डने, दीङ् क्षये इति च दिवादौ॥

## पा पाने॥ ९११॥

**पिबति**। 'पाघ्रा' इत्यादिना पिबादेशः। 'पिबेर्गुणप्रतिषेधः' इति कात्यायनः। वर्धमानस्तु—'लोपः पिबतेः' इति लिङ्गात् गुणो नेति। वृत्तौ तु—अकारान्तोऽयमादेश आद्युदात्त इति। अतो लघूपधत्वाभावान्न गुणप्रसङ्गः॥

**पपौ**। **पाता**। **पास्यति**। **पिबतु**। **अपिबत्**। **पिबेत्**। आशिषि—**पेयात्** 'एर्लिङि' इत्येत्वम्। **अपात्**—'गातिस्था' इति सिचो लुक्॥

**पिपासति**। **पेपीयते**—'घुमास्था' इत्यादिनेत्वे द्विर्वचनम्॥

**पापेति**। **पापाति पापीतः**—'ई हल्यघोः' त्वम्। **पापति**—'श्नाभ्यस्तयोः' इत्याल्लोपः। **पापिता**—इत्यादौ इटि 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपः॥

लडि 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति नित्यं जुसि—**अपापुः**। 'लङश्शाकटायनस्यैव' इति विकल्पो नेति धयतावुक्तम्। लडि—**पापायात्**। अनार्धधातुकत्वात् 'घुमास्था' इतीत्वं न भवति। आशिषि—आर्धधातुकत्वादीत्वापवादे 'एर्लिङि' इत्येत्वे **पापेयात्**। लुडि 'गातिस्था' इति सिचो लुकि **अपापात्**। **अपापुः**—'आतः' इति जुस्॥

**पाययति**। **पाययते**। 'न पादमि' इति 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति परस्मैपदस्य प्रतिषेधः। 'शाच्छासा' इत्यादिना युक्। णेश्चडि 'लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य' इत्युपधाया आकारस्य लोपः। युक्ययमुपधा भवति। अच्छोपस्य 'णौ कृतं स्थानिवत्' इति स्थानिवत्त्वात् पाय्शब्दस्य द्विर्वचने 'ईच्चाभ्यासस्य' इत्याकारस्येकारे **अपीप्यत्**—इति भवति। तत्र पिबतेरिति तिपा निर्देशात् यङ्लुकि **अपापयत्** इति भवति॥

**उत्पिबः**—'पाघ्राध्माधेट्दृशश्शः' इति कर्तरि शप्रत्यये पिबादेशः॥

**सुरापः**। **शीधुपः**—'गापोष्टक्' इति कर्मण्युपपदे टक्। टित्त्वात् स्त्रियां **सुरापी**। अत्र 'पिबतेः सुराशीध्वोः' इत्युपपदनियमात् उपपदान्तरे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति को भवति। विशेषः स्त्रिया ङीबभावः—**क्षीरपा** ब्राह्मणीति॥

**द्विपया** पिबतीति **द्विपः**—'सुपि स्थः' इत्यत्र 'सुपि' इति विभागात्, तत्र च 'आतः' इत्यनुवर्तनात् आकारान्तादस्मात्सुप्युपपदे कप्रत्ययः। एवं **कच्छपादयः**॥

प्रपिबन्त्यस्यामिति **प्रपा**—'घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधियुध्यर्थम्' इत्यधिकरणे कः ॥

**प्रपीतिः**—'स्थागापापचो भावे' इति भावे क्तिन् । 'स्त्रियां क्तिन्' इत्येव सिद्धे वचनं 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्बाधनार्थम् ॥

**पीत्वा**—'घुमास्था' इतीत्वम् ॥

**प्रपाय**—'न ल्यपि' इतीत्वनिषेधः । 'निपीय' इति पीङो रूपम् ॥

**पीत्वास्थिरकः**—'मयूरव्यंसकादयश्च' इति तत्पुरुषः । 'समासेनञ्पूर्वे' इति क्त्वो ल्यबादेशोऽत एव मयूरव्यंसकादिपाठान्न भवति । यद्वा—अनञिति नञ्सदृशमव्ययं परिगृह्यते । तेन नञोऽन्येनाव्ययेन क्तान्तस्य समासेऽयं ल्यब्विधिरितीह नैव प्रसजति ॥

पीतिः पानं, पीयतेऽनेनेति वा पानम् । क्षीरस्य पानं **क्षीरपानं, क्षीरपाणं** इति वा—'वा भावकरणयोः' इति पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य भावकरणविषये पाननकारस्य णत्वविकल्पः क्षीरं पानं येषां ते **क्षीरपाणा** उशीनरा इत्यत्र—'पानं देशे' इति पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य पाननकारस्य देशे अभिधेये नित्यं णत्वम् ॥

'पयःपानं भुजङ्गानाम्' इत्यत्र 'कर्मणि च येन संस्पर्शात्कर्तुः शरीरसुखम्' येन कर्मणा संस्पृश्यमानस्य कर्तुः शरीरस्य सुखं भवति तस्मिन् कर्मण्युपपदे धातोर्भावे ल्युडिति ट्। एवं चोपपदसमासः सिद्धः । 'ल्युट्च' इति ल्युटि तु 'षष्ठी' इति समासस्य 'कर्मणि च' इति निषेधस्स्यात् ॥

समाना पीतिः **सपीतिः** । विशेषणसमासः । 'समानस्य छन्दसि' इत्यत्र 'समानस्य' इति योगविभागात् समानस्य सभावः ॥

कथं **पीता** गाव इति, यतः प्रत्यवसानार्थत्वात्कर्तरि निष्ठया न भाव्यम् । उच्यते—पानं पीतमेषां अस्तीत्यर्शआद्यजन्तोऽयं द्रष्टव्य. ॥

**पायुः**—'कृवापाजि' इत्युण् ॥

**सोमपीथः**—सोमपानम् । 'पातृतुदिवचिविचिरिचिसिचिभ्यः क्थन्' इति क्थन् ॥

**पेरु**·—आदित्य· । 'मापोरुरिच्च' इति रुप्रत्यय·, इकारश्चान्तादेशः । तस्य च गुणः ॥

**पापम्**—'पानीविषिभ्य· पः' इति पः ॥

**पाथ**—'पातेरसुन्' इत्यसुन्प्रत्ययः, थुगागमश्च ॥

**पयः**—'पिबतेरीच्च' इत्यसुनि ईकारेऽन्तादेशे गुणायौ ॥

पय इवाचरति **पयायते, पयस्यते**—'कर्तुः क्यङ्' इति क्यङ्, 'ओजसोऽप्सरसो नित्यं पयसस्तु विभाषया' इति पक्षे सलोप·, 'न· क्ये' इति नान्तस्यैव क्ये पदसंज्ञानियमात् 'ससजुषोरु·' इति न भवति ॥

पयसो विकार. **पयस्या**—'गोपयसोर्यत्' इति यत् ॥

–अर्भक· । 'इण्भीकापा' इति कन् ॥

**पात्रम्**—ष्ट्रन् । षित्त्वात् स्त्रियां ङीषि **पात्री** ॥

पञ्चानां पात्राणां समाहारः **पञ्चपात्रम्**—'तद्धितार्थ' इति समाहारे द्विगुः । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते' इति स्त्रीत्वं 'पात्रादिभ्यः प्रतिषेध' इति निषिध्यते । 'स-नपुंसकं' इति समाहारद्विगुद्वन्द्वनिबन्धनं नपुंसकत्वमेव भवति ॥

पात्रस्य वापः क्षेत्रं **पात्रिकम्** । उप्यतेऽस्मिन्निति वापः । 'पात्रात् ष्ठन्' इति षष्ठ्यन्तात् वापेऽर्थे ष्ठन् । षित्त्वात् स्त्रियां ङीषि—**पात्रिकी** क्षेत्रभक्तिरिति ॥

पात्रं परिमाणविशेषः पात्रं सम्भवति अवहरति पचति वा **पात्रीणा** स्थाली । 'आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम्' इति द्वितीयान्तात् सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ख· । खाभावे प्राग्वतीये ष्ठनि **पात्रिकी** । आधारप्रमाणादाधेयप्रमाणानातिरेकः सम्भवः । उपसं-हरणमभ्यवहारः । विच्छेदनं पाकः ॥

द्वे पात्रे सम्भवत्यावहति पचति वा **द्विपात्रिकी । द्विपात्रीणा** । 'द्विगोष्ठंश्च' इति आढकाचितपात्रान्तात् द्विगोर्द्वितीयान्तात् संभवत्यादिष्वर्थेषु ष्ठन् । चकारात् खश्च । अत्रान्यतरस्याङ्ग्रहणानुवृत्तेः प्राग्वतीयष्ठञपि भवति । तस्य चार्हीयप्रत्ययत्वात् 'अध्यर्धपूर्व' इति लुकि 'द्विगोः' इति ङीपि—**द्विपात्री** स्थालीत्यपि भवति । ठन्खञोस्तु विधानसामर्थ्यान्न लुक् ॥

पात्रमर्हति **पात्रीयः, पात्र्यः**—'पात्राद्घंश्च' ति द्वितीयान्तादर्हतीत्यर्थे घन्यतौ । इह पात्रं परिमाणं भा च ॥

सर्वपात्रं व्याप्नोति **सर्वपात्रीणः** सूपः—'तत्सर्वादेः' इति खः ॥

**पात्रेसमितः** । **पात्रेबलुलः** । 'पात्रेसमितादयश्च' इति पक्षे सप्तमीतत्पुरुषः । अत्रैव पाठादलुक् । अत्रावधारणेन क्षेपः पात्र एव समितो न पुनः क्वचित्कार्ये इति ॥

**अयस्पात्रम्**—'अतःकृकमिकंस' इत्यादिना अकारात्परस्य विसर्जनीयस्य पात्रे परतः सत्वम् । अत्र करोतिः धातुः, कमिश्च । अन्यानि प्रातिपदिकानि । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया **अयस्पात्री** इत्यत्रापि भवति ॥

पायतीति शोषणे गतम् ॥

## घ्रा गन्धोपादाने ॥ १९२ ॥

**जिघ्रति**—'पाघ्रा' इत्यादिना जिघ्रादेशः शितिः ॥

**जघ्रौ** । **घ्राता** । इत्यादि । आशीर्लिङि—**घ्रायात्, घ्रेयात्**; 'वाऽन्यस्य' इत्येत्वविकल्पः । लुङि **अघ्रात्, अघ्रासीत्**—'विभाषा घ्रा' इति सिचो वा लुक् परस्मैपदे । आत्मनेपदे तु—**अघ्रायि** । '**अघ्रासातां** सुमनसौ' इति नित्यं सिचः श्रवणमेव ॥

**जिघ्रासति** । **जेघ्रीयते** । 'ई घ्राध्मोः' इति यडीत्वम् ॥

**जाघ्रेति, जाघ्राति** । **जाघ्रीतः** । 'ई हल्यघोः' इतीत्वम् ॥

**घ्रापयति** । **अजिघ्रपत्, अजिघ्रिपत्**—'जिघ्रतेर्वा' इति चङि णावुपधाया वेत्वम् । ङितपा निर्देशात् यङ्लुकि **अजाघ्रपत्** इत्येव ॥

आजिघ्रतीति **आजिघ्रः**—'पाघ्रा' इत्यादिना उपसृष्टादस्माच्छे शपि जिघ्रादेशः ॥

व्याजिघ्रतीति **व्याघ्रः**—'जिघ्रतेः संज्ञायाम्' इति कः। 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिस्सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः' इति सुबुत्पत्तेः प्रागेवात्र समासः। तेन स्त्रियां 'जातेरस्त्रीविषयात्' इति अदन्तलक्षणो ङीष् भवति—**व्याघ्री** इति। सुबन्तेन तु समासे पूर्वमेव स्त्रियां टापि ततस्सुपि अदन्तत्वाभावात् ङीष् न स्यात् ॥

व्याघ्रस्य विकारः चर्म **वैयाघ्रम्**—'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' इति प्राणिवाचिभ्यो रजतादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यः यथायोगं विकारावयवयोरर्थयोरञ् इत्यञि 'न य्वाभ्याम्' इति वृद्धिनिषेध ऐजागमश्च ॥

वैयाघ्रेण परिवृतो रथो **वैयाघ्रः**—'द्वैपवैयाघ्रादञ्' इति द्वैपवैयाघ्रशब्दाभ्यां तृतीयान्ताभ्यां परिवृतो रथ इत्यस्मिन् विषयेऽञ् प्राग्दीव्यतीयस्याणोपवादः ॥

**घ्राणम्, घ्रातम्**—'नुदविद' इति निष्ठानत्वविकल्पः ॥

## ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः ॥ १९३ ॥

इह अग्निसंयोगो मुखवायुनाऽग्निसंयोगः ॥

**धमति**—'पाघ्रा' इत्यादिना धमादेशः शिति **दध्मौ**। **ध्माता**। इत्यादि। लिङि—**धमेत्**। आशिषि—**ध्यात्, ध्मेयात्**—'वाऽन्यस्य' इत्येत्वविकल्पः ॥

**दिध्मासति** । **देध्मीयते**—'ई घ्राध्मोः' इति यडीत्वम् । **दाध्मेति**—'ई हल्यघोः' इतीत्वम् । **दाध्मति**—'श्नाभ्यस्तयोः' इत्यालोपः ॥

**ध्मापयति** । **अदिध्मपत्** ॥

**उद्धमः**—'पाघ्राध्मा' इत्युपसृष्टाच्छे शपि धमादेशः ॥

**नासिकन्धमः**—'नासिकास्तनयोः' इति नासिकायां कर्मण्युपपदे अस्मात्खश् ॥

**नाडिन्धमः** । **मुष्टिन्धमः**—'नाडीमुष्टचोश्च' इति नाडीमुष्टचोः कर्मणोरुपपदयोः खश्प्रत्ययः । अत्र ध्यन्तस्य मुष्टिशब्दस्यापूर्वनिपाताल्लक्षणव्यभिचारात् लिङ्गात् ध्माधेटोरुपपदयोश्च यथासङ्ख्यं न भवति ॥

पाणयो ध्मायन्ते येषु **पाणिन्धमाः** पन्थानः—'उग्रंपश्येरंमदपाणिन्धमाश्च' इति खशि निपात्यते ॥

**ध्मात्वा** । **ध्मातम्** ॥

## ष्ठा गतिनिवृत्तौ ॥ १९४ ॥

**तिष्ठति**—'पाघ्रा' इति तिष्ठादेशः शिति ॥

**तस्थौ** । **अधितष्ठौ** 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इति षत्वम् । **स्थाता** । **स्थास्यति** । **अधिष्ठाता** । **अधिष्ठास्यति** । 'षर्गात्' इत्यादिना षत्वम् । **तिष्ठतु** । **अतिष्ठत्** । **तिष्ठेत्** आशिषि **स्थेयात्**—'एर्लिङि' इत्येत्वम् । 'वाऽन्यस्य' इति विकल्पस्तु न भवति, अन्यग्रहणेन घुमास्थादिप-

र्युदासात् । **अस्थात्**—'गातिस्था' इति सिचो लुक् । **अध्यष्ठात्**—'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' इति षत्वम् ॥

**तिष्ठासति** । **तेष्ठीयते** । 'घुमास्था' इतीत्वे द्वित्वम् ॥

**तास्थाति** । **तास्थीत** 'ई हल्यघोः' इतीत्वम् । **तास्थति**—'श्नाभ्यस्तयोः' इत्यात्लोपः ॥

**स्थापयति** । **अतिष्ठिपत्**—'तिष्ठतेरित्' इति चङ्परे णावुपधाया इत्वम् । श्तिपा निदेशात् **अतास्थपत्** इत्यत्र न भवति ॥

**सन्तिष्ठते** । **सन्तस्थे** । **संस्थाता** । **संस्थास्यते** । **सन्तिष्ठताम्** । **समतिष्ठत** । **सन्तिष्टेत** । आशिषि—**संस्थासीष्ट**—'समवप्रविभ्यस्थः' इति तङ् ॥

लुङि—**समस्थित** । **समस्थिषाताम्** इत्यादि । 'स्थाध्वोरिच्च' इति सिचः कित्त्वम्, तिष्ठतेश्चेकारः । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति झलि सिजुक् सन्निपातपरिभाषया नेति धयतावुक्तम् । सिचः कित्त्वात्प्रत्ययलक्षणेन गुणो न भवति । एवम्**वातिष्ठते प्रतिष्ठते** इत्यादि ॥

नित्यं शब्दं **आतिष्ठते**—प्रतिजानातीत्यर्थः । 'आङः स्थः प्रतिज्ञाने' इति तङ् । अर्थस्वभावादयमात्मनेपदी ॥

**तिष्ठते कन्या छात्रेभ्यः** । स्थानेन स्वाभिप्रायं प्रकाशयतीत्यर्थः । प्रकाशनमर्थः अनेकार्थत्वाद्धातूनामिति कश्चित् । 'श्लाघह्नुङ्' इत्यत्र पदमञ्जर्यां तु स्थानेन स्वाभिप्रायप्रकाशनम्' इत्युक्तम् । 'श्लाघह्नुङ्' इति ज्ञीप्स्यमानस्य सम्प्रदानत्वम्

धर्माध्यक्षे **तिष्ठते** । तत्त्वनिर्णयमपेक्षमाणस्तिष्ठतीत्यर्थः । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इति तङ् । प्रकाशनं स्वाभिप्रायाविष्करणम् । स्थेयस्याख्या स्थेयाख्या । तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थेयः । रूढश्चायं विवादपदस्य निर्णेतरि । तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थेय इत्यत्रप्रकरणादिना विवादपदनिर्णेतु· प्रतीतिः न तु शाब्दीत्यात्मनेपदाभावो हरदत्तेनोक्तः । कुटुम्ब **उत्तिष्ठते** । तदर्थं घटते इत्यर्थः । 'उदोनूर्ध्वकर्मणि' इति तङ् । ऊर्ध्वकर्मणि—आसनात् **उत्तिष्ठति** । अत्र 'उद ईहायां' इत्युक्तत्वात् अनूर्ध्वकर्मण ईहया विशेषणात् 'अस्मात् ग्रामात् शतं उत्तिष्ठति' इत्यत्र ईहाभावात्तङ्न भवति । उत्पद्यत इति ह्यत्रार्थः ॥

ऐन्द्र्चा गार्हपत्यमुपतिष्ठते । ऐन्द्र्चा ऋचा गार्हपत्यमभिधत्त इत्यर्थः । 'उपान्मन्त्रकरणे' इति तङ् । मन्त्रः करणं यस्यार्थस्य स मन्त्रकरणः । तदर्थात् उपोपसृष्टात् स्थः तङ् इति सूत्रार्थः ॥

आदित्यं **उपतिष्ठते** । पूजयतीत्यर्थः । गङ्गा यमुनां **उपतिष्ठते** । संश्लिष्यते इत्यर्थः । राजकीयान् **उपतिष्ठते** । मित्रीकरोति इत्यर्थः । अयं पन्थाः स्वुघ्नं **उपतिष्ठते** । प्राप्नोतीत्यर्थः । 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वक्तव्यम्' इति तङ् । 'आज्ञां प्रतीषुर्विनयादुपास्थुः' इत्यत्र भट्टिश्लोके देवपूजादिभ्योऽन्योऽर्थः इति तङ्न कृतः ॥

अथ राजानमुपतिष्ठते **उपतिष्ठति** इति वा । लिप्सुरुपसर्पतीत्यर्थः , उपसृष्टोऽयमर्थान्तरवृत्त्या सकर्मकः । 'वा लिप्सायाम्' इति तद्विकल्पः ॥

यावद्भुक्त **मुपतिष्ठते**—वीप्सायामव्ययीभावः। भोजने भोजने सन्निधत्त इत्यर्थः । 'अकर्मकाच्च' इति उपोपसृष्टादस्मादकर्मकात्तङ्॥

तिष्ठतीति **स्थायी**—गहादित्वाण्णिनिः॥

समे तिष्ठतीति **समस्थः**—'सुपि स्थः' इत्यत्र 'सुपि' इति योगं विभज्य आकारान्तानां कर्तरि कविधानात्कप्रत्ययः। अत्र-स्थ इति वचनं तिष्ठतेरप्याकारान्तत्वात् पूर्वेणैव कस्य सिद्धत्वात् 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति' इति न्यायेन भावे कविधानार्थम् । तेन आखूनामुत्थानं **आखूत्थः** । **शलभोत्थः**। इति भवति । 'उदस्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इति सकारस्य पूर्वसवर्णस्तकारः॥

शं सुखं, तत्र तिष्ठतीति **शंस्थः**—'स्थः कच' इति कप्रत्ययः । चकारात् क्विपि—**शंस्थाः** । 'घुमास्था' इतीत्वं भाष्यकारप्रयोगान्न भवति । 'ईत्वमवकारादौ' इति तु न स्थितम् । ननु 'सुपि स्थः' इत्यत्र योगविभागात्कः सिद्धः। 'क्विप्च' इति क्विबपि वासरूपेण । तत्र किं 'स्थः कच' इति सूत्रेण । उच्यते—'शमिधातोस्संज्ञायाम्' इत्यत्र धात्वाधिकारादेव धातुग्रहणे सिद्धे पुनर्धातुग्रहणं बाधकबाधनार्थमित्युक्तम् । तेन यथा शङ्करा नामपरिव्राजिका तच्छीला च इत्यत्र 'कृञो हेतुताच्छील्ये' इति टं बाधित्वा अब् भवति तथा काक्विपावपि बाधित्वा अत्राप्यच् स्यात् । कं तु परत्वादपि बाधेतेति। तन्मा भूदित्यारब्धव्यमेव 'स्थः कच' इति सूत्रम् । इमपि किं क्विपो विधानेन, यतो वासरूपेणायमपि भविष्यति; इत्युअस्याविधाने यथा कः अचं बाधते तथाऽमुमपि बाधेत॥

**स्थास्नुः**—'ग्लाजिस्थश्च' इति तच्छीलादौ क्स्नुः । 'घुमास्था' इतीत्वम् 'स्था आ' इत्याकारप्रश्लेषेण आकारान्तस्य विधानान्नेति भाष्ये स्थितम् । अन्ये तु—गिदयं तेनेत्वस्य न प्रसङ्गः। जिष्णुः इत्यत्र गुणाभावस्तु 'न धातुलोप आर्धधातुके' 'क्ङिति च' इति संहितया सूत्रपाठात् कृतचर्त्वस्य गकारस्यापि तत्र निर्देशात् । तथा 'श्रच्युकः किति' इत्यत्रापि चर्त्वेन गकारस्यापि निर्देशात् 'भूष्णुः' इत्यत्रेडभावः इति चाहुः । उक्तं च—

स्नोर्गित्वान्न स्थ ईकारः किन्ङितोरीत्वशासनात् ।
गुणाभावस्त्रिषु स्मार्यः श्रच्युकोऽनिट्त्वं कगोरितोः । इति ॥

**स्थायुकः**—'लषपतपद' इत्यादिनोकञ् ॥

**स्थावरः**—'स्थेशभास' इति वरच् ॥

**प्रस्थास्यत** इति **प्रस्थायी**—'प्रेस्थ' इति णिनिः । णिच्वाद्युगागमः । गम्यादिषु पाठात् 'भविष्यतिगम्यादयः' इति भविष्यत्कालता ॥

**स्थित्वा । स्थितम् । उपस्थितो गुरुं शिष्यः । उपस्थितो गुरुः शिष्येण** । 'गत्यर्थ' इत्यादिना कर्तृकर्मणोः क्तः । उपपूर्वोऽयं सकर्मकः । 'द्यतिस्यतिमास्था' इति 'घुमास्था' इतीत्वापवाद इकारः ॥

**प्रस्थाय** इत्यत्र 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब्बाधते' इति यपः पूर्वमीत्वं न प्रवर्तते । पश्चात्तु निमित्ताभावान्न स्य तङ्गः ॥

**प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थः**—'घञर्थे कविधानम्' इति कः ॥

माहकिप्रस्थो नाम उदीच्यग्रामः, तत्र भवो **माहकिप्रस्थः**—'प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण्' इति प्रस्थोत्तरपदलक्षणोण् शौषिकः । 'उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोन्तोदात्तात्' इत्यञोऽपवादः । अणञोः स्वरे विशेषः ॥

इन्द्रप्रस्थे भव **ऐन्द्रप्रस्थः** । अनुदीच्यग्रामत्वात् प्राग्दीव्यतीयोऽण् ॥

मालाप्रस्थे भवः **मालाप्रस्थकः**—'प्रस्थपुरवहान्ताच्च' इति प्रस्थाद्यन्तात् देशवाचिनः शेषेर्थे उञ् छस्यापवादः ॥

प्रतिष्ठत्यग्रे गच्छतीति **प्रष्ठः**—'आतश्चोपसर्गे' इति कः । 'प्रष्ठोऽग्रगामिनि' इति षत्वम् । अग्रगामिनोऽन्यत्र—**प्रस्थः** ॥

**प्रस्थितिः**—'स्थागापापचो भावे' इनि क्तिन् । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यडोपवादः 'द्यतिस्यतिमास्थामित्तिकिति' इतीत्वम् । कथं तर्हि—**आस्था** इति । 'व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' इति निर्देशात् ज्ञापकात् उत्सर्गोऽडपि भवति ॥

आस्था शीलमस्य **आस्थः** । 'छत्रादिभ्यो णः' इति शीलोपाधिकात्प्रथमान्तात् छत्रादेरस्येत्यर्थे णप्रत्ययः । यद्यपि छत्रादिषु स्थाशब्दः पठ्यते, तथाऽपि केवलस्यास्याभावात् सोपसर्गादास्थादेरेव प्रत्ययः । छत्रादिणान्तस्य कार्मशब्दस्य अन् इति अण्निबन्धनप्रकृतिभावबाधनार्थात् 'कार्मस्ताच्छील्ये' इति टिलोपनिपातनाल्लिङ्गात् छत्रादिभ्यो णेऽण्कार्यं भवतीति ज्ञापनात् यां ङीपि **आस्थी** इति भवति ॥

तिष्ठत्यास्मिन्निति **स्थानीयम्**—बाहुलकादधिकरणेऽनीयर् । **उपस्थानीय** इति 'भव्यगेय' इत्यादिना कर्तृकर्मणोः ॥

भीरूणां स्थानं **भीरुष्ठानम्**—'भीरो स्थानम्' इति समासे षत्वम् । असमासे तु 'सात्पदाद्यो.' इति निषेध एव भवति । प्राप्तिस्त्वस्त्येव 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति ॥

गो· स्थाने जातः **गोस्थानः**—'स्थानान्त' इत्यादिना अणो लुक् ॥

**स्थिरम्**—'अजिरशिशिरशिचिरस्थिर' इति किरचि निपातितः ॥

**स्थेष्ठः** । **स्थेयान्**—'प्रियस्थिर' इत्यादिना इष्ठेमेयस्सु स्थादेशे, 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावात् टिलोपाभावे आद्गुणः ॥

स्थिरशब्दस्य पृथ्वादिष्वपाठादिमनिच् नास्त्येवेति वृत्तौ स्थितम् । तेन **स्थेमशब्दश्चिन्त्यः** ॥

स्थिरं करोति **स्थापयति**—'णाविष्ठवत्' इति इष्ठवद्भावाण्णौ स्थादेशे वृद्धिपुकौ ॥

**गविष्ठिरः** । **युधिष्ठिरः**—'गवियुधिभ्यां स्थिरः' इति षत्वम् । 'हलदन्तात्सप्तम्या' इत्यलुक् ॥

अम्बेव तिष्ठतीति **अम्बष्ठः**—'सुपि स्थः' इति कः । उपपदसमासे वृत्तिस्वभावात् इवार्थोऽन्तर्भूत । न्यासे अम्बाया तिष्ठतीति व्युदपादि । 'ङ्याप्पो संज्ञाछन्दसोः' इति पूर्वपदस्य ह्रस्व । 'अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्कुङ्कुमञ्जिपुञ्जिपरमेबर्हिर्भ्यस्स्थः' इति अम्बादिभ्यः परस्य स्थः सकारस्य षत्वम् । एवं **आम्बष्ठादीन्युदाहार्याणि** । तत्र रूढिषु यथाकथंचिद्व्युत्पत्तिः । सर्वत्र 'सुपि स्थः' इति कः । **गोष्ठः**

इत्यत्र तु गावः तिष्ठन्त्यस्मिन्निति प्रथमान्ते गोशब्दे उपपदे 'घञर्थे कः' इत्यधिकरणे कः ॥

भूतपूर्वं गोष्ठं **गौष्ठीनम्** । 'गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे' इति भूतपूर्वत्वोपाधिकार्थात् । गोष्ठात् स्वार्थे खञ् । **गोष्ठी**—इति गौरादित्वात् ङीषि ॥

**सव्येष्ठः**—इत्यत्र 'हलदन्तात्' इत्यलुक् । एवं परमेष्ठिदिविष्ठयोरपि । यद्वा—अत्रैव सविभक्तिकनिर्देशसामर्थ्यादलुक् ॥

अपष्ठ इति वृत्तिमुपादाय 'अपाष्ठ इति क्वचित्पाठः' । तत्र 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घः' इत्युक्तं न्यासे ॥

**कुष्ठ** इत्यत्र यदा कुशब्दो निपातः तदा प्रथमान्तेऽस्मिन्नुपपदे विधिः । अथ अनिपातः तदा सप्तम्यन्त इति च न्यासे ॥

**सव्येष्ठा** । **सव्येष्ठी** । सव्येष्ठा सारथिः । 'स्थास्थिन्स्थूणामिति वक्तव्यं' इति षत्वम् । अत्र स्थाशब्दे विवदन्ते—'सव्ये स्थश्छन्दसि' इति ऋन्नन्तस्य च 'नयतेर्डिच्च' इत्यतः डिदित्यनुवर्तनात् डित्त्वात् टिलोपे 'ऋदुशनस्' इति अनङि सर्वनामस्थानदीर्घत्वमिति न्यासे । प्रदीपादौ तु स्थाशब्दः क्विबन्तः 'ईत्वे वकारप्रतिषेधः' इति घुमास्थादिना ईत्त्वं न भवतीति । अनयोः क्विबन्तपक्षो न्याय्यः । ऋन्नन्तत्वे स्था इत्येव स्थूशब्दस्यापि षत्वे सिद्धे तदुपादानमनर्थकं स्यात् । **'हर्म्येष्ठा.'*** **'रथेष्ठाः'†** इत्यादयश्च प्रयोगा नोपपद्येरन् । तत्र 'ईत्वे वकारप्रतिषेधः' इत्यस्य भाष्ये प्रत्याख्यानात् अत्रैव स्थेत्यस्य निर्देशात् ईत्वाभाव इति वाच्यम् । **परमेष्ठी** इत्यत्र 'परमे किच्च' इतन्प्रत्ययः । कित्त्वादाकारलोपः ॥

---

*तै. स. ४-३-१३. †तै. स. ७-५-१८.

**सुष्टु** । **दुष्टु**—'अपदुस्सुषु स्थः' इति कुप्रत्ययः । मृगय्वादित्वात्कुप्रत्यय इति न्यासकारवचनात् अयं योग उहितः प्रतीयते । 'सुषामादिषु च' इति षत्वम् । 'उपसर्गात्सुनोति' इत्येव सिद्धे, सुषामादिष्वनयोः पाठोऽनुपसर्गार्थः । यदा सुशब्दः पूजार्थस्तदा 'सुः पूजायाम्' इति कर्मप्रवचनीयत्वात् एकसंज्ञाधिकारात् अनुपसर्ग. । दुस्तूपसर्गप्रतिरूपकः । **सौष्ठवम्** । **दौष्ठवम्** । युवादित्वात् भावकर्मणोरण् ॥

**अपष्टु**—अयमपि सुषामादिषु द्रष्टव्यः ॥

**स्थाणुः**—'स्थाणुः' इति णुः ॥

**स्थविरः**—'अजिरशिशिर' इत्यादिना किरचि अवादेशोऽन्त्यस्य निपात्यते । स्थविरस्य भावकर्मणी—**स्थाविरम्** । युवादित्वादण् ॥

**दधित्थः** । **कपित्थः** । 'सुपि स्थः' इति कः । पृषोदरादित्वात्सकारस्य दकारः ॥

**स्थाम** बलम्—मनिन् । अश्वस्येव स्थामास्य **अश्वत्थामा** । अयमपि पृषोदरादि' । अश्वत्थाम्नोऽपत्यं **अश्वत्थामः** । 'स्थाम्नोकार' इति 'दित्यदित्यादित्य' इत्यत्र पाठादकारप्रत्ययः । अत्र केवलस्य स्थाम्नः अपत्येन सम्बन्धायोगात्तदन्तविज्ञानम् ॥

**स्थलम्**—'स्थाचति' इत्यादिना लः ॥

**स्थाली**—गौरादिः ॥

## अभ्यासे ॥ ९१५ ॥

**आमनति** । पाघ्रेत्यादिना मनादेशः शिति । अन्यत्र ग्लैवत् । **मन्नाविति**त्यादि ॥

**आम्नायः**—घञि युक् ॥

**आम्नातः । आम्नातमनेन । आम्नाती व्याकरणे**—'इष्टादिभ्यश्च' इति प्रथमान्तादनेनेत्यर्थे इनि । 'सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम्' इति कर्मणि सप्तमी ॥

नीचभावमभ्यस्यतीति **निम्नम्**—'सुपि' इति योगविभागात् 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति वा कः । नेर्नीचभाववचनत्वेन मन्यर्थस्याविशेषणान्न तं प्रतीहोपसर्गत्वम् ॥

दिने आम्नायत इति **द्युम्नम्** । द्युशब्दो दिनवचनः । दृश्यते च—'धारयेरन् द्यून्'* इति ॥

सुतरामाम्नायत इति **सुम्नम्** सुखम् । घञर्थे कः ॥

## दाण् दाने ॥ ९१६ ॥

**यच्छति**—'पाघ्रा' इति यच्छादेशः शिति । अत्रैव 'दाण्' इति विशेषणार्थो णकारः । **प्रणियच्छति** । घुत्वात् 'नेर्गद' इति णत्वम् । **ददौ । दाता । दास्यति । यच्छतु । यच्छेत् । आशिषि—देयात्** । घुत्वात् 'एर्लिङि' इत्येकारः । **अदात्**—'गातिस्था' इति च्लेर्लुक् । **प्रण्यच्छत् । प्रण्यदात्** । 'अङ्व्यवायेऽपि' इति नेर्गदादिषु णत्वमित्युक्तम् ॥

**दित्सति**—'सनि मीमा' इतीस्भावः । 'अत्र लोपः' इत्यभ्यासस्य लोपः । 'सस्यार्धधातुके' इति तत्वम्

**देदीयते**—'घुमास्था' इतीत्वे द्विर्वचनम् ॥

*तै. स. १-२-१४.

**दादेति । दादाति । दात्त**—'श्नाभ्यस्तयोः' इत्यालोपे चर्त्वम् । 'पूर्वत्रासिद्धे' इति वा 'चर्त्वविधिं प्रति' इति वाल्लोपस्य न स्थानिवत्त्वम् । लोटि हौ 'ध्वमोरेद्धौ' इत्यन्त्यस्यैकारे अभ्यासलोपे च **देहि** ॥

**दापयति । अदीदपत्** ॥

**दास्या मालां सम्प्रयच्छते कामुकः** । स ताः तस्यै ददातीत्यर्थः । 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' इति समुपसृष्टात् तृतीयायुक्तादस्मात्तङ् सा चेत्तृतीया चतुर्थ्यर्थे । उच्यते च चतुर्थ्यर्थे तृतीया 'अशिष्टव्यवहारे चतुर्थ्यर्थे' इति । पूर्वसूत्रे सम इति षष्ठ्यन्तमित्युक्तम् । तदेवात्रानुवर्तत इति प्रेण व्यवधानेऽपि तद्भवति—**दास्या मालां सम्प्रयच्छते । संप्रादित** । 'स्थाध्वोरिच्च' इति सिचः कित्त्वं इत्त्वं च । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपो झलि । 'दाणः' इति सानुबन्धकनिर्देशात् यङ्लुकि नायं तद्विधिरिति **दास्या मालां सम्प्रदादाति** इति भवति ॥

गां प्रयच्छतीति **गोप्रदः** । 'प्रे दाञ्ञः' इति कर्मण्युपपदे प्रोपसृष्टात् अस्मादणोऽपवादः क । ननु—'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययेन प्रदशब्दं कृत्वा गोशब्देन षष्ठीसमासे गोप्रद इति सिद्धे किं सूत्रेण । उच्यते—गां प्रयच्छतीति विवक्षायामणि गोप्रदाय इति स्यात्, यथा प्रादन्येनोपसृष्टाद्गोसम्प्रदाय इति, स मा भूदिति ॥

—'आतोऽनुपसर्गे' इति अनुपसृष्टत्वे क । 'तं रत्नदायं जितमृत्युलोकं रात्रिञ्चराः कान्तिभृतोऽध्यतिष्ठन्' इति भट्टिप्रयोगोऽयं 'दय दान' इत्यस्यापि द्रष्टव्यः । यद्वा—'श्या-

द्व्यचधा' इत्याकारन्तलक्षणे णे दायशब्दं व्युत्पाद्य तेन रत्नस्य दायो रत्नदाय इति षष्ठीसमासो विधेय. ॥

**दारुः**—'दाधेट्सिशदसदो रुः' इति रु. ॥

**दानीयो** ब्राह्मण. । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति सम्प्रदानेऽनीयर् ॥

उपदीयत इति **उपदा**—'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ् ॥

**देयम्** । 'अचो यत्' इति यति 'ईद्यति' इतीत्वे गुणः ॥

**दत्वा । दत्तः । दत्तवान् । दत्तिः** । 'दोदद्घोः' इति तकारादौ किति दद्भावः ॥

**प्रत्तम्**—'अच उपसर्गात्त.' इति अजन्तादुपसर्गात्परस्य दा इत्यस्य योऽच् तस्य तकार स्तादौ किति इत्याकारस्य तकारे । 'खरि च' इति दकारस्य तकारः । अत्र अच इति द्विरावर्तते । तत्रैकेनोपसर्गो विशेष्यते । परेण स्थानी निर्दिश्यते इत्याकारस्य स्थानित्वलाभ. । अन्यथा—'आदे. परस्य' इति दकारस्यैव तकारः स्यात् । अन्ये तु—'उपसर्गात्त' इति द्वितकारकोऽयमादेशो निर्दिश्यत इति अनेकाल्त्वात्सर्वादेशं कुर्वन्ति । तेषां 'अपो भि' इत्यत्रैक. तकारोऽनुवर्त्य. । अन्यथा अद्भिरित्यादावपि सर्वादेशत्वं स्यात् ॥

**नीत्तम् । सूत्तम्**—'दस्ति' दा इत्यस्य यस्तक स्तदादावुत्तरपदे इगन्तस्योपसर्गस्य दीर्घ इति दीर्घः । चर्त्वस्य प्रात्सिद्धत्वात् तकारादौ द्वित्वमुत्तरपदस्य । येषां 'अच उपसर्गात्तः' इति द्वितकारक आदेशस्तेषामाश्रयात्सिद्धिरनपेक्ष्या ॥

अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि ।
सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्यते ॥

इति वचनात् अवदत्तादौ अच उपसर्गात्तो न भवति । अत्रैव वार्तिके चकारात् अवदत्तादीनामबाधः । अत्रादिकर्मणीत्यर्थात् प्रदत्त-विशेषणम् । अन्ये तु—अवदत्तादौ अवादय उपसर्गप्रतिरूपका निपाता न तूपसर्गा इति तत्वस्य नास्ति प्रसङ्ग इत्याहुः ॥

मरुद्भिर्दत्तो **मरुत्तः** । 'मरुच्छब्दस्योपसङ्ख्यानम्' इति उपसर्गसंज्ञाविधानसामर्थ्यादनजन्तत्वेऽपि तत्वं भवतीति व्याख्यातार. ॥

**प्रदाय**—'न ल्यपि' इति 'घुमास्था' इतीत्वं निषिध्यते । ल्यपः पूर्वं 'अच उपसर्गात्त' इति न भवति, 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यप् बाधते' इति ॥

**दानुः**—'दाभाभ्यां नु·' इति नुप्रत्ययः ॥

**देष्णुः**—दानशील. । 'गादाभ्यां च' इतीष्णु. ॥

दायति इति शोधने गतम् ॥

## ह्वृ कौटिल्ये ॥ ९१७ ॥

**ह्वरति** । **जह्वार** । **जह्वरतुः** । **जह्वर्थ** । **जह्वरिव** क्रादिनियमादिट् । थलि तु—'अचस्तास्वत्' इति निषिध्यते । 'ऋतश्च संयोगादेर्गुगः' इति लिटि गुणः । अयं च वृद्ध्या पूर्वविप्रतिषेधेन स्वविष बाध्यते ॥

**ह्वर्ता** । **ह्वरिष्यति**—'ऋद्धनोस्स्ये' इतीट् । **ह्वरतु** । **अह्वरत्** । **ह्वरेत्** । आशिषि **ह्वर्यात्**—'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' इति अर्तेः

ऋकारान्तस्य संयोगादेः यकि यकारादौ आर्धधातुके लिडि च गुण इति गुण । अह्वार्षीत् अह्वृष्टाम् ॥

यकि—ह्वर्यते । लिडीव गुणः ॥

यदाऽऽशीर्लिडि लुडिचात्मने पदं तदा 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इत्यधिकृत्य 'ऋतश्च संयोगादे.' इति पक्षे इटि व्यतिह्वरिषीष्ट । व्यतिह्वरिषीयास्ताम् । व्यत्यह्वरिष्ट । व्यत्यह्वरिषाताम् । इत्यादि । इडभावे—व्यतिह्वृषीष्ट व्यत्यह्वृत । इत्यादि । 'लिङ् सिचावात्मनेपदेषु' इत्यधिकृत्य 'उश्च' इति कित्त्वविकल्पनात् न गुणः । झलि सिज्लोपः ॥

जुह्वूर्षति—'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्युत्वे रपरत्वे च 'हलि च' इति दीर्घः ॥

जाह्वर्यते—'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' इत्यधिकृत्य 'यडि च' इति गुणः । जह्वर्ति जह्वृतः इत्यादि । लोटि हेः डित्त्वात्—जह्वृहि । उत्तमे जह्वराणि । लडि अजह्वः ॥

ह्वृतम् ॥

## स्वृ शब्दोपतापयोः ॥ ९१८ ॥

स्वरति । सस्वार । सस्वरतुः । सस्वर्थ । सस्वरिथ । सस्वरिव । सस्वरिम । 'स्वरतिसूति' इति वेडादाविड्विकल्पः । अत एव तासौ नित्यानिट्त्वाभावात् 'अच स्वत्' इति निषेधो न भवति । नापि 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति निषेधः, यतोऽयं 'अचस्तास्वत्' 'उपदेशेत्वनः' इति निषेधावृ-

कारान्तैकविषयाविति नियमयन् अर्थात् अनृकारान्तेषु पाक्षिकत्वमात्रफलः । 'श्नुचुकः किति' इतिनिषेधेन पुरस्तात्प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यात्परस्यापि स्वरत्यादिविकल्पस्य बाधात् वस्मसोः क्रादिनियमेन नित्यमिडेवेति । नचमन्तव्य--'श्नुचुकः किति' इति निषेधस्य बाधक क्रचादिनियमं स्वरत्यादिविकल्पः परत्वात् बाधेतेति । अस्मिन् प्रसक्ते पुनर्बाधकस्य निषेधस्यापि प्रसङ्गात् । अस्ति च लिङ्गं पुरस्तादारभ्यमाणेनापि प्रतिषेधेन स्वरत्यादिविकल्पस्य बाधने । यदयं स्वरते· 'सनीवन्त' इत्यादिना इड्विकल्पं शास्ति । इदं च 'सनि ग्रहगुहोश्च' इति उगन्तानां सन्यारभ्यमाणेन निषेधेन परस्यापि स्वरत्यादिविकल्पस्य बाधेनार्थवत् । येषां तु दर्शनम्—यावान् कश्चनेडभावः प्रतिषेधनिबन्धनो विकल्पनिबन्धनो वा स सर्व· क्रादिसूत्रेण नियम्यत इति । तेषामत्र थल्यपि नित्यमिटा भाव्यम् ॥

**स्वर्ता, स्वरिता । स्वरिष्यति**—'ऋद्धनो· स्ये' इति नित्यमिट् विप्रतिषेधेन । **स्वरतु । अस्वरत् । स्वरेत् ।** आशिषि—**स्वर्यात् ।** 'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणः । **अस्वारीत् । अस्वारिष्टाम् । अस्वार्षीत् । अस्वार्ष्टाम् । सिस्वारिषति, सुस्वूर्षति**—'सनीवन्त' इत्यादिना इड्विकल्पः, इडभावे 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्युत्वे रपरे 'हलिच' इति दीर्घः ॥

**सास्व ते**—'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' 'यङि च' इति गुणः ॥

**सरीस्वर्ति । सरीस्वृतः ।** इत्यादि । **सरस्वरिता** इत्यादौ स्वरत्यादिविकल्पस्य न प्रसङ्गः, स्वरतीतिश्तिपां निर्देशात् ॥

स्वारयति । असिस्वरत् ॥

संस्वरते—'समोगमृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुदिविभ्यः' इति समुपसृष्टादकर्मकादस्मात्तङ् । संसस्वरे । संसस्वरिषे । किति लिटि स्वरत्यादिविकल्पो नेत्युक्तम् । तेन क्रादिनियमात् नित्यमिट् । संस्वारितासे, संस्वर्तासे । संस्वरिष्यते—'ऋद्धनो· स्ये' इति नित्यमिट् । संस्वरताम् । संस्वरेत । आशिषि—संस्वरिषीष्ट । संस्वृषीष्ट । लुडि—समस्वरिष्ट, समस्वृत । इडभावे ह्वरतिवत् । 'उश्च' इति कित्वादगुणत्वं तङ्विधौ स्वरतीति तिपा निर्देशात् संसस्वर्ति इत्यादौ न तङ् ॥

स्वृत्वा । स्वृतः—'श्रुचुकः किति' इति नित्यमिण्निषेधः ॥

स्वरुः—यूपे छिद्यमाने प्रथमपतितश्शकल., वज्रश्च । 'शृस्वृस्निहि' इत्यादिना उप्रत्ययः ॥

## स्मृ चिन्तायाम् ॥ ९१९ ॥

मातुः स्मरति । इत्यादि ह्वरतिवत् । 'अधीगर्थ' इति कर्मणि शेषे षष्ठी । सुस्मूर्षते—'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इति तङ् ॥

स्मरयति इत्याध्याने घटादिपाठात् । अन्यत्र—स्मारयति । असस्मरत्—'अत्स्मृदृत्वर' इत्यभ्यासस्याकार इत्वापवादः ॥

अयमनेकार्थत्वात् विस्मरणे चित्तादपक्रमणे च वर्त

अनन्तर 'दृ वरे' इति क्वचित्पठ्यते । दूरतीत्यादि ह्वरतिवत् ॥

द्वर्यते संव्रियते इति **द्वारम्** । द्वारे नियुक्तो **दौवारिकः** । 'तत्र नियुक्त.' इति ठक्कि 'द्वारादीना च' इति वृद्धिप्रतिषेध ऐजागमश्च । द्वारादिषु तदादिविज्ञानात् द्वारपालस्येद **दौवारपालम्** इत्यत्रापि वृद्धि प्रतिषेध ऐजागमश्च भवति ॥

**द्वाः** इति ण्यन्तात् क्विपि ॥

## सृ गतौ ॥ १२० ॥

**सरति** । **ससार** । **सस्रतुः** । **सस्रुः** । **ससर्थ** । **ससृव** अजादाववृद्धिविषये यण् । क्रादिपाठादनिट्त्वम् । **सर्ता** । **सरिष्यति** 'ऋद्धनो· स्ये' इतीट् । **सरतु** । **असरत्** । **सरेत्** । **स्रियात्**— 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशः । **असार्षीत्** । **असार्ष्टाम्** । 'सर्तिशास्ति' इत्यङ्विधौ अविद्यमानशपा शासिना साहचर्यात् सर्त्यर्त्योरप्यविद्यमानशपोर्जौहोत्यादिकयो· ग्रहणमिति नास्याङस्ति ॥

**सिसीर्षति**—'अज्झन' इति दीर्घे 'सन्यतः' इतीत्वे रपरे 'हलि च' इति दीर्घे द्विर्वचनम् ॥

**सेस्रीयते**—'रीङृतः' इति रीङ् ॥

**सर्सर्ति** । **सर्सृत.** । इत्यादि ॥

**सारर्यात** । **असीसरत्** ॥

सरतिर्वेगितगमने वर्तते तदा पाघ्रादिना शित्प्रत्यये धावादेशे **धावति** इत्यादि ॥

**उपसर्या** गर्भग्रहणे प्राप्तकाला । 'उपसर्या काल्या प्रजने' इति यति निपात्यते । प्रजनो गर्भग्रहणं तत्र प्राप्तकाला चेत् इत्यर्थः । अन्यत्र ण्यति—**उपसार्या** ॥

**सूर्यः**—'राजसूयसूर्य' इति क्यपि उत्वे निपात्यते । सुवतेर्वा रुडागमे । सूर्यशब्दात् प्रत्ययाः सुवतौ प्रदर्शयिष्यन्ते ॥

साधु सरतीति **सरकः**—'पृसृल्वस्समभिहारे वुन्' इतिवुन्। समभिहारेणात्र साधुकारित्वमुच्यते । तथा च वार्तिकम्—साधुकारिणि वुन्विधानमिति ॥

पुरस्सरतीति **पुरस्सरः**—'पुरोग्रतोग्रेषु सर्तेः' इति टः । एवं **अग्रतस्सरः** । **अग्रेसर** इति । 'तत्पुरुषे कृति' इति सप्तम्या अलुक् । अत्र न्यासत्रेययो अग्रे इत्येकारान्तत्वं निपातनादित्युक्तम् । अग्रस्सरति अग्रेण सरति इत्यादावपि एकारान्तत्वं फलमिति च । एवं हि—'सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा' 'आयोधनाग्रसरता त्वयि वीर याते' इत्यादयः प्रयोगाश्चिन्त्यास्युः ॥

पूर्वः सरति इति **पूर्वसरः**—'पूर्वे कर्तरि' इति कर्तृवाचिनि पूर्वशब्द उपपदे सर्तेष्टः । कर्तुरन्यत्राणेव । पूर्वं देशं सरतीति **पूर्वसारः** इति । **उदासारी** । **प्रयासारी**—'उत्प्रतिभ्यामाङि सर्तेरुपसङ्ख्यानम्' इति णिनिः ॥

**परिसारी**—'संपृच' इत्यादिना घिनुण् ॥

**सरणः**—'जुचङ्क्रम्य' इत्यादिना युच् ॥

**सृमरः**—'सृघस्यदः क्मरच्' इति क्मरच् ॥

**मृत्वरः**—'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' इति क्वरप् ॥

**मृत्वरी**—'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् ॥

**सस्निः**—'भाषायां धाञ्कृमृगमिजनिभ्यः' इति किकिनोरन्यतरः । लिड्वद्भावात् द्विर्वचनम् ॥

**सारः**—कालान्तरस्थायी । 'मृ स्थिरे' इति कर्तरि घञ् । स्थिरादन्यत्र **सर्ता** । भावादौ घञि—**सार**. । अयमुत्कर्षे पुच्छिङ्ग । न्यायादनपेते नपुंसकलिङ्ग. । **अतिसारो** व्याधि. । **विसारो** मत्स्यः । **सारो** बलम्—'व्याधिमत्स्यबलेषु' इति घञ् । अस्थिरार्थमिदं वचनम् । **अतीसारः**—'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये' इति दीर्घः । अतीसारोऽस्यास्तीति **अतीसारकी** । 'वातातिसाराभ्या कुक्च' इति मत्वर्थे इनि., कुगागमश्च ॥

**आसारः**—भावे 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति घञ् । 'रुद्धोरुदन्तमुसलप्रमरं निपेते' इति माधे बाहुलकादप् । एवं **विसर** इत्यपीत्यत्रेयः ॥

**उपसरो** गवाम् । स्त्रीगवीषु पुंगवाना गर्भाधानाय प्रथममुपसरणमुच्यते । 'प्रजने सर्तेः' इत्यप् ॥

**परिसर**. । **अवसरः**—'पुंसि संज्ञायाम्' इति करणाधिकरणयोः घः । परितः सरणं **परिसर्या**—'इच्छा' इत्यत्र 'परिव्यवपरिसर्यामृगया' इति भावे शे यकि गुण. ॥

**वैसारिण**. मत्स्य—'विसारिणो मत्स्ये' इति विसारिन्शब्दात् मत्स्यवृत्तेः स्वार्थेऽण्प्रत्यय.; 'इनण्यनपत्ये' इति प्र-

कृतिभावः । अस्मादेव विसारिण इति निर्देशादण्सन्नियोगेन णिनिः । ग्रहादित्वाण्णिनिरित्यात्रेयः । एव हि पृथक्प्रयोगार्हं स्यात् । ग्रहादिषु तु न दृश्यते च । प्रतिषिद्धश्चास्य न्यासपदमञ्जर्योः पृथक्प्रयोगः । पृथक्प्रयोगमसहमानेनैव न्यासकारेणापि ग्रहादित्वाण्णिनिरित्युक्त्वा अत एव निपातनादित्युक्तम् । निपातनं च प्रत्ययसन्नियोगेनैव ॥

**सृणीका** लाला—'सर्तेर्नुट् च' इति ईकन्प्रत्ययः नुडागमश्च ॥

**सार्थ**—'सर्तेर्णिच्च' इति थन्प्रत्ययः, णित्वाद्वृद्धिः ॥

**सर्वः**—'सर्वनिघृष्व' इत्यादिना वन् । अत्र वक्तव्यं सर्वं पर्वतावुक्तम् ॥

**सरयूः**—'सर्तेरयूः' इत्ययूः ॥

सरय्वा भवं **सारवम्**—'दाण्डिनायन' इत्यादिनाऽण्प्रत्ययेऽयूशब्दलोपो निपात्यते ॥

**सरणिः**—'अर्तिस्तुसुहुसृधृधमि' इत्यादिना अनिप्रत्ययः ॥

**सरित्**—'हसृरुहि' इत्यादिना इतिप्रत्ययः ॥

**सृणिः**—'सृवृषिभ्यां किच्च' इति निप्रत्ययः ॥

**सरः**—असुन् । **सरसी**—'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगत्सरसां शतृवच्च' इति शतृवद्भावात् ङीप् ॥

**सारङ्गः**—'सृवृडोर्वृद्धिश्च' इत्यङ्गच्प्रत्यये वृद्धिः ॥

अद्भ्यः सृता इति **अप्सराः**—'अङ्गिरा अप्सराः' इत्यसुनि निपात्यन्ते । उणादिवृत्तौ तु—अप इति सौत्रो धातुः,

अस्मात् परस्मुन्प्रत्यय इत्युक्तम् । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरस' इति बहुत्ववचनं प्रायिकम् । तदुक्तम्—'अप्सरस्सुमनस्सिकतावर्षाणां बहुत्वं प्रायिकम्' इति । अप्सरा इवाचरति **अप्सरायते**—'कर्तु क्यङ् सलोपश्च' इति क्यडि सलोपः । तत्र विभाषाग्रहणस्य व्यवस्थितविभाषाश्रयत्वात् इह नित्यं सलोप । उक्तं च—

ओजसोऽप्सरसो नित्यं पयसस्तु विभाषया । इति ॥

**सारथिः**—'सर्तेर्णित्' इति अथिन्प्रत्यये णित्त्वाद्वृद्धि. ॥

## ऋ गतिप्रापणयोः ॥ ९२१ ॥

**ऋच्छति**—'पाघ्रा' इत्यादिना शिति ऋच्छादेशः । **आर** । **आरतुः** । **आरिथ** । **आरिव**—'लिटि' इत्यधिकृत्य 'ऋच्छ्यृताम्' इति गुण । तत्र हि ऋतामिति सवर्णदीर्घेण अर्ति ऋकारान्ताश्च निर्दिश्यन्ते । वृद्धिविषये तु पूर्वविप्रतिषेधेन वृद्धिः । तत्र गुणवृद्धयोः 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवद्भावात् ऋशब्दस्य द्विर्वचने अभ्यासस्योरदत्वे हलादिशेषे 'अत आदेः' इति दीर्घे पुनरुत्तरखण्डस्य गुणवृद्धयोः सवर्णदीर्घः । वलादौ च क्रादिनियमादिट् । थलि तु 'ऋनो भारद्वाजस्य' इति नियमं बाधित्वा 'इडत्यर्तिव्ययतीनाम्' इतीट् । **अर्ता** । **अरिष्यति**—'ऋद्धनोस्ये' इतीट् । **ऋच्छतु** । **आर्छत्** । **ऋच्छेत्** । आशिषि—**अर्यात्**—'गुणोर्तिसंयोगाद्यो.' इति गुण. । सर्वत्र अर्तिग्रहणेषु भौवादिकजुहोत्यादिकयोर्द्वयोरपि ग्रहणमिति स्थितं व्याख्यानेषु । अत वार्तीति साधारणनिर्देश कृत. । भौवादिकमात्रग्रहणे ऋच्छतीति वक्तव्यम् । जौहोत्यादिकस्य तु शपः श्लौ इयर्तीति । 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इत्यत्र 'श्लौ' इत्यधिकारात् भौवादिकस्य न

संभवः । 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' इत्यङ्विधावपि शासिना अविद्यमानशपा साहचर्यात् सर्त्यर्ती अप्यविद्यमानशपौ गृह्येते इति ह्युक्तम् । तेनास्य लुङि **आर्षीत्** । **आर्ष्टाम्** । इत्यादि भवति ॥

**अरिरिषति**—'स्मिपूङ्रञ्वशां सनि' इतीट् । अत्र ऋ इति भौवादिकजौहोत्यादिकयोर्द्वयोरपि ग्रहणम्, 'ऋच्छत्यृतां' इतिवत् । अत्र द्विर्वचनात्परत्वात्पूर्वं इटि गुणे रपरत्वे 'अजादेर्द्वितीयस्य' इति रिशब्दस्य द्विर्वचनम् । द्विर्वचनेऽचि इति नात्र स्थानिवत्त्वम्, 'सन्यङोः' इत्यस्य षष्ठ्यन्तत्वात् । न च कार्यी निमित्तत्वेनाश्रीयते । अत्र हरदत्तः—यत्र सप्तम्या निमित्तत्वं श्रुतं तन्निमित्तम् । न तु तद्भावभावितामात्रमिति ॥

**अरार्यते**—'सूचिसूत्री' इत्यादिना यङि 'यङि च' इति गुणे 'नन्द्रा' इति निषेधस्य यकारपररेफस्य प्रतिषेध इति बाधात् रेफादेर्द्विर्वचने 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घः ॥

**अरीर्ति । अरियर्ति**—ऋशब्दस्य द्विर्वचने अभ्यासस्योरदत्वे हलादिशेषे 'ऋतश्च' इति रुग्रिग्रीकः । उत्तरखण्डस्य गुणः । अत्र रीग्रिकोर्न रूपभेदः । उभयत्रापि 'अभ्यासस्यासवर्णे' इति यडा भाव्यत्वात् । इट्पक्षे—**अररीति । अर्यरीति** । तसादौ डित्त्वादुत्तरखण्डस्य न गुण इति **अर्ऋत.** । **अरियृतः** इत्यादि । झौ ऋशब्दस्य द्विर्वचने अभ्यासकार्ये रुकि च 'अदभ्यस्तात्' इति झेरद्भावे परखण्डस्य यणि 'रोरि' इति रेफस्य लोपे 'ढ्रलोपे' इति दीर्घ—**आरति** इति भवति । 'पूर्वत्रा न स्थानिवत्' इति निषेधात् 'रोरि' इति लोपे 'अचः परस्मिन्' इति न यणः स्थानिवद्भावः । रिग्रीकोः ऋकारमाश्रित्येयङि पश्चादद्भा-

वमाश्रित्य तस्य यणि **अरियृति** इति भवति। न च 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपप्रसङ्गः, 'अचः परस्मिन्' इति यणः स्थानिवत्त्वात्। न चास्ति यलोप प्रति न स्थानिवदिति. 'स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवत्' इति वचनात्॥

**अरर्षि, अरियर्षि**। **अरर्भि, अरियर्भि**। **अरृवः, अरियृव**। **अररा॰चकार, अरियरा॰चकार**। **अररिता, अरियरिता**। **अररिष्यति, अरियरिष्यति**। **अरर्तु, अरियर्तु**। **अरृहि, अरियृहि**। डित्त्वान्न गुण। **अरराव**। **अरियराव**। आटि पित्त्वाद्गुण। लडि अभ्यासस्य रुकि परस्य गुणे तिप्पिपो हल्ङ्यादिलोपे रेफस्य विसर्जनीये अङ्गस्याटि आट रिग्रीकोरियडि—**आरिय**। **आरृताम्, आरियृताम्**। बहुवचने 'जुसि च' इति गुणे—**आररुः**। **आरियरुः**। लिडि—**अरृयात्, अरियृयात्**। आशिषि—**आरियात्**—'रिङ्यङ्ग्लिङ्षु' इति रिडादेशे 'रोरि' इति लोपे ढ्रलोपदीर्घ। रिग्रीकोरियडि परस्य रिडादेशस्य स्थानिवत्त्वात् यलोपाभावे **अरियृयात्**। यलोपविधिं प्रति न स्थानिवदिति तु न भवति, तस्य लोपाजादेशविषयत्वात्। 'गुणोर्ति' इति गुणः श्तिपा निर्देशान्न भवति। लुडि—**आरारीत्, आरियारीत्**। इत्यादि॥

**अर्पयति**—'अर्तिर्ह्री' इति पुक्। 'पुगन्तलघूपधस्य' इति गुणः। **भवान् ऋपिपत्**—'उरृत्' इति पक्षे ऋकारो गुणापवा। णिलोपस्य 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वात् पिशब्दस्य द्विर्वचनम्। ऋकाराभावपक्षे गुणे 'नन्द्राः' इति रेफस्य द्विर्वचननिषेधात् पिशब्दद्विर्वचने **मा भवान् अर्पिपत्**

इति भवति । श्तिपा निर्देशात् यङ्लुकि पुगभावात् **अरारर्यति** इति भवति । रिग्रीक्पक्षे **अरियार्य्यति** इति ॥

**उपार्छति**—'उपसर्गादति धातौ' इति अवर्णान्तादुपसर्गात् ऋकारादौ धातौ परे पूर्वपरयोर्वृद्धि । सा च ऋवर्णस्थानिका इति रपरत्वम् ॥

**अर्यः**—'अर्य स्वामिवैश्ययोः' इति यति निपात्यते । स्वामिवैश्याभ्यामन्यत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्—**आर्य** । स्त्रियाम्—**आर्या** । **आर्याणी**—'आर्यक्षत्रियाभ्यां च' इति ङीषानुकौ । पक्षे विना पुंयोगं स्वार्थ एवायं विधिरिति वृत्तिः । तेन पुंयोगे नित्यं ङीष् भवति—**आर्य** इति ॥

**अरित्रम्**—'अर्तिलूधूसू' इति करणे इत्रः ॥

**आरा**—प्रतोदः । 'आरा शस्त्रम्' इति भिदादिपाठाद्ङ् वृद्धिश्च । अन्यत्र—**आर्तिः**—'उपसर्गात्' इति वृद्धिः ॥

**ऋणम्**—'ऋणमाधमर्ण्ये' इति निष्ठानत्वे निपात्यते । अधम ऋणे अधमर्णः । अत एव निर्देशात् सप्तम्यन्तेन समासः । अधममृणमस्येति बहुव्रीहिर्वा । निष्ठान्तस्य परनिपातः अत एव निर्देशात् । तस्य भावः **आधमर्ण्यम्** । इदं च कालान्तरदेय विनिमयोपलक्षणार्थम् । तेन **उत्तमर्णः** इत्यपि भवतीति वृत्तिः । 'धारेरुत्तमर्णः' इति निपातनात् वा । पूर्ववत्समासः । प्रगतं प्रवृद्धं वा ऋणं **प्रार्णम्**—'प्रादयो गत्याद्यर्थे थमया' इति समासः । **वत्सतरार्णं** । **कम्बलार्णं** । **वसनार्णं** । विशेषणसमासः । 'प्रवत्सतरकम्बलवसनानामृणे' इति वृद्धिः । ऋणा-

**र्णम्**—ऋणापाकरणार्थं यदुपादीयते तदुच्यते । षष्ठीसमासः । **दशार्णो** देश. नदी च । विशेषणसमास. यथाकथंचिद्व्युत्पाद्य । 'ऋणदशाभ्या च' इति वृद्धिः । दशार्णमपहाय सर्वे बहुव्रीहयो वा । लिङ्गं तु विशेष्यायत्तं द्रष्टव्यम् । आधमर्ण्यादन्यत्र—**ऋत** । मुखेन ऋत **मुखार्तः**—'ऋते च तृतीयासमासे' इति वृद्धि· । अन्यत्र—**परमर्तः** ॥

**आर्त** इत्यत्र आङ्युपपदे 'उपसर्गादति' इति वृद्धिः । आत्रेयस्तु—सौत्रादतेः धातोरचि प्रज्ञाद्यणि व्युदपादयत् । अन्यथाऽपि सिद्धे कोऽयं यत्न इति न जानीम· ॥

**अरुः**—'अर्तिपॄवपियजितनिधनितॄपिभ्यो नित्' इत्युसिप्रत्ययः ॥

**अरूकरोति**—'अरुर्मन' इति च्विप्रत्यये सलोप· । 'च्वौ च' इति दीर्घ· ॥

**अर्शः**—'अर्तेर्गुणश्शुट् च' इत्यसुन्प्रत्ययः, शुडागमश्च । अर्शोऽस्यास्तीति **अर्शसः**—'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यच् मत्वर्थे ॥

अर्म–'अर्तिस्तु' इत्यादिना मनिन् । **अररुः**—असुरविशेषः । 'अर्तेररु·' इत्यरुः ॥

**अर्भः** बालः । 'अर्तिगृभ्यां*भन्' इति भन् ॥

**अर्भकः**—स्वार्थे कन् ॥

**अर्थः**—'उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन्' इति थन् ॥

**ऊ** —'अर्तेरूच' इति मिन्प्रत्यय ऊकारश्चादेशः ॥

**अर्वा**—'स्त्रामदिपद्यर्तिपॄशकिभ्यो वनिप्' इति वनिप् । अ-

**र्वन्तौ**—'अर्वणस्त्रसावनञः' इति असौ तृ इत्यादेशः । ऋदित्त्वात् 'उगिदचाम्' इति नुम्, **अर्वती** इत्यत्र ङीप्च भवति । अनञ इति वचनात् **अनर्वाणौ** इत्यत्र नायमादेशः ॥

**निर्ऋथः** साम । 'अर्तेः निरि' इति निर्युपपदे थक्प्रत्ययः ॥

**अरणिः**—'अर्तिसृधृधमि' इत्यादिना अनिप्रत्ययः ॥

**अरुणः**—'अर्तेश्च' इत्युनन्प्रत्ययः ॥

**ऋतुः**—'अर्तेश्चतुः' इति तुप्रत्ययः । किदिति तत्रानुवृत्तेर्न गुणः ॥

ऋतुः प्राप्तोऽस्य **आर्तवं** पुष्पम्—'ऋतोरण्' इति 'तदस्य प्राप्तम्' इत्यस्मिन्विषये अण्प्रत्ययः ॥

ऋतुः देवताऽस्य **ऋतव्यम्**—'वाय्वृतुपितृषसो यत्' इति 'साऽस्य देवता' इति विषये यत् । 'ओर्गुण' 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यवादेशः ॥

**अररं** कवाटम्—'अर्तिकमि' इत्यादिना अरप्रत्ययः ॥

**इरिणं** ऊषरम्—'अर्तेः किदिनश्च' इतीन्प्रत्ययः । कित्त्ववचनान्न गुणः । धातोरिकारादेशश्च ॥

**अर्णः**—'अर्तेर्नुट् च' इत्यसुन्प्रत्ययः, नुडागमश्च ॥

**अर्णवः**—'अर्णसो लोपश्च' इति मत्वर्थीये वप्रत्यये सलोपः ॥

## गृ घृ सेचने ॥ १२२-१२३ ॥

*इभ्यां.

**गरति । जगार । जग्रतुः । जगर्थ । जग्रिव । गर्ता । गरिष्यति । गरतु । अगरत् । गरेत् । आशिषि—ग्रियात्—'रिङ्शय' इति रिङ् । अगार्षीत् ॥**

**जिगीर्षति—**'अज्झन' इति दीर्घे ऋत इत्त्वे रपरे, 'हलि च' इति दीर्घः ॥

**जेग्रीयते—**'रीङृत' इति रीङ् । **जर्गर्ति ॥**

**गारयति । अजीगरत् ॥**

**गर्तः—**'हसिमृग्रीण्वमी' इति तन् ॥

**घरति । घृतम् । घृणा । घर्म ।** इत्येवं विषय इति 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इत्यत्रोक्त भाष्ये ॥

गृ इति दीर्घान्तस्तुदादौ निगरणार्थः । क्र्यादौ शब्दार्थः । ज्ञानार्थश्रुरादौ । घृ क्षरणदीप्त्योः, इति जुहोत्यादौ । घृ प्रस्रवण इति चुरादौ ॥

## ध्वृ हूर्छने ॥ १२४ ॥

हूर्छनं कौटिल्यम् । 'भ्रातृव्यमेव तदपध्वरति' इत्यादौ हिंसायामपि दृश्यते ॥

**ध्वरति ।** इत्यादि स्मृवत् ॥

## स्मृ गतौ ॥ १२५ ॥

**स्रवति** । **सुस्राव** । **सुस्रुवतुः** । उवङादेशोऽगुणवृद्धिविषये

**सुस्रोथ** । **सुस्रुव** । क्र्यादिषु पाठादनिट्त्वम् । थल्यपि पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यात् भारद्वाजनियमं बाधित्वा अयमेव निषेधः प्रवर्तते । द्रवतावयमर्थः प्रपञ्चयिष्यते । **स्रोता** । **स्रोष्यति** । **स्रवतु** । **अस्रवत्** । आशिषि **स्रूयात्**—'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः ॥

**असुस्रुवत्**—'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' अत्र च लघूपधगुणादन्तरङ्गत्वादुवङ् ॥

**सुस्रूषति**—'इको झल्' इति सनः कित्वान्न गुणः । 'अज्झन' इति दीर्घः ॥

**सोस्रूयते** । **सोस्रोति**—'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इति न भवति, 'नाभ्यस्तस्य' इत्यनुवृत्तेः । **सोस्रुतः** । **सोस्रुवति** ॥

**स्रावयति**—'बुधयुध' इत्यादिना नित्यं परस्मैपदम् ॥

**असुस्रवत्**, **असिस्रवत्**—'स्रवतिशृणोति' इत्यादिना अभ्यासोकारस्य वेत्त्वम् ॥

**आस्रावः** । **संस्रावः**—'ण्यासश्रथ' इत्यादिना आङ्सम्भ्यामुपसृष्टादस्माण्णः ॥

**प्रस्रावी**—'प्रेलप' इत्यादिना घिनुण् । आत्रेयस्तु 'प्रेलपसृ' इति पाठं प्रतिपद्य सर्तेः **प्रसारी** इत्युदाजहार

**प्रस्रावः**—'प्रेङ्स्रुस्रुवः' इति घञ् ॥

स्रवत्यस्मात् घृतमिति स्रुवः । स्रुक्—'स्रुवः कः' 'चिक्' इति कचकौ प्रत्ययौ । इकारककारावनुबन्धावितौ । एतौ भीमादित्वादपादाने ॥

स्रोतः—'स्रुरीभ्या तुट्च्' इति असुन् तुडागमश्च ॥

अत्र स्वामी 'श्रु गतौ' इति तालव्यादिमुं पपाठ । 'श्रु श्रवणे' इत्येनं तु दन्त्यादि न्यासकारादय· । सर्वे विरुद्धमेव पठन्ति । 'स्रवण । स्रुति· । श्रोत्रम् । श्रुति· । श्रवणम्' इत्यादिषु च लोकप्रसिद्धार्थो न सङ्गच्छत इति यत्किञ्चिदेतत् ॥

अत्र मैत्रेय·—'सु' इत्यरेफमपि धातु पठित्वा **सवति** इत्युदाजहार । देवोऽप्यमुमेवपाठमाश्रित्याह—

गतौ तयोश्च सवति द्विरुक्तश्चैकस्य सो न प ।

इति । अयमस्यार्थ·—'स्तु गतौ । षु प्रसवैश्वर्ययोश्च' इति चकारेणैव गतावपि सवतीति सिद्धे 'सु गतौ । षु प्रसवैश्वर्ययोः' इति सवते द्वि· पाठो गत्यर्थस्यापोपदेशत्वार्थ इति । तत् षोपदेशलक्षणस्याव्यापकत्वप्रसङ्गात् अयुक्तमिति पुरुषकारे दूषितम् । अपरे पुन शु इति तालव्यादिमाद्यं पठन्ति । तद्युक्तम् । यदुणादौ—'शुसिचिमीना दीर्घश्च' इति शवते क्रनि शूरशब्दो व्युत्पाद्यते । तथा शाकटायनेनापि 'श्रु द्रु स्रु गतौ' इति पठ्यते ॥

## प्रसवैश्वर्ययोः ॥ १२६ ॥

प्रसवोऽभ्यनुज्ञा इति पुरुषकारे । **सवति** । **सुषाव** । **सुषुवतुः** । **सुषोथ, सुषविथ** । **सुषाविव** । **सुषविम**—क्रादिनि-

यमात् इट् । थलि तु भारद्वाजनियमाद्विकल्पः । गुणवृद्ध्योरविषये उवङ् । **सोता** । इत्यादि पूर्ववत् ॥

'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' इति सिच इड्विधौ स्तौतिना लुग्विकरणेन साहचर्यान्न सूतेर्ग्रहणम् । नाप्यलुग्विकरणेन धूञा परेण साहचर्यात् सवतिसुनोत्योर्द्वयोरपि । किन्तु पूर्वपराभ्या डिङ्च्यां साहचर्यात् स्वादेः डितः ग्रहणमिति नास्येडागमः । अत एव तत्र न्यासे—सु इति षुञ् अभिषवे इत्युक्तम् । तथा—आत्रेयमैत्रेयावपि तमेव सेटमुदाहार्ष्टाम्, नेतरौ । न च निरनुबन्धकपरिभाषया इड्विधौ सवतेरेव ग्रहणं युक्तमिति वाच्यम् । यतस्तदपेक्षया साहचर्यस्यैव प्राबल्यम् । तथा च 'सत्सूद्विष' इत्यत्र वृत्तिः—'सु' इति द्विषा साहचर्यात् सूतेरादादिकस्य ग्रहणमिति । वर्धमानस्तु साहचर्यनिरनुबन्धकपरिभाषयोरनित्यतामाश्रित्य लुग्विकरणत्वात् सौतिमपहाय सवतिसुनोत्योर्द्वयोरर्पाटमाह । तन्मते—**असावीत्** इति भाव्यम् । अन्येषा तु **असौषीत्** इति ॥

**सुसूषति**—'स्तौतिण्योरेव' इत्यषत्वम् ॥

**सोषूयते । सोषोति** । 'उतो वृद्धि' 'नाभ्यस्तस्य' इत्यनुवृत्तेर्न भवति ॥

कर्मणि **सूयते । असावि । असोषाताम्** । इत्यादि ॥

कर्मकर्तरि—'अचः कर्मकर्तरि' इति तशब्देऽपि पक्षे सिचो विधानात् **असौष्ट** इत्यपि भवति । स्यादिषु कर्मकर्तरि चिण्वत्पक्षे **असाविष्यत** इत्यादि द्रष्टव्यम् ॥

**आसीव्यम्**—'अचो यत्' इति यति गुणे 'वान्तो यि' इत्यवादेशः । 'आसुयुवपि' इति ण्यद्विधौ सुनोतेः ग्रहणमिति वृत्तिकारहरदत्तादयः । एवं 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इत्यत्रापि ॥

सुत्वा । सुतम् ॥

## श्रु श्रवणे ॥ ५२७ ॥

शृणोति । शृणुत । शृण्वन्ति । शृणोषि । शृणोमि शृणुव, शृण्व । शृणुम, शृण्म । 'श्रुवः शृ च' इति शब्विषये श्नुप्रत्यय, शृभावश्च धातो । श्नो शित्त्वात्सार्वधातुकत्वात् अपित्त्वात् ङित्त्वाच्च गुण प्रकृते । स्वस्य तु भवत्यक्ङिति । शृण्वन्ति—इत्यत्र अन्तादिशे 'हुश्नुवो सार्वधातुके' इति यणादेश उवङोऽपवाद । सूत्रार्थस्तु—जुहोतेः श्नुप्रत्ययान्तस्य चानेकाचोऽङ्गस्य असंयोगपूर्वो य उकार तस्या जादौ सार्वधातुके यणिति । श्नोरुकारस्य वस्मसोः 'लोपश्चास्यान्यतरस्या म्वोः' इति पक्षे लोप ॥

शुश्राव । शुश्रुवतु । शुश्रुवु । शुश्रोथ । शुश्रुव । शुश्रुम । पित्सु वृद्धिगुणयोरावावौ । अन्यत्राजादावुवङ् । क्रादिषु पाठात् स्नवतिवत्थल्यप्यनिट ॥

श्रोता । श्रोष्यति । शृणोतु । शृणु—'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' इति हेर्लुक । शृणवानि । आटि गुणावौ । अशृणोत् । अशृणुताम् । शृणुयात् । आशिषि—श्रूयात्—'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ' इति दीर्घ । अश्रौषीत् ॥

शुश्रूषते—'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सन' इति तङ । प्रतिशुश्रूषति । आशु ति इत्यत्र 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुव' इति सन्निमित्तस्य तङो निषेधः । इह प्रत्याङोरुपसर्गयोर्ग्रहणात् देवदत्तं प्रतिशुश्रूषते । भाष्यादाशुश्रूषते । इत्यत्र च तङेव भवति । अत्र हि

प्रत्याङौ कर्मप्रवचनीयौ 'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' 'आङ्मर्यादावचने' इत्येकसंज्ञाधिकारात् कर्मप्रवचनीयसंज्ञया उपसर्गसंज्ञा बाध्यते । लक्षणं चिह्नम् । कंचित्प्रकारं प्राप्त इत्थंभूत· तस्याख्यानमित्थंभूताख्यानम् । भागः स्वीक्रियमाणोशः । उक्ता वीप्सा । विना तेनेनि मर्यादा । सह तेनेत्यभिविधि । वचनग्रहणादभिविधिरपि गृह्यते । तत्र प्रतिशुश्रूषत इत्यस्य देवदत्तः शुश्रूषाया लक्षणमित्यर्थ. । देवदत्तसकाशे शुश्रूषत इति यावत् । एव भाष्यादाशुश्रूषते इत्यस्य विनाऽपि भाष्येण सह वा तेन शुश्रूषते इत्यर्थ ॥

**शोश्रूयते । शोश्रुवीति शोश्रोति**—उतो वृद्धिः 'नाभ्यस्तस्य' इत्यनुवर्तनान्नेत्युक्तम् ॥

**श्रावयति । अशुश्रवत् । अशिश्रवत्**—णौ कृतस्य स्था निवत्वात् श्रुशब्दस्य द्विर्वचनम् । 'स्रवति श्रुणोति' इति पक्षे अभ्यासस्येत्वम् । **शंशृणुते । संशृण्वाते । संशृण्वते । संशृणुषे । संशृण्वे । संशृण्वहे । संशृण्वहे । संशुश्रुवे । संश्रोता । संश्रोष्यते । संशृणुताम् । समशृणत । संशृण्वीत ।** आशिषि—**संश्रोषीष्ट । समश्रोष्ट** । झलि सिज्लोपस्य पूर्वत्रासिद्धत्वाद्गुणे ह्रस्वाभावान्न सिज्लोपप्रसङ्ग. ॥

कर्मकर्तरि स्रवतिवत् ॥

**शुश्रुवान्**—'भाषायां सदवसश्रुव' इति लिट. क्वसुः । अयं च लिट् लुङ्लुङ्लिङ्विषय. पाक्षिकश्च । क्वस्वादेशस्तु नित्य । तेनानेन लिटा मुक्ते यथायोगं ते लुङ्लुङ्लिटो भवन्तीति । सर्वं चेतत्सीदतावुपपादितम् । भसंज्ञायां सम्प्रसारणे सवर्णदीर्घे बाधित्वा

धातूवर्णत्वादुवङि—**शुश्रुवुषः** इत्यादि । पदत्वे 'वसुस्रंसु' इत्यादिना दत्वे—**शुश्रुवद्भ्याम्** इत्यादि ॥

**देवदत्ताय गां प्रतिशृणोति । आश्रृणोति वा ।** याचितः सन् तस्मै ददामीति प्रतिजानीते इत्यर्थः । 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' प्रत्याङ्भ्यामुपसृष्टस्य शृणोते प्रयोगे प्रतिशृणोत्या-शृणोतिक्रियापेक्षया पूर्वस्या क्रियायाः कर्ता सम्प्रदानमिति देवदत्तस्य सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । प्रत्याङ्भ्यामुपसृष्टः शृणोतिः प्रतिश्रवणार्थ इति अर्थात् पूर्वा क्रियेह याचनम् ॥

**निश्रावी**—'रक्षश्रुवमवपशा नौ' इति ग्रहादिपाठाण्णिनिः ॥
**विश्रावः**—'वौ क्षुश्रुवः' इति वन् ॥

श्रूयते अनया इति **श्रुतिः**—'श्रुयजिदृशिस्तुभ्यः करणे' इति क्तिन् स्त्रियाम् । ल्युटोऽपवादः । अस्त्रियाम्—श्रूयतेऽनेनेति **श्रवणम्** । **श्रोत्रम्** । यदा नक्षत्रवचनस्तदा श्रवणेन युक्ता रात्रिः इति विगृह्य 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इति विहितस्याणः 'सञ्ज्ञायां श्रवणाश्वत्थाभ्याम्' इति लुपि **श्रवणा** रात्रिरिति भवति । अत्र 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' इति प्रकृत्यर्थलिङ्गं न भवति, 'विभाषा फाल्गुनीश्रवणा' इति निर्देशात् । लुबिति लुप्संज्ञया लुप्तप्रत्ययार्थ उच्यते । तत्र युक्तवद्व्यक्तिवचने भवत इति सूत्रार्थः । युक्तः प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थेन सम्बद्ध इति कृत्वा । व्यक्तिर्लिङ्गम् । वचनं एकत्वादि । यदाऽयं श्रवणाशब्दः पौर्णमासीवचः तदा श्रवणा पौर्णमासी अस्मिन् मासे इति विगृह्य 'विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः' इति अण्ठकोः कृतयोः—**श्रावणः** । **श्रावणिकः** इति भवति ॥

**श्रव**—अमुन् । विश्रवसोऽपत्यं **वैश्रवणः** । **रावणश्च** । शिवादिषु 'विश्रवणरवणे' इति पाठात् अपत्येऽणि तत्सन्नियोगेन विश्रवणरवणावादेशौ ॥

**श्रोत्रम्**—'ष्ट्रन्' इति ष्ट्रन् ॥

**श्रोणिः**—'वहिश्रुश्रियुद्रुस्रुहात्वरिभ्यो नित्' इति नित्प्रत्ययः ॥

## ध्रु स्थैर्ये ॥ १२८ ॥

**ध्रवति** । **दुध्राव** । **दुध्रुवतुः** । **दुध्रोथ** । **दुध्रविथ** । **दुध्रविव** । क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमादिड्विकल्पः । शेषं स्नवतिवत् ॥

**ध्रुवः** इति बाहुलकात् क । यद्वा—'ध्रुवमपाये' इति निर्देशात्साधुः । अयं तुदादौ गत्यर्थश्च । तस्मात् वा अचि ध्रुवः । स हि कुटादिः ॥

## द्रु द्रु गतौ ॥ १२९–१३० ॥

**द्रवति** । **दुद्राव** । **दुद्रुवतुः** । **दुद्रोथ** । **दुद्रविथ** । **दुद्रुव** । **द्रोता** । इत्यादि । पूर्ववत् लिटि क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमादिड्विकल्पः ॥

**द्रव**—पचाद्यच् । 'द्रुस्रोरनुपसर्गे' इति णविधौ तिरेव वृत्तौ गृहीतः । पदमञ्जर्यां च नयतिना साहचर्यात् सानुबन्धकस्य द्रुनोतेरिह ग्रहणमिति ॥

**सन्दावः**—'समि युद्रुद्रुवः' इति घञ् ॥

**दूनः**—'ल्वादिभ्यः' इत्यत्र 'दुग्वोर्दीर्घश्च' इति वचनात् निष्ठानत्वं दीर्घत्वं च ॥

**दूतः**—'दुतनिभ्यां दीर्घश्च' इति तन् दीर्घश्च ॥

दूतस्य भावकर्मणी **दूयम्**—'दूतवणिग्भ्यां चेष्यते' इति यः ॥

'टु दु उपतापे' इति स्वादौ ॥

**द्रवति । दुद्राव । दुद्रुवतुः । दुद्रोथ । दुद्रुव ।** क्रादिपाठादनिट्त्वम् । ननु स्तुद्रुस्रुश्रुवा निषेधस्य थलोऽन्यत्र चरितार्थत्वात् थलि भारद्वाजनियमाद्विकल्पस्स्यात् । न चैवं शक्यं वक्तुम्—स्त्वादिव्यतिरिक्तानां ग्रहणं नियमार्थं, स्त्वादीनां तु भारद्वाजनियमप्राप्तस्यैवेटो निषेधार्थमिति । एव हि क्रादिनियमात् थलोऽन्यत्र नित्यमिट् स्यात् । एव तर्हि स्वादीनां ग्रहण यत् क्रादिनियमात् इट् प्राप्त यश्चापि भारद्वाजनियमात् तयोर्द्वयोर्निषेधार्थं भविष्यति । न च मन्तव्यम्—येननाप्राप्तन्यायेन क्रादिनियमप्राप्तस्यैवेटो निषेधो युक्त इति । पुरस्तात्प्रतिषेधकाण्डारम्भादुभयोर्निषेध इति वृत्तावुक्तत्वात् । अथवा—सर्वेषा नियमार्थत्वेऽपि न दोष । अनेन नियमेन यः क्रचादिव्यतिरिक्तानां नित्यमिट् प्राप्त स 'अचस्तास्वत्' इति निषिध्यते । यत्र चाय निषेधस्तत्रैव भारद्वाजनियम इत्यर्थात् अस्य नियमस्य क्रचाद्यष्टकव्यतिरिक्तविषयत्वलाभात् ॥

**। द्रोष्यति ।** इत्यादि पूर्ववत् ॥

लुडि 'णिश्रिद्रुस्रुभ्य' इति चडि **अदुद्रुवत्** । लघूपधगुणादन्तरङ्गत्वादुवडित्युक्तम् ॥

**दुद्रूषति । दोद्रूयते । दोद्रोति ॥**

**द्रावयति** । अदुद्रवत्, **अदिद्रवत्**—'स्रवतिश्रुणोति-द्रवति' इत्यभ्यासस्य वेत्त्वम् । 'बुधयुध' इत्यादिना नित्यं परस्मैपदम् ॥

**सन्द्राव**—'समि युद्रुदुवः' इति घञ् ॥

**उद्द्रावः**—'उदिश्रयति' इत्यादिना घञ् ॥

**प्रद्रावः**—'प्रे द्रुस्तुस्रुव.' इति घञ् ॥

**हरिद्रुः** । **मितद्रुः** । **शतद्रुः** । डुप्रकरणे 'मितद्र्वादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति डुः ॥

हरिद्रुणा प्रोक्तं छन्दोधीते **हारिद्रविण**—'कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च' इति णिनि प्रोक्तार्थे । तदन्तात् 'छन्दो ब्राह्मणानि' इति नियमादध्येतृवेदितृप्रत्ययान्तमेवेत्युत्पन्नस्याणः 'प्रोक्ताल्लुक्' इति लुक् । कलाप्यन्तेवासिनश्च—

हरिद्रुरेषां प्रथमः ततश्छगलितुम्बुरू ॥
उलपेन चतुर्थेन कालापकमिहोच्यते ॥ इत्युक्तः ॥

**द्रविणम्**—'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' इति इनन् ॥

**द्रोण**—परिमाणादिः । 'कुवृजुसिद्रुपत्यनिस्वपिभ्यो नित्' इति नप्रत्ययः । स्त्रिया गौरादिपाठात्—**द्रोणी** ॥

द्रोणस्य गोत्रापत्य **द्रौणायनः** । **द्रौणिः**—'द्रोणपर्वतजीवन्तादन्यतरस्याम्' इति फक् । तद्भावे 'अत इञ्' ॥

**द्रोणं पचतीति द्रौणः** । **द्रौणिकः** । 'तत्पचतीति द्रोणादण् च' इत्यण्ठनौ ॥

**द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति**—'तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति तृतीया ॥

## जि जि अभिभवे ॥ ९३१–९३२ ॥

अभिभवो न्यूनीकरणम् । **जयति** । **जिगाय** । इत्यादि तिङन्त 'जि जये' इतिवत् । पुन. पाठे फलं तत्रैवोक्तम् ॥

**अध्ययनात् पराजयते**—पराजिरत्र न्यूनीभावे वर्तते । अयमत्राकर्मक । अध्येतुं ग्लायतीत्यर्थः । तत्र षष्ठ्या प्राप्तायां 'पराजेरसोढ' इति अध्ययनस्यापादानत्वात्पञ्चमी । परापूर्वस्य जयते. प्रयोगे असोढ सोढुमशक्यो योऽर्थ. तत्कारकमपादानमिति सूत्रार्थः ॥

**धनञ्जयः**—'संज्ञायां भृतृवृजि' इति खचि मुमागमः पूर्वपदस्य ॥

**शत्रुजित् । प्रजित्**—'सत्सूद्विष' इत्यादिना उपसर्गेऽप्यनुपसर्गेऽपि सुबन्ते उपपदे क्विप् ॥

**जिष्णुः**—'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नु.' इति ग्स्नुः । **जयी**—'जिदृक्षि' इति इनिप्रत्ययः । **जित्वर.**—'इण्नशजि' इति क्वरप् । त्रयोऽपि ताच्छीलिकाः ॥

**जैत्रम्**—बाहुलकात् त्रप्रत्ययः ॥

**ति । जिज्राय । जिज्रियतु. । जिज्रयिथ, जिज्रेथ । जिज्रियिव । जेता । जेष्यति । जयतु । अजयत् । जूयेत् ।** आशिषि—**जीयात् । अजैषीत् ॥**

**जिज्ञीषति**—'इको झल्' इति सन· कित्त्वान्न गुण· । 'अज्झनगमा' इति दीर्घ· ॥

**जेज्ञीयते । जेज्ञेति । ज्ञाययति । अजिज्ञयत् ॥**

जु इति सौत्रो धातु—**जवति** । इत्यादि । अयं गत्यर्थः । वेगवचन इत्यपरे ॥

**जवन**·—'जुचङ्क्रम्य' इत्यादिना युच् ॥

प्रजवशीलः **प्रजवी**—'प्रजोरिनि' इति इनिप्रत्यय· ॥

**जूः**—'भ्राजभास' इत्यादिना क्विप् । तत्रैव 'जू' इति पाठात क्विप्सन्नियोगेन दीर्घ ॥

**जवः**—अप् ॥

**जूतिः**—'ऊतियूतिजूति' इति निपातनात् क्तिनि दीर्घः ॥

धयत्यादयोऽनुदात्ता उदात्तित । श्रयतिस्तूदात्त· । तथा ञित उभयपदिन· ॥

## ष्मिङ् ईषद्धसने ॥ १३३ ॥

एतदादय· त्रायत्यन्ताः अनुदात्ता आत्मनेपदिन· ॥

**स्मयते । सिष्मिये । सिष्मियिषे । सिष्मियिढ्वे । सिष्मियिध्वे । सिष्मिये । सिष्मियिवहे । सिष्मियिमहे** । 'अचि श्नुधातु' इत्यादिना इयङ् ॥

**स्मेता । स्मेष्यते । स्मयताम् । अस्मयत । स्मयेत । स्मेषीष्ट अस्मेष्ट ॥**

**सिस्मायिषते**—'स्तौतिण्योरेव' इत्यषत्वम् । 'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' इतीट् ॥

**सेष्मीयते । सेष्मेति ॥**

**मुण्डो विस्मापयते । असिष्मपत**—'नित्य स्मयते' इति हेत्वेककारके स्मयत्यर्थे आत्वम् । तत्र पुक् । 'भीस्म्योर्हेतुभये' इति हेत्वेककारकार्थयोर्नित्यं तङ् । तत्र भयग्रहणं चित्तविकारोपलक्षणम् । तेन 'बिभेतेर्हेतुभये । स्मयतेर्हेतुस्मये' इत्यर्थो भवति । यदा तु हेतुत एव स्मयो न भवति तदा नात्वं, नापि तङ्नियम इति **मुण्डो रूपेण विस्मापयति** इति भवति ॥

**स्मेरं** मुखम्—'नमिकम्पि' इति रः ॥

**स्मित्वा । स्मितम् ॥**

अयमनादरे चुरादिः ॥

## गुङ् अव्यक्ते शब्दे ॥ ९३४ ॥

**गवते । जुगुवे । जुगुविषे । जुगुविवहे ॥**

**गोता । गोष्यते । गवतां । अगवत । गवेत ।** आशिषि—**गोषीष्ट । अगोष्ट । अगोष्यत ॥**

**जुगूषते**—'अज्झन' इति दीर्घः ॥

**जोगूयते**—'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः । **जोगोति ॥**

**गावयति । अजूगवत्**—णौ कृतस्य स्थानिवत्त्वात् गुशब्दस्य द्विर्वचनम् ॥

**गुत्वा** । **गुतः**—'दुग्वोर्दीर्घश्च' इत्यत्र निरनुबन्धस्य तौदादिकस्य 'गु पुरीषोत्सर्गे' इत्यस्य ग्रहणमिति नात्र निष्ठानत्वदीर्घत्वे भवतः ॥

**गोत्रम्**—'गुधृवीपचि' इत्यादिना त्रप्रत्ययः ॥

**ब्राह्मणगोत्रा**—'कुत्सितानि कुत्सनैः' इति समासः । वृत्तिविषये गोत्रशब्दः कुत्सनवचन इति चेलतावुक्तम् । 'घरूप' इत्यादिना पूर्वपदस्य ह्रस्वः ॥

**गवाकः** क्रमुकवचनः—पिनाकादिपाठादाकप्रत्ययः ॥

**गवलं** माहिषं शृङ्गं—बाहुलकादलप्रत्ययः ॥

अनन्तरं 'धृञ् धारणे' इति क्वचित् पठ्यते । वर्धमानोऽमुं न सहते । यदाह—केचित् धृञ् धारणे इति पठन्ति । सोऽनार्ष इति । धरति धरते इति प्रयोगदर्शनात् तत्साहसमात्रम् । उपादीयते च 'अनुपसर्गाल्लिम्प' इत्यत्र न्यासपदमञ्जर्यां धृञ् धारण इति । दैवे च धारणार्थे 'धरते धरतीत्युभे' इति । अस्माभिस्तु—मैत्रेयाद्यनुसारेण त्रित्प्रकरणे हरतेरनन्तरं पठित्वाऽयमुदाहृतः ॥

## गाङ् गतौ ॥ ९३५ ॥

**गाते** । त्रिष्वपि वचनेषु समान रूपम् । गा अ आतां इति स्थिते, अत्रान्तरङ्गत्वाद्धातुशपोरेकादेशे सवर्णदीर्घे डदवयव आकारोऽत परो न भवतीति 'आतो डित.' इतीयादेशो भवति । न च सवर्णदीर्घस्यादिवद्भावेनातः परत्वमकारस्य,

'अन्तादिवद्भावो वर्णाश्रये न' इति स्थितत्वात्। न च मन्तव्यं 'वार्णादाङ्गं बलीय' इति सवर्णदीर्घात् प्रागेव इयादेशस्यादिति। यदयमङ्गात्परस्येत्यङ्गस्य न भवति। बहुवचने झस्य 'आत्मनेपदेष्वनत·' इत्यद्भाव·। अत्राप्यनत इति पर्युदास आदिवद्भावेन न भवति. वर्णाश्रयत्वात्॥

**गासे। गाथे। गाध्वे। गे। गावहे। गामहे।** इटि टेरेत्वे वृद्धि·। धातुशपोरिकादेशस्यादिवद्भावात् 'अतो गुणे' इति पररूप वर्णाश्रयत्वादेव न भवति। 'आतो लोप इटि च' इत्यत्र आर्धधातुकस्यागमस्येटो ग्रहणात् नाछोपप्रसङ्गः॥

**जगे। जगाते। जगिषे। जगिध्वे। जगे। जगिवहे**—'आतो लोप इटि च' इत्याछोप·॥

**गाता। गास्यते।** 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' इत्यत्र गाडिति इडादेशग्रहणात् अस्मात् परस्याञ्णितः प्रत्ययस्य ङित्त्वाभावात् न 'घुमास्थागा' इतीत्वम्॥

**गाताम्। गास्व। गै। गावहै। अगात्। अगाताम्। अगात**—झस्याद्भाव। **अगाथाः। अगे**—आद्गुणः। **अगावहि। गेत। गेयाताम्। गेथाः। गेय।** 'लिङस्सलोप·' 'आद्गुणः' यलोपः। आशिषि—**गासीष्ट। अगास्त। अगासाताम्। अगासत। अगास्थाः। अगासि॥**

**जिगासते। जेगीयते**—'घुमास्था' इतीत्वम्॥

**गापयति। अजीगपत्॥**

'गापोष्टक्' इत्यत्र न्यासपदमञ्जर्योरयं धातुरादादिक इति स्थितम् । शापि पाठे चास्य प्रयोजन नास्ति । अस्माभिस्तु क्वापि पठितव्य इति मैत्रेयाद्यनुसारेणेह पठित. ॥

गायतीति गतं शब्दे ॥

## कुङ् घुङ् उङ् ङुङ् *शब्दे ॥१३६-१३९॥

**कवते** । **चुकुवे** । **घवते** । **जुघुवे** । इत्यादि गवतिवत्॥

**कोकूयते** इत्यत्र 'न कवतेर्यङि' इत्यभ्यासस्य चुत्वनिषेध । यङीतिवचनात् तल्लुकि—**चोकोति** इति चुत्व भवति ॥

अयमव्यक्तशब्द इति न्यासे । तथा देवश्च—'अव्यक्तशब्दे कवते' इति । अयमार्तशब्दे तुदादौ । शब्दमात्रे अदादौ ॥

**अवते** । **अवेते** । **अवन्ते** । **अवसे** । **अवे** । **ऊवे** । **ऊवाते** । **ऊविषे** । **ऊवे** । **ऊविवहे**—अत्रोवङि तस्य 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वात् उशब्दस्य द्विर्वचने वार्णादन्तरङ्गादपि सवर्णदीर्घात् पूर्वं बहिरङ्गेऽप्युवङि 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इति कृते पश्चात् सवर्णदीर्घः ॥

**ओता** । **ओष्यते** । **अवताम्** । **आवत** । **अवेत** । आशिषि—**ओषीष्ट** । **मा भवानौष्ट** ॥

**ऊषिषते**—'इको झल्' इति सन किन्वान्न गुण । 'अज्झन' इति दीर्घः । 'सन्यङोः' इति षष्ठचन्तत्वात् षशब्दस्य द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनम् ॥

---

*टुङ्

**आवयति** । मा भवान् अविवत् । वृद्ध्यावौ । चङि णेर्लोपे 'णौ च डि' इति ह्रस्वे 'चङि' इति द्विर्वचने णिलोपस्य 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वात् द्वितीयस्यैकाचो विशब्दस्य द्विर्वचनम् ॥

**ङ्वते** । ङुङ्वे ।* इत्यादि गवतिवत् ॥

## च्युङ् ज्युङ् प्रुङ् ष्टुङ् गतौ ॥९४०-९४३॥

च्यवते । **चुच्युवे** । चुच्युविषे । **चुच्युविध्वे** । चुच्युविढ्वे । **चुच्युवे**—'अचि श्नुधातु' इति उवङ् ॥

**च्योता** । **च्योष्यते** । **च्यवताम्** । **अच्यवत** । **च्यवेत** । **च्योषीष्ट** । **अच्योष्ट** ॥

**चुच्यूषते**—'इको झल्' इति कित्त्व, 'अज्झन' इति दीर्घः ॥

**चोच्यूयते** । **चोच्योति** ॥

**च्यावयति** । **अचुच्यवत्** । **अचिच्यवत्**—'स्रवतिशृणोति' इत्यादिना अभ्यासस्य वेत्त्वम् ॥

**च्यवनः**—चलनार्थत्वाद्युच् ॥

**च्योत्रम्**—बाहुलकात् त्रण् † ॥

**ज्यवत** इत्यादि च्यवतिवत् ॥

---

*टुङ्वे । टुटुवे ।

†च्योत्र—बाहुलकात् ष्यन्प्रत्यय. चान्य च्यौल—बाहुलकात् ञ्नुण् त्नण्

अत्र नन्दी—'जु' इत्ययकारं पठति । तत् 'जु इति सौत्रो धातु' इति वृत्तिन्यासपदमञ्जर्यादिष्वभिधानादनार्षमिव प्रतीयते ॥

**प्रवते** । **पुप्रुवे** । **प्लवते** । **पुप्लुवे** । इत्यादि गवतिवत् ॥

अत्र मैत्रेय· **क्लुड्** इत्येके । **क्लवते** । **चुक्लुवे** । इत्यादि ॥

विक्लव इति च बवयोरभेदात् द्रष्टव्यम् ॥

क्लुड्* इति च क्वचित्पठ्यते ॥

## रुङ् गतिरेषणयोः ॥ ९४४ ॥

**रवते** । **रुरुवे** । इत्यादि गवतिवत् ॥

**रावयति** । **अरीरवत्**—'ओ· पुयण्जि' इति यण्परत्वात् अभ्यासस्येत्वे दीर्घः ॥

रु शब्द इत्यदादौ । अस्यैव निरनुबन्धकस्य 'उपसर्गे रुवः' 'विभाषा डिरुप्लुवोः' इत्यत्र ग्रहणं वृत्त्यादौ कृतम् ॥

## धृङ् अवध्वंसने ॥ ९४५ ॥

**धरते** । **दध्रे** इत्यादि धृञ्वत् ॥

## मेङ् प्रणिदाने ॥ ९४६ ॥

प्रणिदानं विनिमयः । प्रत्यर्पणमित्यपरे ॥

**अपमयते** । **प्रणिमयते**—'नेर्गद' इति णत्वम् । तत्र 'माङ्मेङोर्ग्रहणमिष्यते' इति वृत्ति· । मेङ आत्वाभावेऽपि णत्वमिति हरदत्तः ॥

---

*झड्

**ममे । ममिषे**—'आतो लोपः' इत्याल्लोपः ॥

**माता । मास्यते । मयताम् । अमयत । मयेत । मासीष्ट । प्रण्यमास्त** । 'अङ्च्वायेऽपि' इति णत्वमिष्यते ॥

**मित्सते**—'सनिमीमा' इतीम् । अभ्यासलोपः । 'सस्यार्धधातुके' इति तत्वम् ॥

**मेमीयते**—'घुमास्था' इतीत्वम् । **मामाति । मामीतः । मामति** । 'ई हल्यघोः' इतीत्वं हलादौ क्ङिति । अजादौ तु 'श्नाभ्यस्तयोः' इत्याल्लोपः ॥

**मापयति । अमीमपत्** ॥

**मितम्**—'द्यतिस्यतिमा' इतीत्वम् ॥

**अपमित्य याचते । अपमाय याचते**—'न ल्यपि' इतीत्वनिषेध । 'मयतेरिदन्यतरस्याम्' इति पक्षे इकारः । 'उदीचां माङो व्यतीहारे' इति व्यतिहारार्थादस्मात् क्त्वा । अपूर्वकालार्थं वचनम् । याचित्वा ह्यसावपमयते । अत्रोदीचा ग्रहणात् यथाप्राप्तमपि भवति—**याचित्वा अपमयत** इति । अन्यथा येननाप्राप्तिन्यायेन अपूर्वकालक्त्वया पूर्वकालक्त्वो बाधस्स्यात् ॥

अपमित्य निर्वृत्तं **आपमित्यकम्**—'अपमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ' इति निर्वृत्ते यथासङ्ख्यादस्मात् कक् ॥

**धान्यमायः**—'ह्वावामश्च' इति कर्मण्युपपदेऽणि युक् । अत्र वृत्तौ 'माङ् माने' इत्युपादान 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' इति मेङोऽप्युपलक्षणमिति हरदत्तः ॥

## दयेङ् रक्षणे ॥ १४७ ॥

दयते । दिग्ये । दिग्याते । दिग्यिषे । दिग्ये—'दयतेर्दिगि लिटि' इति दिग्यादेशे 'एरनेकाच·' इति यण्। 'दिग्यादेशेन द्विर्वचनस्य बाधनमिष्यते' इति वृत्तिः ॥

दाता—इत्यादि ॥

अदित । अदिथाः । अदिषि—'स्थाघ्वोरिच्च' इति सिच· कित्त्वं मित्त्वं च ॥

प्रदाय—'घुमास्था' इतीत्वं 'न ल्यपि' इति निषिद्ध्यते ॥ शेषं मयतिवत् ॥

## श्यैङ् गतौ ॥ १४८ ॥

श्यायते । शश्ये । शश्याते । शश्यिषे । श्याता । श्यास्यते । श्यायताम्। अश्यायत । श्यायेत । आशिषि—श्यासीष्ट । अश्यास्त ॥

शिश्यासते । शाश्यायते । शाश्याति ॥

श्याययाति । अशिश्ययत् ॥

अवश्यायः । प्रतिश्यायः—'श्याद्व्यधा' इति ण· । अस्याप्याकारान्तत्वादेव णे सिद्धे प्रतिपदोपादानं सोपसर्गार्थमिति स्थितम् ॥

शीनं मेदः । शीतो वायुः । 'द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः' इति द्रवस्य मूर्तौ काठिन्ये स्पर्शे गुणे च वर्तमानस्य श्यायते-

निष्ठायां परतः प्रसारणे 'हल·' इति दीर्घः । तत्रास्पर्शे 'श्योऽस्पर्शे' इति निष्ठानत्वम् । द्रवमूर्तिस्पर्शाभ्यामन्यत्र **श्यानो वृश्चिक** इति सम्प्रसारण न भवति । निष्ठानत्वं 'संयोगादेरात·' इत्येव सिद्धम् । **प्रतिशीन**·—'प्रतेश्च' इति श्यैड· प्रतेः परस्य निष्ठायां प्रसारणम् । 'श्योऽस्पर्शे' इत्यत्र स्पर्शग्रहणेन गुणो निषिध्यते न तु रोग इत्यत्रापि निष्ठानत्वं भवति ॥

**अभिशीनः** । **अभिश्यान**· । **अवशीन**· । **अवश्यानः** । 'विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य' इति श्यैङो निष्ठाया वा प्रसारणम् । अत्राभ्यवाभ्यामिति वक्तव्ये पूर्वग्रहणं व्यवहितेऽपि यथा स्यादिति । तेन **अभिसंशीनः** । **अवसंशीनः** इत्याद्यपि भवति । मूर्तिस्पर्शयोरपि परत्वादियमेव विभाषा भवति । सर्वत्र सम्प्रसारणपक्षे स्पर्शादन्यत्र 'श्योऽस्पर्शे' इति निष्ठानत्वम् । अन्यत्र 'संयोगादेरात·' इति ॥

## प्यैङ् वृद्धौ ॥ ९४९ ॥

**प्यायते** । **पप्ये** । इत्यादि श्यैवत् ॥

## त्रैङ् पालने ॥ ९५० ॥

**चोरात् त्रायते** । **तत्रे**—इत्यादि पूर्ववत् । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति भयहेतोश्चोरस्यापादानत्वम् ॥

**त्राणम्**,[1] **त्रातः**—'नुदविद' इत्यादिना निष्ठानत्वं वा । इदं च व्यवस्थितविभाषाविज्ञानादेव त्रात इत्यादौ न भवति ॥

स्मिङ्प्रभृतय एतदन्ता अनुदात्ता आत्मनेभाषाः ॥

[1]त्राण

## पूङ् पवने ॥ ९५१ ॥

एतदादयो ऽयत्यन्ता उदात्ता आत्मनेपदिनः ॥

**पवते । पुपुवे । पुपुविषे । पविता । पविष्यते । पवताम् । अपवत । पवेत । पविषीष्ट । अपविष्ट ॥**

**पिपविषते**—'सनि ग्रहगुहोश्च' इत्यत्र चकारेणोगन्ताना समुच्चयात् निषेधे प्राप्ते तदपवाद 'स्मिपूङ्' इति इट्। 'द्विर्वचनेऽचि' इति गुणावादेशयोः स्थानिवत्त्वात्पुशब्दस्य द्विर्वचने 'ओः पुयण्ज्यपरे' इत्यभ्यासस्येत्वम् ॥

**पोपूयते । पोपोति ॥**

**पावयति । अपीपवत् ॥**

**पूत्वा, पवित्वा । पूतवान्, पवितवान् । पूतम्, पवितम्।** 'पूङश्च' इति क्तानिष्ठयोर्वेडागमः । 'पूङः क्त्वा च' इति सेटोः क्तानिष्ठयो. नित्यमकित्त्वम् । 'पूङ्' इति सानुबन्धकनिर्देशात् यङ्लुकि निष्ठाया कित्त्वमेव—**पोपुवितः । पोपुवितवान् ।** इति ॥

क्त्वाया तु 'न क्त्वा सेट्' इति कित्त्वनिषेधात् **पोपवित्वा** इति भवति ॥

**पवमानः**—'पूङ्यजोरशानन्' इति शानन्प्रत्ययः ॥

**पोत्रम्**—हलस्य सूकरस्य वा मुखम् । 'हलसूकरयो· पुव·' इति करणे ष्ट्रन् । तच्चेत्करणं हलसूकरयोरवयवो भवति । 'तितुत्र' इतीण्निषेधः ॥

**पवित्रम्** दर्भः—'पुवस्संज्ञायाम्' इति करणे इत्रः ॥

पूयतेऽनेनेति **पवित्रम्** ऋषिर्मन्त्र. । पवत इति **पवित्रम्** अग्न्यादिः । 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' इति ऋषौ करणे देवतायां कर्तरि पवतेरित्र. । यदाऽयमित्रः कर्तरि तदा नपुंसकलिङ्ग एवोदाहृतः ॥

पूडिति क्र्यादौ । तस्यापि ट्रूनित्रयोर्विधौ सामान्येन ग्रहणमित्युक्तानि रूपाणि तस्यापि ॥

## मूङ् बन्धने ॥ १५२ ॥

**मवते** । इत्यादि पवतिवत् ॥

**मुमूषते** । **मूत्वा** । **मूतं**—इत्यत्र 'श्रुकः किति' 'सनि ग्रहगुहोश्च' इतीण्निषेधः ॥

## डीङ् विहायसा गतौ ॥ १५३ ॥

'विहायसा गतौ' इति क्वचित्पठ्यते । तदाकाशगमन इति पठङ्क्यां चन्द्रधनपालाभ्या प्रत्युक्तम् । 'व्योमोरोभ्या गमने डयते मंहते च' इति पठन् केशवस्वाम्यत्रैवानुकूलः । अयमेव पाठो मैत्रेयादीनामपि । **डयते** । **डिडये** । **डिडिचषे**—'एरनेकाचः' इति यण् । **डयिता** । **डयिष्यते** । **डयताम्** । **अडयत** । **डयेत** । **डयिषीष्ट** । **अडायिष्ट** ॥

**डिडयिषते** । **डेडीयते** । **डेडेति** ॥

**डाययति** । **अडीडयत्** । **डयित्वा** ॥

'निष्ठाशीङ्' इत्यत्र 'निष्ठा' इति योगविभागात् **डयितं** इति भवतीति पारायणे ॥

डीनशब्दो दैवादिकस्य ॥

पूङादयस्त्रय एते उदात्ता आत्मनेपदिन ॥

## तॄ प्लवनतरणयोः ॥ ९५४ ॥

उदात्त परस्मैभाष । तरति । ततार । तेरतुः । तेरुः । **तेरिथ** । तेरथु· । तेर । ततार । तेरिव । **तेरिम**—'ऋच्छत्यृताम्' इति गुण· । वृद्ध्या तु स्वविषये पूर्वविप्रतिषेधेनाय बाध्यते । 'तृफलभजत्रपश्च' इति किति लिटि थलि च सेटि एत्वाभ्यामतोपौ ॥

**तरिता, तरीता । तरिष्यति, तरीष्यति**—'वृतो वा' इति इटो वा दीर्घ· । वृङ्वृञ्भ्यामृदन्ताच्च परस्येटो वा दीर्घ· इति सूत्रार्थ· । अत्र अलिटीत्यनुवृत्तेः लिटि न दीर्घः । **तरतु । अतरत् । तरेत्** । आशिषि—**तीर्यात्**—'ऋत इद्धातोः' इति इत्वरपरत्वयोः 'हलि च' इति दीर्घ· । 'इत्वोत्वाभ्या गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन' इत्युक्तत्वात् न तयोर्विषये इत्वम् ॥

**अतारीत् । अतारिष्टाम् । अतारीः । अतारिष्टम् । अतारिष्ट**—'वृतः' इतीटो दीर्घः 'सिचि च परस्मैपदेषु' इति बाध्यते ॥

**तितीर्षति । तितरीषति तितरिषति**—'वृतो वा' इत्यधिकृत्य 'इट्सनि वा' इतीटो विकल्पनात् 'सनि ग्रहगुहोश्च' इति निषेधोऽत्र न भवति । इडभावे 'इको झल्' इति सनः

कित्त्वादगुणत्वे 'ऋतः' इति इत्वरपरत्वयोः 'हलि च' इति दीर्घः । इट्पक्षे 'वृतः' इति दीर्घविकल्पः ॥

**तेतीर्यते** । **तातर्ति**—अभ्यासस्योरदत्वे हलादिशेषे 'दीर्घाऽकितः' इति दीर्घः । 'रुग्रिकौ च' इति रुग्रिग्रीकौ न भवन्ति, 'ऋतश्च' इति तपरकरणेन ऋकारान्तस्याङ्गस्याम्यासे तद्विधानात् । **नातीर्तिः** । **तातिरति** । **तातर्पि** । **तातर्मि** । **तातीर्वः**—अगुणविषये इत्परपरत्वे । हल्परत्वे तु दीर्घश्च । लोटि—**तातर्तु** । **तातर्तात्** । **तातीर्ताम्** । **तातिरतु** । **तातीर्हि** । **तातराणि** । हितातडो डित्त्वान्न गुण इतीत्त्वादि ॥

लडि निप्सिपो हल्ङ्यादिलोपे **अतातः** । **अतातीर्ताम्** । **अतातरुः** । अत्र 'जुसि च' इति गुणेन परत्वादित्वं बाध्यते ॥

**तातीर्यात्** । **तातीर्याताम्** । आशिषि सलोपाभावो विशेषः—**तातीर्यास्ताम्** । इत्यादि ॥

**तारयति** । **अतीतरत्** ॥

**व्यतितरते** । **व्यतितेरे** । **व्यतितारिता, व्यतितरीता** । **व्यतितारिष्यते, व्यतितरीष्यते** । **व्यतितरताम्** । **व्यतितरत** । **व्यतितरेत** । **व्यतितारिषीष्ट** । **व्यतितीर्षीष्ट**—'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इति ऋत इटो विकल्पनात् पक्षे इट् । तस्य च दीर्घत्वं 'न लिडि' इति निषेधान्न भवति । इडभावे 'उश्च' इति लिङ्सिचोः कित्त्वादगुणत्व इत्त्वादि । लुङ्यपि पूर्ववत् सिच इडभावे कित्त्वेत्त्वयोः **व्यतीतीर्ष्ट** इति । इट्पक्षे दीर्घविकल्पे—**व्यतितारिष्ट, व्यतितरीष्ट** इत्यादि । अयं

च दीर्घविकल्पः प्रकृतस्येट इति चिण्वदिटो न भवति । तेन **तारिता, तरिता, तरीता । तारिष्यते, तरिष्यते, तरीष्यते** इति त्रीणि रूपाणि भवन्ति । लिडि तु शुद्धोपीट् पाक्षिकः । तस्य च न दीर्घ इति **तारिषीष्ट । तरिषीष्ट, तीर्षीष्ट** । इति त्रीणि रूपाणि । लुङि त्वेकवचने **अतारि** । अन्यत्र चिण्वदिटि **अतारिषाताम्** । शुद्धे पुनरिटि दीर्घविकल्पनात् **अतरिषाताम् । अतरीषाताम्** । अयं चेट् 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इति पक्षे न भवति । तदा 'उश्च' इति कित्त्वेत्वादौ **अतीर्षाताम्** इत्यपीत्येवं चातूरूप्यं भवति ॥

ध्वमि तु चिण्वदिटि शुद्धेटश्च दीर्घादीर्घयोः 'विभाषेटः' इति मूर्धन्यविकल्पनात् **अतारिध्वम् । अतारिढ्वम् । अतरिध्वम् । अतरिढ्वम् । अतरीध्वम् । अतरीढ्वम्** इति षड्रूपाणि । इडभावे तु नित्ये मूर्धन्ये **अतीर्ढ्वम्** इत्याहृत्य सप्त रूपाणि ॥

**रथन्तरं** साम—'संज्ञायां भृतृवृजि' इति खच् ॥

**अवतारः**—'अवेतॄस्त्रोर्घञ्' इति करणाधिकरणयोर्घञ् ॥

**तीर्त्वा । तीर्णः । तीर्णवान्**—'श्रुचुकः किति' इतीण्निषेधः । निष्ठायां इत्वरपरत्वदीर्घत्वेषु 'रदाभ्याम्' इति नत्वम् ॥

**तीर्णिः**—'ऋकारल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् भवति' इति नत्वम् ॥

**तरुणः**—'कृवृतॄदारिभ्य उनन्' इति उनन्प्रत्ययः । कवयस्तु **तरुणिमा** इतीमनिचं प्रयुञ्जते । नास्य लक्षणमस्ति ॥

**तरुणी**—'वयसि प्रथमे' इति ङीप् ॥

**तलुनी** सुरा—'कपिलकादीनां संज्ञाच्छन्दसोर्वारो लमापद्यते' इति लत्वम् । 'नञ्स्नञीकक्तरुणतलुनानामुपसङ्ख्यानम्' इति ङीप् । नञ्स्नञीक प्रत्ययाः, इतरे प्रातिपदिके ॥

**तरुः**—'भृमृशि' इत्यादिनोप्रत्ययः ॥

**तालु**—'त्रोरश्च लः' इति ञुण्प्रत्यये रेफस्य च लत्वम् ॥

**तीर्थम्**—'पातृतुदि' इत्यादिना क्थे ऋत इत्वादि ॥

**तर्षः** उत्साह. सूर्योऽभिलाषश्च—'पातृवदि' इत्यादिना स. ॥

**तरणिः**—'अर्तिसृ' इत्यादिना अनिप्रत्यय. ॥

## गुप गोपने । तिज निशाने । मान पूजायाम् ॥ बध बन्धने ॥ १५५–१५८ ॥

गुप गोपनकुत्सनयोः इति मैत्रेयः । एते च गुपादय· 'गुप्तिच्किद्भ्य. सन्' 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य' इति नित्यमन्नन्ता· । तथा च भाष्यम्—नैतेभ्यः प्राक्सन आत्मनेपदम्, नापि परस्मैपदं पश्याम इति । तथा च 'पूर्ववत्सन·' इत्यत्र वार्तिकं च 'पूर्वस्यात्मनेपददर्शनात् । सन्नन्तात् आत्मनेपदमिति चेत् गुपादिप्वप्रसिद्धि' इति । 'अयं च सन् गुपे· निन्दायाम् । तिजे. क्षमायाम् । माने· जिज्ञासायाम् । बधे वैरूप्ये' इति वृत्तावुक्तत्वात् अत्रापठितेष्वर्थेषु न च सन् अस्ति । न चैषा केवलाना पठितेष्वर्थेषु प्रयोगः, पूर्वोक्तभाष्यवार्तिकविरोधात् । कि च भाष्ये अनुबन्धकरणसामर्थ्यात् अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवतीति सन्नन्तादात्मने

पदसमर्थनं च विरुध्येत। तथा निन्दादेरन्यत्र केवलानां गुपादीनां प्रयोगे तत्रैव अनुबन्धासञ्जनस्य आत्मनेपदार्थत्वेन चरितार्थत्वात् कथ सामर्थ्यम्, कथं वा कृतत्वम्[1]। एवं च गोपते। तेजते। इति स्वाम्युक्त केवलात् तिड. प्रयोगः प्रत्युक्तः। अत्र नन्दि-मैत्रेयौ 'न ह्येतेभ्य' इत्यादिना भाष्येण तिडामभाव प्रतीयत इति निन्दादेरन्यत्र कृतमुदाजहतुः। हरदत्तस्त्वेतन्नानुमन्यते। यदाह—'पूर्ववत्सनः' इत्यत्र—कथं तर्हि जुगुप्सादेः समुदायस्य अनुदात्तेत्त्वमन आह—अवयव इति। अवयवे ह्यचरितार्थं लिङ्गं सामर्थ्यात्समुदायस्य विशेषकं भवति। यद्येवं गोपयति तेजयति इत्यादावपि प्रसङ्गः। अथ यं समुदायं योऽवयवो न व्यभिचरति तत्र कृतं लिङ्गं तस्य विशेषकं भवति। णिजन्तं च व्यभिचरति, विनापि तेन जुगुप्सत इति गुपेः प्रयोगात् इत्युच्येत। यद्येवं सन्नन्तादपि न स्यात्, विनापि तेन गोपयतीति गुपेः प्रयोगात्। वक्तव्यो वा विशेषः। अयमुच्यते; गुप गोपने इत्यस्य सन्विधौ ग्रहणं, तस्माच्च नित्यं सन्नेव भवति नापरः प्रत्यय। गोपायतीत्यादिकस्तु प्रयोगो गुपूरक्षणे इत्यस्य। सचान्य एव। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्—अन्य एव सन्प्रकृतिः तस्माच्च सनेव भवतीति। अन्यथा—निन्दाया अन्यत्र यथा णिच् भवति तथा लडादिरपि स्यात्। एवं तिजिप्रभृतयोऽपि क्षमाद्यर्थे यत्र सन्निष्यते तत्रानुदात्तेतो नित्यसन्नन्ताश्च। क्षमादिभ्योऽन्यत्र तु यत्र णिजिष्यते तत्राननुबन्धका एव चुरादौ पठितव्या इति। अत्रैव मते 'अवयवे कृतं लिङ्गं' इति भाष्योपपत्तिः। यदि हि कृतः स्युः तर्हि अनुदात्तेत्त्वं युजर्थं स्यात् इति कथमकृतार्थत्वोक्तिः॥

[1]अनुबन्धत्वम्.

अथोदाहरणानि—**जुगुप्सते** । **जुगुप्साञ्चक्रे** । **जुगुप्सिता** । **जुगुप्सिष्यते** । **जुगुप्सताम्** । **अजुगुप्सत** । **जुगुप्सेत** । **जुगुप्सिषीष्ट** । **अजुगुप्सिष्ट**—अत्रास्य सनो धातुसंशब्देनाविधानात् अनार्धधातुकत्वान्नेड्गुणौ । एवं **तितिक्षत** इत्यादि ॥

**मीमांसत**—इत्यादौ 'मान्बध' इत्यभ्यासस्य दीर्घः । अयं च 'अभ्यासविकारेष्वपवादा नोत्सर्गान्विधीन् बाधन्ते' इति अभ्यासस्य हलादिशेषह्रस्वत्वेषु कृतेष्वेव । एवं **बीभत्सते** इत्यादावपि । अत्र 'एकाचो बश०' इति बकारस्य भकारः । धकारस्य 'खरि च' इति चर्त्वं तकारः ॥

गोपायतीति रक्षणे गतम् ॥

## गुपादयश्चत्वार एते अनुदात्तेतः ।

## रभ राभस्ये ॥ ९५९ ॥

राभस्यमुपक्रमः । एतदादयो हदत्यन्ता अनुदात्ता अनुदात्तेतः ॥

**आरभते** । **आरेभे** । **आरेभिषे** । **आरेभिवहे**—क्रादिनियमादिट् । एत्वाभ्यासलोपौ ॥

**आरब्ध**—'झषस्तथोः' इति धत्वे 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वं भकारस्य बकारः । **आरप्स्यते**—'खरि च' इति चर्त्वम् । **आरभताम्** । **आरभत** । आशिषि—**आरप्सीष्ट** । **आरब्ध**—सिज्लोपधत्वजश्त्वे ॥

**आरिप्सते**—'सनिमीमा' इत्यादिना अच इस्, 'स्कोः' इति सलोपः, 'अत्रलोपः' इत्यभ्यासलोपः ॥

**आरारभ्यते** । **आरारम्भीति, आरारब्धि** । ईट्पक्षे 'रभेरशब्लिटोः' इति शब्लिङ्भ्यामन्यत्र अजादौ नुम्विधानान्नुमि अनुस्वारपरसवर्णौ । **आरारब्धः** । **आरारभति**—अत्र अङ्भावे अजादित्वात् कृतस्य नुमः 'अनिदिताम्' इति नलोपः । **आरारम्भाणि** । **आरारम्भाव** । **आरारम्भाम** । आटश्चजादित्वान्नुम् । पित्त्वान्नलोपाभावः । लडि तिप्सिपोः हल्ङ्यादिलोपे जश्त्वचर्त्वयोः—**आरारप्** ॥

**आरम्भयति** । आररम्भत् । अत्र परामपि वृद्धिं नित्यत्वान्नुम् बाधते ॥

**आरम्भः**—आरम्भणम्—अजादित्वान्नुम् ॥

**रम्भा**—पचाद्यचि टाप् ॥

**रभसः**—'अत्यवि' इत्यादिना असच्, बाहुलकान्नुमभावः । राभस्य इति निपातनात् वा ॥

## डु लभष् प्राप्तौ ॥ ९६० ॥

**लभते**—इत्यादि सर्वं रभतिवत् । अस्यापि शब्लिङ्भ्यां जिते अजादौ 'लभेश्च' इति नुम् ॥

**आलम्भ्या गौः**—'आडो यि' इति आङ्पूर्वाच्छभेर्यकारादौ नुम् । अत्र यीत्यस्य विषयसप्तमीत्वात् प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेः नुमि अदुपधत्वाभावात् 'पोरदुपधात्' इति यन्नेति ण्यद्भवति । ण्यद्यतोश्च स्वरे विशेषः । ण्यति 'गतिकारकोपपदात्कृत्' इति दन्तोत्तरपदप्रकृतिस्वरः 'तित्स्वरितम्' इति स्वरितत्वं भवति ।

यति तु उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन 'यतोऽनावः' इति यदन्तं द्व्यच्चकमाद्युदात्तं स्यात्। अत्र च विषयसप्तमीत्वं 'इदितो नुम् धातोः' इत्यतः धातोरित्यनुवृत्त्या भाष्ये प्रतिपादितम्॥

**उपलम्भ्या विद्या**—'उपात्प्रशंसायाम्' इति लभे. यकारादौ विषये नुम्। अत्र धात्वर्थस्य प्राप्तेः प्रशंसापादनद्वारेण वा प्राप्यमाणद्वारेण वा प्रशंसाया अन्यत्र नुमभावात् 'पोरदुपधात्' इति यति 'उपलभ्यमस्मात् वृषलान्न किंचित्' इति भवति। अत्रापि ण्यद्यतोः स्वरे विशेषः॥

**ईषत्प्रलम्भः। सुप्रलम्भः**—'उपसर्गात् खल्घञोः' इति नुम्। 'लभेश्च' इति सिद्धे वचनमिदं नियमार्थं—खल्घञोरजाद्योर्यदि भवति उपसर्गात्परस्यैवेति। तेन **ईषल्लभः। लाभः** इत्यत्र नुन्नभवति॥

**सुलभः। दुर्लभः। सुलाभः। दुर्लाभ**। इत्यत्र तु उपसर्गात्परत्वेऽपि 'न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्' इति नुन्निषेधः। अत्र केवलशब्दश्शब्दोपात्ताभ्या सुदुर्भ्यामन्यस्य सजातीयोपसर्गस्याभावमाह। तेन सुदुर्भ्यामन्योपसर्गरहितस्य लभेः खल्घञोर्नुन्न भवतीति सूत्रार्थ। उपसर्गान्तरयोगे तु **अतिसुलम्भ** इति नुम् भवत्येव॥

**सुदुर्लभम्। अतिसुलभम्। सुदुर्लभः। अतिदुर्लभः**—इति प्रयोगास्तु 'सु पूजायाम्' 'अतिरतिक्रमणे च' इति स्वत्योः कर्मप्रवचनीयत्वे द्रष्टव्या। अतिक्रमणं फलप्राप्तावपि क्रियाऽनुपरति। उक्तेषु सर्वेषूदाहरणेषु खल्घञोर्न बाध, विषयभेदात् कर्मणि खल् भावे तु घञिति। यद्वा—सुरत्र क्षेपे; यथा-

'सुषिक्तं किं तवात्र' इति। दुर्निन्दायां; यथा—दुर्ब्राह्मण इति। तेन कुच्छ्राकृच्छ्रार्थत्वाभावात् खलभावः॥

**अलाभि, अलम्भि**। **लाभंलाभं, लम्भंलम्भं**—'विभाषा चिण्णमुलोः' इति लभेः नुम्विकल्पः। व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् सोपसर्गस्य नित्यं नुम्भवति—**प्रालम्भि**। **प्रलम्भंप्रलम्भामिति**॥

लाभेन निर्वृत्तं **लब्धिर्मं**—'ङितः क्रिः' 'क्रेर्मब्नित्यम्' इति मप्॥

षित्त्वादङ्—**लभा**। **लब्धिः**—'क्तिन्नाबादिभ्यः' इति क्तिन्॥

## ष्वञ्ज परिष्वङ्गे॥ १६१॥

**स्वजते**—'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' इति अनुनासिकलोपः। **सस्वजे**। **सस्वञ्जे**। **सस्वजिषे, सस्वञ्जिषे**—'इन्धिभवतिभ्याम्' इत्यत्र 'श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनां वेति वक्तव्यम्' इति लिटः कित्त्वविकल्पनात् पक्षे अनुनासिकलोपः। तथा च 'सदिस्वञ्जोः' इत्यत्र वृत्तितद्व्याख्यानेषु स्वञ्जेः संयोगान्तादपि लिटो विभाषा कित्त्वमिच्छन्तीति॥

**स्वङ्क्ता**। **स्वङ्क्ष्यते**। **स्वजताम्**। **अस्वजत**। **स्वजेत**। **स्वङ्क्षीष्ट**। **अस्वङ्क्त**॥

**सिस्वङ्क्षते**—'स्तौतिण्योरेव' इत्यषत्वम्। **सास्वज्यते**। **सास्वजीति, सास्वङ्क्ति**। **सास्वक्तः**। **सास्वजनि**। लोटि

हौ—सास्वीग्धि । लडि तिप्सिपोः हल्ङ्यादिलोपे संयोगान्तलोपे च—असास्वन् ॥

स्वञ्जयति । असस्वञ्जत् ॥

प्रतिष्वजते—'उपसर्गात्सुनोति' इत्यादिना षत्वम् । प्रसस्वङ्क्—'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' इति षत्वम् । परिष्वजते । निष्वजते । विष्वजते 'परिनिविभ्य.' इत्यादिना षत्वम् ।—उपसर्गात्सुनोति' इत्यादिना सिद्धे स्तुस्वञ्जोरुपादान 'सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि' इति परिनिविभ्यः परत्वे अड्व्यवाये सिवादित्वादनयोः षत्वविकल्पो यथा स्यादिति । तेन पर्यष्वजत, पर्यस्वजत इत्याद्युभयं भवति । प्रतिषस्वजे प्रतिषस्वञ्जे । परिषस्वजे । परिषस्वञ्जे इत्यादौ 'स्थादिष्वभ्यासेन' इत्यभ्यासात् परस्य प्राप्तं षत्वं 'सदिष्वञ्जोः परस्य लिटि' इति निवार्यते ॥

## हद पुरीषोत्सर्गे ॥ १६२ ॥

हदते । जहदे । जहदिषे । हत्ता । हत्स्यते । हदताम् । अहदत । हदेत । हत्सीष्ट । अहत्त ॥

जिहत्सते । जाहद्यते । जाहदीति, जाहत्ति ॥

हादयति । अजीहदत् ॥

हत्त्वा । हत्त्व—'रदाभ्याम्' इति नत्वम् ॥

रभादयश्चत्वारोनुदात्ता अनुदात्तेत् । नन्दीतु हर्दि विभाषानुदात्तेतमाह ॥

## ञि क्ष्विदा अव्यक्ते शब्दे ॥ १६३ ॥

अयमुदात्त उदात्तेत् । क्ष्वेदति । चिक्ष्वेद । चिक्ष्विदिथ । चिक्ष्विदिव । तासौ नित्यानिटो भारद्वाजनियम इत्युक्तम् ॥

क्ष्वेदिता । क्ष्वेदिष्यति । क्ष्वेदतु । अक्ष्वेदत् । क्ष्वेदेत् । क्ष्विद्यात् । अक्ष्वेदीत् ॥

चिक्ष्विदिषति, चिक्ष्वेदिषति—'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वविकल्पः । चेक्ष्विद्यते । चेक्ष्वेत्ति ॥

क्ष्वेदयति । अचिक्ष्विदत् ॥

क्ष्वेदित्वा, क्ष्विदित्वा । क्ष्विण्णः—'त्रितः क्तः' इति वर्तमाने क्तः. 'आदितश्च' इति इडभावः । 'रदाभ्याम्' इति निष्ठानत्वम् । क्ष्विण्णमनेन, क्ष्वेदितमनेन । प्रक्ष्विण्णः, प्रक्ष्वेदितः—'विभाषा भावादिकर्मणोः' इतीड्विकल्पः । 'निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः' इति सेटो निष्ठाया अकित्त्वाद्गुणः ॥

ञिक्ष्विदा स्नेहनमोचनयोरिति दिवादौ ॥

## स्कन्दिर् गतिशोषणयोः ॥ ९६४ ॥

इतो मिहान्ता उदात्तेतोऽनुदात्ताः । स्कन्दति । चस्कन्द । चस्कन्दिथ, चस्कन्थ । चस्कन्दिव—क्रादिनियमादिट् । थलि तु भारद्वाजनियमाद्विकल्पः ॥

स्कन्ता । स्कन्त्स्यति । स्कन्दतु । अस्कन्दत् । स्कन्देत् । स्कद्यात्—'किदाशिषि' इति कित्त्वात् 'अनिदिताम्' इति नलोपः । अस्कदत् । अस्कदतां—'इरितो वा' इति वाऽङि नलोपः । अङोऽभावे—अस्कान्त्सीत् । अस्कान्ताम् । अ-

**स्कान्तसुः**—'वदव्रज' इति वृद्धिः । अनजादौ 'झलो झलि' इति सिज्लोपः ॥

**चिस्कन्त्सति । चनीस्कद्यते**—'नीग्वञ्चु' इत्यादिना **नीक्** । **चनीस्कन्दीति, चनीस्कन्ति । चनीस्कत्तः । चनीस्कदति । स्कन्दयति । अचस्कन्दत्** ॥

**गेहावस्कन्दमास्ते**—'विशिपति' इत्यादिना णमुल् । तृतीयाप्रभृतित्वात् वा समासः । तेनैवोक्तत्वात् नित्यवीप्सयोः न द्विर्वचनम् । असमासे वीप्साया द्रव्यवचनस्य द्विर्वचनं, नित्यत्वे क्रियावचनस्येति **गेहंगेहमवस्कन्दम्** । **गेहमवस्कन्दमवस्कन्दमिति** । क्रियाभेदे क्त्वाऽपीष्यते इत्युक्तत्वात्—**गेहंगेहमवस्कन्द्य** इत्याद्यपि भवति ॥

**विष्कन्ता, विस्कन्ता**—'वेस्कन्देरनिष्ठायाम्' इति वा षत्वम् । 'अनिष्ठाया' इति पर्युदासात् नञिवयुक्तन्यायेन क्त्वेवाऽयं विकल्पः । तथा वृत्तिकारेणापि पर्युदासो व्याख्यातः, कृतश्चोदाहृताः । निष्ठाया **विस्कन्नः**—'रदाभ्याम्' इति निष्ठानत्वम् । **परिष्कन्ता, परिस्कन्ता**—'परेश्च' इति वा षत्वम् । पृथग्योगकरणात् अनिष्ठाया इति नानुवर्तत इति वृत्तिः । तेन **परिष्कण्णः, परिस्कन्न** इति भवति । अत एव पर्युदासाभावात् नञिवयुक्तन्यायो नास्तीति तिङ्यपि भवत्येव विकल्पः **परिष्कन्दति, परिस्कन्दति** इति ॥

**परिस्कन्दः**—'परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु' इत्यषत्वमस्य प्रयोगस्य प्राच्यभरतविषयत्वे ॥

**स्कन्त्वा । प्रस्कन्द्य**—'क्त्वस्कन्दिस्यन्दोः' इति नलोपाभावः ॥

**उत्कन्दो** नाम रोगः—'उदस्थास्थम्भोः' इत्यत्र 'रोगे-चेति वक्तव्यम्' इति वचनात् स्कन्देः सकारस्य पूर्वसवर्ण-स्तकारो भवति ॥

## यभ विपरीतमैथुने ॥ १६५ ॥

विपरीत इति विपरीतानुष्ठित इत्यर्थ इति मैत्रेयः । पुरुष-कारे तु यभ विपरीते[1] मैथुने इति विपरीत इति यभेरर्थ इति । क्वचित्पठ्यते यभ मैथुने इति । **यभति । ययाभ । येभतुः । येभिथ, ययब्ध । येभिव**—क्रादिनियमान्नित्यमिट् । थलि भरद्वाजनियमात् विकल्प· ॥

**यब्धा । यप्स्यति । यभतु । अयभत् । यभेत् । यभ्यात् । अयाप्सीत् । अयाब्धाम् ॥**

**यियप्सति । यायभ्यते । यायब्धि ॥**

**याभयति । अयीयभत् ॥**

**यब्ध्वा । यब्धम् । यभ्यम्**—'पोरदुपधात्' इति यत् ॥

जभेत्येके इति मैत्रेय· । जभ च इति धनपालकाश्यपौ । जप जभ इति शाकटायनः । तत्र जभे· पाठो न्यासपदमञ्जरीकृतो-रनभिमतः । सति ह्यस्मिन् 'लुपसदचरजपजभदहदशभञ्जपशां च' 'रथिजभोरचि' इत्यादौ जभजृभीतिवदमुमप्युपाददीयाताम् । किञ्च—इह जभेः पाठेऽनेनाप्यनिटा भाव्यत्वात्

रभिश्च भान्तेष्पथ मैथुने यभिः
ततस्तृतीयो लभिरेव नेतरः ।

[1] विपरीतो.

इति व्याघ्रभूतिवचनेनापि विरोधस्स्यात् । तृतीयश्च यमिरेव, तत्र वृत्तौ यब्धेत्युदाहरणात् ॥

जम्भत इति गात्रविनामे गतः ॥

## णम प्रह्वत्वे ॥ १६६ ॥

**नमति । ननाम । नेमतुः । नेमिथ, ननन्थ । नन्ता । नंस्यति । नमतु । अनमत् । नमेत् । नम्यात् । अनंसीत् । अनंसिष्टाम्**—'यमरमनमातां' इति सगिटौ परस्मैपदे ॥

**निनंसति । नंनंस्यते । नंनमीति, नंनन्ति । नंनतः । नंनमति । नंनन्वः । नंनन्मः**—'स्वोश्च' इति मकारस्य नत्वम् । लङि—**अनंनन् । अनन्नताम्**—'मोनोधातो.' इति पदान्ते नत्वम् ॥

**नमयति, नामयति**—'ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद्वा' इति मित्त्वविकल्पः । सोपसर्गात्तु अमन्तत्वान्नित्य मित्त्वं—**प्रणमयति । 'उपसर्गादसमासेऽपि'** इति णत्वम् । **अनीनमत् । नमते दण्डः स्वयमेव । अनंस्त दण्डः स्वयमेव**—'न दुहस्नुनमाम्' इति यक्चिणोः निषेधः ॥

**नम्रः**—'नमिकम्पि' इति रः । **नेमिः**—'भाषायां धाञ्-कसृगमिजनिनमिभ्यः' इति किकिनोरन्यनरः । तस्य लिङ्वद्भावादेत्वाभ्यासलोपौ ॥

**नतम्**—'अनुदात्तोपदेश' इत्यनुनासिकलोपः ॥

**प्रणत्य, प्रणम्य**—'वा ल्यपि' इत्यनुनासिकलोपविकल्पः ॥

नॄन् नमयतीति **नॄनमो** नाम कश्चित्—'क्षुभ्नादिषु च' इति णत्वाभावः ॥

**नमः**—असुन् ॥

**नमस्यति देवान्**, पूजयतीत्यर्थः—'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' इति क्यच् । नमसः पूजाया इति तत्र वृत्तिः ॥

**नमस्कृत्य, नमःकृत्वा**—'साक्षात्प्रभृतीनि च' इति कृञा योगे पक्षे गतिसंज्ञा । गतित्वे 'कुगति' इति समासः । 'नमस्पुरसोर्गत्योः' इति विसर्जनीयस्य सत्व च ॥

**नमो देवेभ्यः**—'नमस्स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' इति नमोयुक्ताच्चतुर्थी ॥

**नाकु**—वल्मीकः । 'फलिपाटिनमि' इत्यादिना उप्रत्ययो नाकादेशश्च ॥

**नप्ता**—'नप्तृनेष्टृ' इत्यादिना तृनि मकारस्य पकारो निपात्यते **नप्तारौ** इत्यादौ असंबुद्धौ सर्वनामस्थाने 'अनृन्' इत्यादिनोपधादीर्घः ॥

## गम्लृ सृप्लृ गतौ ॥ १६७-१६८ ॥

**गच्छति**—'इषुगमियमां छः' इति इत्संज्ञकशकारादौ शपि छत्वे तुक् । **जगाम** । जग्मतुः । जगन्थ, **जगमिथ** । जग्मिव। **जग्मिम** । क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमात् विकल्पः । डितोरजाद्योः 'गमहन' इत्युपधालोपे तस्य 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वात् द्विर्वचनम् ॥

**गन्ता** । **गमिष्यति**—'गमेरिट्परस्मैपदेषु' इति सकारादेरिट्। **गच्छतु** । **अगच्छत्** । **गच्छेत्** । आशिषि—**गम्यात्** । **अगमत्**—लृदित्त्वादङ्, 'गमहन' इत्यत्र अनङीति पर्युदासात् नोपधालोपः ॥

**जिगमिषति** । **जिगमिष त्वं**—इत्यत्र हेर्लुका लुप्तत्वात् परस्मैपदाभावेऽपि भाष्यवार्तिकयोः 'सिद्धं तु गमेरात्मनेपदेन समानपदस्थस्येटः प्रतिषेधात्' इति न्यासान्तरेण आत्मनेपदेन समानपदस्थस्य गमेस्सकारादेरिण्णिषेधात् इड्भवति । एवं **जिगमिषिता** इत्यादौ कृत्यपीड्भवति । इदं च भाष्य वार्तिक च आत्मनेपदेऽपीण्णिषेधे सिद्ध एव आरभ्यमाणमर्थादन्यत्रेट बोधयति । अत एव भाष्यवार्तिकविरोधात् 'गमेरिट्' इत्यत्र परस्मैपदग्रणं गम्युपलक्षणार्थं परस्मैपदेषु योगमिर्दष्ट इति पदशेषकारदर्शनमुपेक्ष्यम् । वृत्तावयं पक्ष· प्रतिक्षेपार्थमेव उपक्षिप्तः । यदाह तत्र हरदत्तः—न पुनरयं पक्षः स्थापितो भाष्यवार्तिकविरोधादिति । कः पुनरत्र फलभेदः । उच्यते—संपूर्वस्याकर्मकस्य गमेः 'समोगमृच्छि' इत्यात्मनेपदित्वात परस्मैपदेष्वदर्शनात् **संजिगमिषितेत्यादौ** इण्नस्यात् । तथा **जिगमिषांचक्रे** इत्यत्र भावकर्मविषयस्य गमेः परस्मैपदेष्वदर्शनात् इण्नस्यात् । अथ मतं—परस्मैपदेषु दृष्ट एव गमिः उपसर्गादिवशेनात्मनेपदेऽपीति इड्भविष्यतीति । तर्ह्यस्य गमेः सर्वत्रेट् स्यात् । 'गंस्यते स विशेषः' इति भाष्यप्रयोगश्च विरुध्यते । कथं तर्हि आत्मनेपदेन समानपदस्थस्येण्णिषेधे जिगमिषितेवाचरति जिगमिषयत्रीयते इति हरदत्तादयः । बहिरङ्गत्वादात्मनेपदस्य प्रतिषेधाभाव इति । अयं च प्रकारोऽस्माभिः क्रमतावुपपादितः ॥

**जङ्गम्यते**—'नित्यं कौटिल्ये गतौ' इति गतिवचनत्वात् कौटिल्य एव यङ्। 'नुगत' इत्यभ्यासस्य नुक्यनुस्वारपरसवर्णौ ॥

**जङ्गमीति, जङ्गन्ति** । **जङ्गतः**—'अनुदात्तोपदेश' इत्यनुनासिकलोपः । **जङ्ग्मति** । प्रकृतिग्रहणन्यायेन 'गमहन' इत्युपधालोपः । **जङ्गन्मि** । **जङ्गन्वः** । **जङ्गन्म**—'ग्वोश्च' इति नत्वम् । **जङ्गहि**—इत्यत्र अनुनासिकलोपे तस्य 'असिद्धवदत्र' इत्यसिद्धत्वात् 'अतो हेः' इति लुङ्भवति । अत्र सुधाकर.—अनुदात्तोपदेशा यम्यादय इति यम्यादे गणत्वेन निर्देशात् 'निर्दिष्टं यङ्गणेन च' इत्यनुनासिकलोपाभावमुक्त्वा यदा धातुपाठ एव गण. तदा भवितव्यमेव लोपेनेत्याह 'हन्तेर्ज.' इत्यत्र जङ्गहीत्युदाहरणे । न्यासकारोपि व्याख्यातृनिर्देशेन गणनिर्देशं नानुमन्यते । अत एव न्याससुधाकरविरोधात् 'स्तिपाशपा' इत्यत्र यत्रोपदेशग्रहणमिति यः क्वचित्पाठः स उपेक्ष्यः । **अजङ्गन्**—'मोनोधातोः' इति नत्वम् ॥

**गमयति** । **अजीगमत् ग्रामं देवदत्तं यज्ञदत्तः ग्रामायेति** वा । 'गतिबुद्धि' इति प्रयोज्यस्य कर्मत्वम् । अत्र 'गत्यर्थकर्मणि' इति ग्रामात् द्वितीयाचतुर्थ्यौ । ग्रामश्चात्र गमेरेव कर्म यतो ग्रामकर्मिकाया गतौ प्रेष्यते ग्रामं गच्छेति, प्रयोज्यस्तु ण्यन्तस्य कर्म न गमेरिति न तत्र चतुर्थी भवति । अत्र कर्मणि लादयो 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इत्यभिधानात् प्रयोज्ये भवन्ति **गम्यते ग्रामं देवदत्तः** । **गमयितव्य** इत्यादि । अत्र कृद्योगलक्षणा षष्ठी 'गत्यर्थकर्मणि' इत्यत्र चतुर्थी चेति वक्तव्ये द्वितीयाग्रहणात् बाध्यते । यद्वा—कृत्यानां इत्यत्र योगविभागेन 'उभयप्राप्तौ कृत्ये षष्ठी न' इत्युक्तत्वात् कर्तृवत् कर्मण्यपि षष्ठ्या नैव प्रसङ्गः । **ग्रामं गन्ता गमयिता** इत्यादौ तु पुनर्द्वितीया

याग्रहणादेव षष्ठचा बाधः। 'अत्रानध्वनि' इति पर्युदासात् अध्व-वचनेभ्यो यथायोगं द्वितीयापष्ठचावेव भवत·—**अध्वानं गच्छति पन्थानं गच्छति अध्वनो गन्ता पथो गन्ता** इति । अय चान-ध्वनीति प्रतिषेधः 'आस्थितप्रतिषेधश्राय विज्ञेय' इति वृत्तावु-क्तत्वात् आस्तिविषयः। आस्थित प्रथममेव स्वीकृतः। तेन यदा उत्पथेन पन्थानं गच्छति तदा ग्रामादिवत् द्वितीयाचतुर्थ्यौ द्वे अप्युदाहार्ये द्वितीयया षष्ठचा बाधोऽपि। चेष्टाग्रहण **मनसा पा टलिपुत्रं गच्छति** इत्यादौ चतुर्थीनिवृत्त्यर्थम्। **आगमयते माण-वक·** कालं हरति न त्वरते इत्यर्थ· 'आगमेः क्षमायामात्मनेपदं वक्तव्यम्' इति ण्यन्नात्तङ्। क्षमा उपेक्षा कालहरणमिति वृत्तिः। ण्यन्त एवायमत्रार्थे वर्तत इति तस्यैवोदाहरणम्॥

**सङ्गच्छते**—'समोगम्यृच्छि' इत्यकर्मकात् सङ्गमेः तङ्। **सञ्जग्मे। सञ्जग्माते। 'गमहन'** इत्युपधालोप·। **सङ्गन्ता। सङ्गंस्यते। सङ्गच्छताम्। समगच्छत। सङ्गच्छेत।** आशिषि—**सङ्गंसीष्ट, सङ्गसीष्ट।** लुडि—**समगत, समगंस्त। समगंसा-ताम्**—'वा गमः' इति झलाद्योर्लिङ्सिचोः आत्मनेपदविषययोः वा किच्वे तदाश्रयः 'अनुदात्तोपदेश' इत्यनुनासिकलोप·। झलि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिज्लोप·। न चास्मात्पूर्वं 'अतो लोपः' इत्यल्लोपस्य प्रसङ्गः, आर्धधातुकोपदेशे अनकारान्तत्वात्, 'असि-द्धवदत्र' इत्यनुनासिकलोपस्यासिद्धत्वात् वा सर्वत्र गमेरात्मनेप-देन समानपदस्थत्वात् सकारादेरिडभाव·। **सञ्जिगंसते**—अत्र 'अज्झन' इति दीर्घो न भवति, अत्रादेशस्य गमेर्ग्रहणात्। यत्तु तराङ्ण्यां दीर्घप्रदर्शन तत् 'गमेर्दीर्घे इङ्ग्रहणम्। अग्रहणे ह्यनादेशस्यापि दीर्घत्वप्रसङ्गः' इति वार्तिकविरोधादुपेक्ष्यम्॥

**गम्यम्**—'पोरदुपधात्' इति यत् ॥

**सुतङ्गमो** नाम कश्चित्—'गमश्च' इति सुप्युपपदे संज्ञायां खच्, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य' इति पूर्वपदस्य मुमागमः ॥

सुतङ्गमेन निर्वृत्तः **सौतङ्गमिः**—'वुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्ण्यय-फक्फिञ्ञ्यककठकोरीहणकुशाश्वर्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसंकाश-बलपक्षकर्णसुतङ्गमप्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः' इति यथासङ्ख्यात् खः सुतङ्गमादेश्चातुरर्थिकः इञ् ॥

**अन्तगः**—'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति अन्तादिषु कर्मसूपपदेषु गमेर्डः । डित्त्वसामर्थ्यादभत्वेऽपि टिलोपः । एवं **अत्यन्तगः** इत्युदाहार्यम् ॥

**सर्वत्रगः** । **पन्नगः**—'सर्वत्रपन्नयोरुपसंख्यानम्' इति डः । उरसा गच्छतीति **उरगः**—'उरसो लोपश्च' इति डप्रत्ययः, उरसः सलोपश्च । सुखेन गच्छन्त्यस्मिन् **सुगः** । एवं **दुर्गः** । 'सुदुरोरधिकरणे' इति डः । अत्र न्यासे वासरूपविधिना पक्षे ल्युडप्युक्तः । तदयुक्तम् । 'क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वासरूपविधेः प्रतिषेधः' इत्युक्तत्वात् अधिकरणादन्यत्र **सुगमः** इति खलेव भवति । निर्गच्छन्त्यत्रेति **निर्गः** देशः—'निसो देशे' इति डः । देशादन्यत्र **निर्गमन**मिति ल्युडुच्यते । **ग्रामगः**—'डोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति डः । मितं गच्छतीति **मितङ्गमः** हस्ती—'खच्प्रकरणे गमेस्सुप्युपसङ्ख्यानम्' इति खच् । **विहङ्गमः**—'विहायसो विह च' इति खचि विहायसश्च विहादेशे मुमागमः । **विहङ्गः**—'खच्च डिद्वा वक्तव्यः' इति खचो वा डित्त्वाट्टिलोपः ।

**विहगः**—'डे च विहायसो विहादेशः' इति विहादेशः । अस्मादेवानुवादात् 'डोऽन्यत्राप दृश्यते' इति वा डः ॥

**गामुकः**—'लषपतपद' इत्यादिना उकञ् ॥

**गत्वरः**—'गत्वरश्च' इति क्वरपि अनुनासिकलोपो निपात्यते । **गत्वरी**—'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप् ॥

**जग्मिः**—'भाषायां धाञ्क्रुमृगमि' इति किकिनोरन्यतरस्मिन् उपधालोपः । लिड्वद्भावात् द्विर्वचनम् ॥

**जगत्**—'द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च' इति क्वौ द्विर्वचनम् । 'गमक्वौ' इत्यनुनासिकलोपः । स्त्रिया 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगत्सरसा शतृवच्च' इति शतृवद्भावात् ङीप्, उत्सादिषु जगतीति पाठाद्वा । जगत्या अपत्यादि **जागत**—'उत्सादिभ्योऽञ्' इति प्राग्दीव्यतीयोऽञ्प्रत्ययः । जगत इदं **जागतम्** इत्यत्र अचामदेरचो वृद्ध्या उपधालक्षणा वृद्धिर्बाध्यते इति वृत्तिः ॥

जगत्येव **जागतं छन्द**—'छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसके स्वार्थ उपसङ्ख्यानम्' इत्यञ् ॥

**अध्वगत् । कलिङ्गगत्**—'अन्येभ्योपि दृश्यते' इति क्विपि अनुनासिकलोपः ॥

अग्रे गच्छतीति **अग्रेगू**—'ऊङ् च गमादीना' इति क्वौ अनुनासिकलोपे अकारस्योकारः । अयं च धातोरूकार इति **अग्रेग्वौ** इत्यादावुवङादेशे प्राप्ते 'ओस्सुपि' इति यण् । 'तत्पुरुषे कति' इत्यलुक् ॥

**गमी**—'गमेरिनिः' इति इनिः 'भविष्यति गम्यादयः' इति भविष्यदर्थोऽयम् । **आगामी**—'आडि च णित्' इतीनिः णित्त्वात् वृद्धिः, अयमपि गम्यादिपाठात् भविष्यत्कालः । अयं बाहुलकात् केवलादपीति—**गामीत्यपि** भवति । **ग्रामगमी, ग्रामगामी**—'श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्' इति द्वितीयातत्पुरुषः । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययो' इति कृद्योगलक्षणां षष्ठी बाधित्वा एतयोर्योगे द्वितीया ॥

**गमः**—'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इति भावे अकर्तरि च कारके अप्रत्ययः । एकाहेन गम्यत इति **एकाहगमः**—'अध्वस्यैकाहगमः' इति निपातनादप्, अन्यथाऽत्र 'परिमाणाख्याया सर्वेभ्यः' इति परिमाणस्य गम्यमानत्वात् घञ् स्यात । अत्र च सर्वग्रहणमजपोर्बाधनार्थमित्युक्तम् । **निगमः**—गोचरादिना कारणाधिकरणयोर्घः ॥

**गत्वा**—'अनुदात्तोपदेश' इत्यादिना अनुनासिकलोपः । **आगम्य—आगत्य**—'वा ल्यपि' इति अनुनासिकलोपविकल्पः ॥

**गतम्**—'क्तोऽधिकरणे च' इति कर्तृकर्मभावाधिकरणेषु क्तः । **ग्रामगतः**—'द्वितीयाश्रितातीतपतितगत' इति तत्पुरुषः । गतं च तत्प्रत्यागतं च **गतप्रत्यागतम्**—'कृतापकृतादीनामुपसङ्ख्यानम्' इति तत्पुरुषः । गतमेव तत्कालं भूयः* प्रत्यागमनेन गतप्रत्यागतमुच्यते ॥

**गन्तुः गन्ता**—'सितनिगमि' इत्यादिना तुन् ॥

**गान्त्रम् चर्म**—'अस्त्रिगमिनमिहनिविष्यशां वृद्धिश्च' इति ष्ट्रनि

*तत्कालभुवा.

वृद्धिः । **गन्त्री**—कम्बलवाह्यं शकटम् । बाहुलकात् वृद्ध्यभावः । 'तृन्तृचौ' इत्यादिना संज्ञायां तृन्तृचोरन्यतरो वा । कम्बलः सास्ना तद्योगात्मत्वर्थीयेनेनिना कम्बलिनो बलीवर्दा उच्यन्ते । तथा च रभसः—प्रावारेण्युत्तरासङ्गे सास्नायामपि कम्बलः । इति ॥ **गात्रम्**—'गमेराच' इति त्रनि मकाररयाकारः ॥

**सुगात्री, सुगात्रा**—'स्त्राङ्गाच्चोपसर्जनात्' इत्यत्र 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्य इति वक्तव्यं' इति पक्षे ङीप् ॥

**गौः**—'गमेर्डो' इति डोप्रत्ययः डित्त्वात् टिलोपः । 'गोतोणित्' इति सर्वनामस्थानस्य णित्त्वाद्वृद्धिः । अम्शसोस्तु—'औतोऽम्शसोः' इति पूर्वपरयोराकारे—**गाम्** । **गाः** इति—'तस्माच्छसोनः पुंसि' इत्यत्र तच्छब्देन प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घस्य परामर्शनादिह नत्वं न भवति । ङसिङसोस्तु—'ङसिङसोश्च' इति ङसिङसोरेङश्च पूर्वरूपे—**गोः** इति ॥

गवां समूहो **गव्या** । **गोत्रा**—'खलगोरथात्' इति यः । 'इनित्रकट्यचश्च' इति यथासङ्ख्यात् त्रः । स्वभावात् स्त्रीलिङ्गौ । यकारादौ प्रत्यये 'वान्तोयि' इत्यवादेशः ॥

गोत्राऽस्यास्तीति **गौत्रिकः**—'एकगोपूर्वात् ठञ्नित्यम्' इति मत्वर्थे ठञ् ॥

**गोमी**—'ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः' इति मत्वर्थे मिनिप्रत्यये निपात्यते ॥

गोर्विकारो अवयवो वा **गव्यम्**—'गोपयसोर्यत्' इति षष्ठ्यन्तान् विकारावयवयोर्यत् ॥

गोः पुरीषम्—**गोमयम्**—'गोश्च पुरीषे' इति मयट् ॥

गवे हितं **गव्यम्**—'उगवादिभ्यो यत्' इति प्राक्क्रीतीयो यत् ॥

गोर्निमित्तं संयोग उत्पातो वा **गव्यः**—प्राणिना शुभस्य अशुभस्य वा सूचको महाभूतविकारः उत्पातः । 'गोद्व्यचो सङ्ख्यापरिमाणाश्वादेर्यत्' इति यत् । गोशब्दात्सङ्ख्यापरिमाणाश्वादिवर्जितात् द्व्यचश्च तस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वा इति विषये यदिति सूत्रार्थः ॥

गोरिदं **गव्यम्**—'सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसङ्गे यद्वक्तव्यः' इति प्राग्दीव्यतीये चार्थे यत् । एवं च तत्रतत्रार्थे सूत्रेण यद्विधानं प्रपञ्चार्थं भवति ॥

दाराश्च गावश्च **दारगवम्**—द्वन्द्वात् 'अचतुर' इत्यादावचि निपातितम् ॥

**अनुगवं** शकटम् । गौर्यथा आयतः तथाऽऽयत इत्यर्थः । 'अनुगवमायामे' इति अनुगुशब्दादचि निपात्यते । इह आयामशब्द अर्शआद्यजन्तः तद्वतिवर्तते । अनुगुशब्दश्चायं 'यस्य चायामः' इत्यव्ययीभावः । अनुर्यस्यायामवाची तेन अन्यस्यायामवतो लक्षणभूतेन समस्यत इति सूत्रार्थः । इह च गोरायामः शकटायामस्य लक्षणं भवति ॥

**आगवीनः** । गवा भृतो य आगतस्य प्रत्यर्पणात्कर्म करोति । एवमुच्यते । अगवीन इति आगुशब्दात् कर्मकारिणि खप्र-

त्यर्थे निपात्यते । आगुशब्दश्च, 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' इति इह आङो मर्यादावचनस्य पञ्चम्यन्तेन गोशब्देन गो प्रत्यर्पणे वर्तमानेनाव्ययीभावे पञ्चमी च 'आङ्मर्यादावचने' इत्याङः कर्म प्रवचनीयत्वे तद्युक्तात् 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति विधीयते ॥

गोः पश्चात् **अनुगु**—'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना पश्चादर्थेऽव्ययी भावः ॥

अनुगु अलं पर्याप्तं गन्तु शीलमस्य **अनुगवीनो** गोपालकः—'अनुग्वलं गामी' इति क्रियाविशेषणात् द्वितीयान्तात् अलङ्गामीत्यर्थे खः ॥

तिष्ठन्ति गावो यस्मिन्काले दोहना*य स कालस्तिष्ठद्गु । वहन्ति आगच्छन्ति गावो दोहनाय यस्मिन्सकालः **वहद्गु** । आयन्ति यस्मिन् काले दोहनाय सकालः **आयतीगवम्** । 'तिष्ठद्गु प्रभृतीनि च' इत्यव्ययीभावे निपात्यन्ते ॥

**परमगवः**—'सन्महत्परम' इति तत्पुरुषे, 'गोऽरतद्धितलुकि' इति समासान्तः टच् । टित्त्वात् स्त्रियाम्—**परमगवी** । 'अतद्धितलुकि' इति वचनात् पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः **पञ्चगुः** पटः इत्यत्र टज्न भवति । अत्र हि—'आर्हादगोपुच्छसङ्ख्यापरिमाणाट्ठक्' इति गोपुच्छादिव्यतिरिक्तात् प्रातिपादिकात् यथायथं समर्थविभक्तियुक्तात् आर्हीयेष्वर्थेषु विहितस्य ठकः 'अध्यर्धपूर्वाद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' इति लुक्क्रियते । द्विगुत्वं च 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे' इति समासे 'सङ्ख्यापूर्वोद्विगुः' इति द्विगोः, 'द्विगुश्च' इति तत्पुरुषत्वात् अस्ति टचः प्रसङ्गः ॥

*दोहाय.

**पञ्चगवधनः**—इत्यत्र पञ्च गावो धनमस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ 'तद्धितार्थोत्तरपद' इति पूर्वयोः समासे सङ्ख्यापूर्वत्वेन द्विगुत्वात् तत्पुरुषत्वे टच्। पञ्चाना गवां समाहारः **पञ्चगवम्**—'तद्धितार्थ' इत्यादिना समासे पूर्ववत् द्विगुतत्पुरुषयोः टच्। अत्र समासार्थादुत्तरपदात् अकृत एव समासे, समासान्ता, इति अकारान्तोत्तरपदद्विगुत्वात्, 'अकारान्तोरपदो द्विगु· स्त्रियामिष्यते' इति प्राप्तस्य स्त्रीत्वस्य 'पात्रादिभ्यः प्रतिषेधः' इति निषेधः॥

चित्रा गावो यस्य **चित्रगुः**—'गो स्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति उपसर्जन गोशब्दान्तप्रातिपदिकत्वात् ह्रस्वः। अत्र 'गोः पूर्वणित्वात्वस्वरेषु' इति स्थानिवत्त्वनिषेधात् न 'गोतः' इति णित्त्वम्। ननु—अतत्कालव्यावृत्यर्थात् 'गोतः' इति तपरकरणादेव न भविष्यति। अस्त्वत्र परिहारः। **चित्रगो, चित्रगव** इत्यत्र तु 'सम्बुद्धौ च' 'जसि च' इति गुणे, अविकृतं गोरूपमिति स्याण्णित्त्वम्। नन्वेवमत्राप्येनेन निषेधेन स्थानिवत्त्वकृतमेव णित्त्वं निवार्यताम्, न तु स्वाश्रयमपीति गोरूपस्याव्याहतत्वात् तदाश्रयं णित्वं स्यादेव॥

नैषदोषः। यदस्य गोरूपस्य लाक्षणिकत्वात् लक्षणप्रतिषदोक्तपरिभाषया तदपि न भविष्यति। वृत्तौ तु 'गोतः' इति षष्ठचन्तमाश्रित गोशब्दार्थसम्बन्धि सर्वनामस्थानं णिदिति व्याख्यातमत्र मते न कुत्रापि णित्त्वप्रसङ्गः। यदत्र सर्वनामस्थानं तदन्यपदार्थस्य सम्बन्धिनो गोशब्दार्थस्य तपरकरणं त्वोकारान्तोपलक्षणार्थम्, वर्णनिर्देशेषु प्रसिद्धत्वात्। तेन द्योशब्दस्यापि णित्कार्यं भवति। अपरे तु ओत इति पठन्तीति चोक्तं वृत्तौ। **गो अग्रम्**—सर्वत्रविभाषा गोः' इति छन्दसि भाषा-

यां चातिपरे वा प्रकृति भावः, अन्यदा—'एङः पदान्तादति' इति पूर्वत्वम् ॥

**गवाग्रम्**—'अवड् स्फोटायनस्य' इत्यवडादेशः । अयं च व्यवस्थितविभाषात्वात् **गवाक्षम्** इत्यत्र नित्यः **चित्रग्वग्रम्** इत्यत्र । 'गो पूर्व' इतित्थानिवत्त्वनिषेधान्न प्रकृतिभावादि ॥

**गवाश्वम्** । **गवाविकम्** । **गवेडकम्** । अत्र 'गवाश्वप्रभृतीनि च' इति समाहार एव द्वन्द्वः । अयं च नियतो 'गवाश्वप्रभृतिषु यथोच्चारितं द्वन्द्ववृत्तम्' इति वृत्तावुक्तत्वात् अवडभाव इति । 'विभाषावृक्ष' इत्यादिना पशुद्वन्द्वं विभाषैव तेन गोश्व गोश्वा इत्यादि ॥

**गङ्गा**—'गन्गम्यद्योः' इति गन्प्रत्ययः ॥

गङ्गाया अपत्यं **गाङ्गेयः**—'शुभ्रादिभ्यश्च' इत्यत्र चकारेण आकृतिगणत्वद्योतनाड्ढक् । तिकादिपाठात् अपत्येऽपि फिनि गाङ्गायनिः इत्यपि भवति ॥

**सर्पति** । **ससर्प** । **ससृपतुः** । **ससर्पिथ** । **ससृपिव** । क्रादिनियमादिट् ॥

**सृप्ता, सर्प्ता** । **सर्प्स्यति, स्रप्स्यति**—'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इति झलादावार्किति प्रत्यये पक्षे मित्त्वादन्त्यादचः परे अमागमे यणादेशः, अन्यदा गुणः ॥

**सर्पतु** । **असर्पत्** । **सर्पेत्** । आशिषि—**सृप्यात्** । **असृपत्** । **असृपताम्**—लृदित्वादङ् ॥

**सिसृप्सति**—'हलन्ताच्च' इति सतः कित्त्वान्न गुणः, नाप्यमागमः ॥

**सरीसृप्यते**—'रीगृत्वतः' इति रीक् । **सरिसृपीति, सरीसर्ति, सरीस्रप्ति**—प्रकृतिग्रहणन्यायेन 'अनुदात्त' इति अमागमः ॥

**सरीसृपः**—पचाद्यचि, 'यडोऽचि च' इति यडो लुकि 'न धातुलोपः' इति लघूपधगुणाभावः । यङ्लुगन्तात् इगुपधलक्षणः को वा ॥

**सर्पयति । अससर्पत्, असीसृपत्**—'उरृत्' वा ॥

**सृप्यः**—'ऋदुपधाच्च' इति क्यप् ॥

**सर्पः**—पचादित्वादच् ॥

**स्रप्ता, सृप्तः** । पीठेन स्रप्तुं शीलमस्येति **पीठसर्पी**—णिनिः 'सुप्यजातौ' इति ॥

पीठसर्पिण इमे **पैठसर्पाः**—'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावं बाधित्वा 'नान्तस्य टिलोपि पीठसर्पि' इत्यादिना टिलोपः ॥

**सर्पिः**—'अर्चिशुचिहुसृपिच्छादिछर्दिभ्य इस्' इतीस्प्रत्ययः ॥

**प्रियसर्पिष्कः**—उरःप्रभृतित्वान्नित्यं कप् । 'इण षः' इति अपदाद्योः कुप्वोः विसर्जनीयस्य षत्वम् ॥

**सृप्रः**—'ऋज्रेन्द्र' इत्यादिना रक् ॥

## यम उपरमे ॥ १६९ ॥

अत्र मैत्रेयः उदित्वमस्य केचिदिच्छन्तीति । **यच्छति**—'इषुगमियमाम्' इति च्छः शिति ॥

**ययाम । येमतुः । ययन्थ, येमिथ । यन्ता । यंस्यति । यच्छतु । अयच्छत् । यच्छेत् ।** आशिषि—**यम्यात्** ॥

**अयंसीत्**—'यमरम' इति सागिटौ ॥

**यियंसति । यंयम्यते । यंयन्ति । यंयन्नः** ॥

**यमयति । अयीयमत्,** भोजयतीत्यर्थः । अमन्तत्वात् मित्वम् । अस्य च 'यमोऽपरिवेषणे' इति परिवेषणादन्यत्र मित्वनिषेधात् ॥

**आयामयते, आयामयतीति** भवति—'न पादमि' इत्यत्र, आयामग्रहणेन 'अणावकर्मकात्' इति कर्त्रभिप्रायप्राप्तस्य परस्मैपदस्य निषेधः इति यथायोगमत्रात्मनेपदपरस्मैपदे भवतः ॥

**आयच्छते** दीर्घो भवति, व्याप्रियते इति वा अर्थः । **आयच्छते** स्वरूपाणि द्राघयति व्यापारयति वा इत्यर्थः । 'आडो-यमहनः' इति 'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' इति अकर्मकात्स्वाङ्गकर्मकाच्चाङ्पूर्वादस्मात्तङ् । इह स्वमङ्गं स्वाङ्गं न त्वद्रव-न्मूर्तिमदित्यादिना लक्षितं पारिभाषिकमिति देवदत्तस्य पाणिं आयच्छति, इत्यत्र न भवति ॥

**उपयच्छते** कन्यां परिणयतीत्यर्थः—'उपाद्यमः स्वकरणे' इति तङ् । अत्र भाष्यम्—इह कस्मान्न भवति स्वं शाटकं तमु

पयच्छति । अयं यदा स्वं करोति तदा भवितव्यमेव । अत्र वृत्तिकारशिवस्वामिभ्यामिदं भाष्योक्तं अस्वस्य स्वत्वेन करणं प्रसिद्धिवशात् पाणिग्रहणविशेष उपसंहृतम् । कैयटे तु निष्पादनलक्षणोऽत्र करोत्यर्थो गृह्यत इति सामान्येनापि वार्तिककारेण पाणिग्रहणविशिष्टं स्वकरणं शिवस्वामिजयादित्यावूचतु', प्रसिद्धत्वात् । उपायंस्तं नतीः इत्यादिप्रयोगस्तु साधर्म्यात् । भाष्यकारस्तु स्वकरणमात्रे विशिष्टे स्थित इत्युक्तम् । भट्टिकाव्ये च 'शास्त्राणि उपायंस्त नित्वराणि इति' सामान्येन प्रयुज्यते ॥

**संयच्छते** व्रीहीन् । **उपयच्छते** भारम् । **आयच्छते** वस्त्रम् । 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' इति समादिभ्यो यमेस्तङ् । यदा तु कर्त्रभिप्रायत्वमुपपदेन प्रतीयते तदा 'विभाषोपपदेन प्रतीयमाने' इति **स्वान् व्रीहीन् संयच्छति** इत्यपि । इह आडोऽग्रहणमस्वाङ्गकर्मकार्थम् । स्वाङ्गकर्मकात्, 'आडो यम हनः' इत्येव सिद्धम् । 'अग्रन्थे' इति वचनात्, **उद्यच्छति चिकित्सां वैद्यः** इति अत्र परस्मैपदमेव । विचिकित्सामधिगन्तुमुद्यमं करोतीत्यर्थः ॥

यदाऽयं यमिः गन्धने वर्तते गन्धनं सूचनम् । परेण प्रच्छाद्यमानस्य आविष्करण तदा—'यमो गन्धने' इत्यात्मनेपदम् ॥

परस्मैपदस्य सिचः किच्त्वादनुनासिकलोपः—**उदायत । उदायसाताम्** । इत्यादि । झलि सिजोपः ॥

उपयमनार्थत्वे तु 'विभाषोपयमने' इति तङ् । तङ्परस्य यमे. सिचः किच्त्वविकल्पनात्, **उपायत कन्याम्, उपायंस्त कन्याम्** इत्युभयं भवति । उपयमनमिह दारकर्म ॥

**यम्यम्**—'गदमद' इत्यादिना यत् उपसृष्टात्तु ण्यति—**वनियाम्याम्** इति । **त्वया नियम्या** इति प्रयोगः नियम-

शब्दात् तत्करोतीति णौ यति द्रष्टव्यः । धातोर्णौ 'यमोऽपरिवेषणे' इति मित्वनिषेधात् वृद्ध्या भाव्यम् ॥

**वाचंयम**---'वाचि यमो व्रते' इति खच् । 'वाचयमपुरन्दरौ च' इति निपातनादलुक् ॥

**संयमः, संयामः**—'यमस्समुपनिविषु च' इति पक्षे अप् । तद्भावे घञ् । एवं समुपनिविभ्योप्युदाहार्यम् ॥

**संयत्**—सम्पदादित्वात्, 'अन्येभ्योपि दृश्यते' इति वा क्विपि 'गमः क्वौ' इत्यत्र 'गमादीनामिति वक्तव्यम्' इत्युक्तत्वात् अनुनासिकलोपे तुक् ॥

यच्छतीति **यमः**—अच् ॥

**याम्यम्**—प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु 'यमाच्चेतिवक्तव्यम्' इति ण्यः ॥

**यमुना**—'अर्जियमिशीङ्भ्यश्च' इति उनन्प्रत्ययः ॥

**यन्त्रम्**—'गुधृवि' इत्यादिना त्रः प्रत्ययः ॥

## तप सन्तापे ॥ ९७० ॥

तपति । तताप । तेपिथ, ततप्थ । तप्ता । तप्स्यति । तपतु । अतपत् । तपेत् । आशिषि—तप्यात् । अताप्सीत् । अतासाम्—'झलो झलि' इति सिज्लोपः ॥

तितप्सति । तातप्यते । तापयति । अतीतपत् ॥

**चोरं सन्तापयति** इत्यत्र—'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः' इति कर्मणि षष्ठी न भवति तत्र 'अज्वरिसन्तापेः' इति निषेधात् ॥

**उत्तपते । वितपते**—'उद्विभ्यां तप.' इत्यकर्मकात्स्वाङ्गकर्मकाच्च तङ् । अकर्मकत्वं भासनार्थत्वेन । यदायमस्वाङ्गकर्मक तदा **उत्तपति सुवर्णं** इत्येव भवति । **तप्यते तपस्तापसः । अनश्च तपस्तापसः**—'तपस्तप कर्मकस्यैव' इति तप कर्मकस्य तपे कर्तुः कर्मवद्भावाद्यगात्मनेपदे । अत्र तपेरर्जनमर्थ इति तापसस्तत्र कर्ता । यत्रासौ कर्म **उपवासादीनि तपांसि तापसं सन्तपन्तीति** तत्र तपिः दुःखानुभवार्थ इति कर्मणस्तापसस्य व्यापारो दुःखानुभवनमिति क्रियाभेदाद्विध्यर्थमेतत् । एवकारस्सूत्रे सर्ववाक्यानासावधारणत्वादर्थप्राप्तस्यैव वधारणस्यानुवादक. । अत्र 'तपोनुतापे च' इति चकारेण कर्मकर्तरि चिणो निषेधात् सिच् । अत्रानुतापग्रहणस्याकर्मकर्त्रर्थत्वात् **अन्ववातप्त पापेन कर्मणा** इत्यत्रापि चिण्णभवति । अनुतापादन्यत्र **उदतापि सुवर्ण सुवर्णकारेण** इति भवितव्यमेव चिणा ॥

**तप्यम्**—'पोरदुपधात्' इति यत् ॥

**ललाटन्तप आदिखः**—'असूर्यललाटयोः दृशितपोः' इति यथासङ्ख्यात् ललाटे कर्मण्युपपदे तपेः खशि मुम् । **शत्रुन्तप**—'संज्ञायां भृतृवृजि' इत्यादिना खचि पूर्वपदस्य मुमागम । **द्विषन्तपः । परन्तपः**—'द्विषत्परयोस्तापेः' इति खचि णिलोपे 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्व । द्विषतस्तकारस्य मुमि संयोगान्तलोपः । अत्र 'द्विषत्परयो' इति द्वितकारनिर्देशात्तकारान्त एव द्विषच्छब्द उपपदेऽयं प्रत्यय न तु लिङ्गविशिष्टपरिभाषया द्विषतीशब्द उपपद इति तत्र कर्मण्यणि **द्विषतीताप** इति भवति । तथा तापेरिति ण्यन्तस्य ग्रहणात्केवलादप्यणेव भवति । असंज्ञायां **द्विषत्ताप** इति । संज्ञाया तु 'संज्ञाया भृतृवृजि' त्यादिना खजुक्तः ॥

**तप**—अमुन् ॥

तपश्चरति **तपस्यति**—'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति रोमन्थतपोभ्या कर्मभ्या यथासङ्ख्यं वर्तिचरोरर्थयो क्यडिति क्यङ्। कर्मण इति प्रत्येकसम्बन्धोपेक्षमेकत्वम् । 'तपसः परस्मैपदं च' इति परस्मैपदम् ॥

**तपस्या**—क्यङन्तत्वात् 'अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियामकार॰ ॥

तपश्शीलमस्य **तापस**॰—'छत्रादिभ्यो णः' इति ण॰ । अत्र 'णेऽणकृतं कार्यं भवति' इति प्रागेवोक्त । तेन **तापसी** इत्यत्र ङीप् भवति ॥

**तपस्वी**—'तपस्सहस्राभ्यां विनीनी' इति मत्वर्थे विनिः । अत्रैवार्थे 'अण्च' इत्यणि **तापसः** । **तपस्वी** इत्यत्र 'तसौ मत्वर्थे' तकारान्तं सकारान्तं च मत्वर्थे प्रत्यये भामिति भसंज्ञया आकडारीयया अनवकाशया 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञाया बाधात् 'ससजुषोरु॰' इति रुत्वं न भवति ॥

**ताप**—घञ् ॥

सन्तापाय प्रभवति **सान्तापिको** रोगः—'तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्य॰' इति चतुर्थ्यन्तात् सन्तापशब्दात् प्रभवत्यर्थे ठञ् ॥

**निष्टपति । निष्टप्तम्**—'निसस्तपतावनासेवने' इति षत्वम् । आसेवनं पौनःपुन्यं । ततोन्यदनासेवनम् ॥

अयमैश्वर्ये दिवादौ । दाहे चुरादौ ॥

## त्यज हानौ ॥ ९७१ ॥

त्यजति । तत्याज । तत्यजतुः । तत्यजिथ, तत्यक्थ । तत्यजिव । त्यक्ता । त्यक्ष्यति । त्यजतु । अत्यजत् । त्यजेत् । त्यज्यात् । अत्याक्षीत् । अत्याक्ताम् ॥

तित्यक्षति । तात्यज्यते । तात्यक्ति । त्याजयति । अतित्यजत् ॥

त्यागशीलः **त्यागी**—संपृचादित्वात् घिनुण् । 'चजोः कुघिण्यतोः' इति कुत्वम् । **त्याज्यम्**—इत्यत्र 'ण्यत्प्रतिषेधे त्यजेरुपसंख्यानम्' इति कुत्वाभावः ॥

**त्यद्**—'त्यजियजितनिभ्यो डित्' इत्यदिप्रत्यये डित्वाट्टिलोपः । **स्यः**—'त्यदादीनामः' इति त्यदाद्यर्थनिमित्तविभक्तिनिबन्धनेऽन्त्यस्यात्वे प्ररूपे च त्यदादीनामित्यधिकारे 'तदोस्सस्सावनन्त्ययोः' इति तकारस्य सकारः । **त्यौ त्ये** इत्यादौ सर्वनामकार्यं पूर्ववत् । अत्वादिस्त्यदादिप्राधान्येपीष्यत इति—**परमस्यः** इत्यादि भवति । अप्राधान्ये तु अतित्यत् इत्यादि ॥

त्यस्येदं **त्यदीयम्**—'त्यदादीनि च' इति वृद्धत्वात् 'वृद्धाच्छः' इति छः ॥

त्यस्यापत्यं **त्यादायनिः**—'उदीचां वृद्धादगोत्रात्' इति फिञ् । गात् वृद्धादपत्ये फिञुदीचां मतेन इति सूत्रार्थः ॥

स्यश्च देवदत्तश्च **त्यौ**—'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इति त्यदः शेषः । स च स्यश्च तौ इत्यत्र 'त्यदादीनां यद्यत्परं तच्छिष्यते' इति परस्य तदः शेषः ॥

स्त्रियां 'त्यदादीनामः' इति विभक्तावत्वे टापि 'हल्ङ्याभ्यः' इति सुपो लोपे—स्या इति भवति। सन्निपातपरिभाषया 'न यासयोः' इति निर्देशाल्लिङ्गादनित्यत्वज्ञापनान्न भवति॥

अयं ण्यन्तो द्विकर्मक इति सुधाकरादिमतेन नाथतावुक्तं। दृश्यते च प्रयोगः—'स्याजितैः फलमुत्खातैः' 'धूपोष्मणा स्याजितमार्द्रभावं' इत्यादिः। 'अकथितं च' इत्यत्र गोः पयस्त्यजति गवा पयः त्याजयति इति प्रगुह्यानयोः कैयट-हरदत्तयोः प्रयोज्यस्य कर्मत्वमनभिमतम्॥

## षञ्ज सङ्गे॥ १७२॥

सजति—शपि 'दंशसञ्ज' इत्यनुनासिकलोपः। ससञ्ज। ससञ्जतुः। ससञ्जुः। ससञ्जिथ, ससञ्क्थ। ससञ्जिव। 'असयो-गाल्लिट् कित्' इति कित्त्वनिषेधात् 'अनिदिता' इत्युपधालोपो न भवति॥

सङ्क्ता। सङ्क्ष्यति। सजतु। असजत्। सजेत्। आ-शिषि कित्त्वादुपधालोपे—सज्यात्। असाङ्क्षीत्। असाङ्क्ताम्। 'वदव्रज' इति वृद्धिः। तत्र हल्ग्रहणं हल्समुदायप्रतिपत्त्यर्थ मित्युक्तम्॥

सिसङ्क्षति—'स्तौतिण्योरेव' इत्यषत्वम्। अभिषजति—'उपसर्गात्' इति षत्वम्। अभ्यषजत् इत्यादौ तु 'प्राक्सि-तादड्व्यवायेपि' इतिषत्वम्। अभिषिषङ्क्षति इत्यत्र 'स्तौति-ण्योरेव' इति नियमं बाधित्वा 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य'

इत्यादिना परस्य षत्वम् । पूर्वस्य तु 'उपसर्गात्' इत्यनेनैव सिद्धम् । अङ्गुलौ सङ्गो यस्या. **अङ्गुलिषङ्गा** यवागू—'समासेऽङ्गुलेस्सङ्गः' इति षत्वम् ॥

प्रासङ्गं वहति **प्रासङ्ग्य**—'तद्वहतिरथयुगप्रासङ्गम्' इति द्वितीयान्तात् वहतीत्यर्थे यत् । प्रासङ्गो युगाद्युगम् । **निषङ्गधिः**—'नौ सञ्जेर्घधिन्' इति घधिन्प्रत्ययः । घित्त्वात् कुत्वम् ॥

**सक्थि**—'असिसञ्जिभ्यां क्थिन्' इति क्थिन्, अजादौ विभक्तौ 'इको चि' इति नुमि **सक्थिनी** इत्यादि । तृतीयाद्यजादौ तु 'अस्थिदधिसक्थि' इत्यादिना डित्त्वादन्त्यस्य अनङादेशे 'अल्लोपोऽनः' इत्यल्लोपे **सक्थ्ना** इत्यादि । सप्तम्येकवचने तु अल्लोपस्य 'विभाषा डिश्यो·' इति विकल्पनात् **सक्थ्नि, सक्थनि** इत्युभयं भवति । अङ्गाधिकारे तदन्तविधेरभ्युपगमात् **प्रियसक्थ्ना** इत्यादावप्यनङ् भवति । यदत्र अनङ्विधौ नपुंसकस्येत्यनुवृत्तं तदस्थ्यादीनां विशेषणं नाङ्स्येति **प्रियसक्थ्ना शुना** इत्यादौ लिङ्गान्तरेऽपि भवति । नपुंसकानुवृत्तिस्तु यदृच्छाशब्दानां पुल्लिङ्गानां अस्थ्यादीनां अनङ्मा भूदिति **अस्थर्नाम** कश्चिदित्यादि । नन्वत्र—

अभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः ।
शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्यः शब्देषु न तदुक्तिषु ॥

इति नास्ति प्रसङ्ग इति चेत् तर्हि मन्दधियामनुग्रहायैवानुवृत्तिराश्रिता । अत्रोदाहरणे सक्थिशब्दोऽस्वाङ्गवाची द्रष्टव्यः । स्वाङ्गवाचिनस्तु 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' इति षचा समासान्तेन भाव्यं—**प्रियसक्थ** इति । स्वमङ्गं चेह स्वाङ्गं न तु पारिभाषिकं । **उत्तरसक्थं मृगसक्थं पूर्वसक्थं**—'उत्तरमृगपूर्वाच्च

सक्थ्नः' इति तत्पुरुषे टच् समासान्तः। अत्र चकारेण उपमानादित्यनुवृत्तेः फलकमिव सक्थि **फलकसक्थ** इत्यत्रापि भवति। अस्मादेव ज्ञापकात् असामान्यवचनेनापि सक्थिशब्देन उपमानस्य समासः। न विद्यते सक्थि यस्य **असक्थि, असक्थः**—'नञ्दुस्सुभ्यो हलि सक्थ्योरन्यतरस्याम्' इति वक्ष्यमाणोऽच् समासान्तः। एवं सुदुरोरुदाहार्यम्। एव **सुसक्थ**। गौर्या सक्थीव सक्थि यस्य **गौरिसक्थ्यः**—'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इति षच्। यदा गौर्याः सक्थीति षष्ठीसमासः तदा 'अच्प्रत्यन्ववः' इत्यत्र 'अच्' इति योगविभागात् अनुभयत्र। सुषामादिषु 'गौरिसक्थ्यः संज्ञायाम्' इति पाठात् षत्व पूर्वपदस्य ह्रस्वत्व च॥

## दृशिर् प्रेक्षणे॥ ९७३॥

**पश्यति**—'पाघ्रा' इत्यादिना पश्यादेशः इत्संज्ञकशकारादौ अचि। **ददर्श**। **ददृशतुः**। **ददर्शिथ, ददृष्ठ**। **ददृशिव**। 'विभाषा सृजिदृशोः' इति थलि इडभावपक्षे 'सृजिदृशोः झल्यमकिति' इति अकिति झलादौ अमागमविधानात् अमि थणि व्रश्चादिना षत्वं ष्टुत्वं च। **द्रष्टा**। **द्रक्ष्यति**—षत्वे 'षढोः कसि' इति कत्वम्। **पश्यतु**। **अपश्यत्**। **पश्येत्**। आशिषि—**दृश्यात्**॥

**अदर्शत्**। **अदर्शताम्**। 'इरितो वा' इत्यङि 'ऋदृशोऽङि गुणः' इति गुणः। अडभावे 'न दृशः' इति क्सनिषेधात् सिच्यपि यणादेशे हलन्तलक्षणायां वृद्धौ—**अद्राक्षीत्**॥

दिदृक्षते—'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सन' इति सनन्तात्तङ् । 'हलन्ताच्च' इति सन किच्चात् न गुण, नाप्यमागम । दरीदृश्यते—रीक् । दरीदृशि । दरीदृष्टः । दर्दृशि । दर्दृष्टः । लोडि हेर्धित्वे अमागमे षत्वष्टुत्वजश्त्वेषु—दर्दर्ढि । ददृशानि । आटि 'नाभ्यस्तस्य' इति गुणनिषेध । लडि तिप्सिपो.—अदर्दृक् । 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' इत्यत्र क्विन. कुरिति वक्तव्ये प्रत्ययग्रहणं यस्मात् क्विनस्ति तस्य सर्वत्र पदान्ते कुत्वार्थमिति षत्व बाधित्वा शकारस्यान्तरतम्यात्कुत्वेन खकारे 'वावसाने' इति चर्त्व ककारः ॥

दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम् । अदीदृशत्, अददर्शत्—उरृद्धा । 'दृशेः सर्वत्र' इति प्रयोज्यस्य रूपतर्कस्य कर्मत्वम् । यदाऽयं दृशिः चक्षुस्साधने ज्ञानविशेषे वर्तते तदेदमुपसङ्ख्यानम् । यदा तु ज्ञानमात्रवचनः तदा बुद्ध्यर्थत्वादेव सिद्धम् । तत्र बुद्ध्यर्था ज्ञानसामान्यवचना न तु विशेषवचना इति स्थितम् । यदा तु ण्यन्तादात्मनेपदं तदा 'अभिवादिदृशोरात्मनेपद उपसङ्ख्यानम्' इति प्रयोज्यस्य कर्मत्वविकल्पनात् दर्शयते रूपतर्केण कार्षापणं, रूपतर्कं इत्युभयं भवति । पश्यन्ति भृत्या राजानं । दर्शयते भृत्यान् राजा भृत्यैः इति वा । संपश्यते—'दृशेश्चेति वक्तव्यं' इति संपूर्वात् अकर्मकात् दृशेस्तङ् । संददृशे । संद्रष्टा । संद्रक्ष्यते । संपश्यताम् । समपश्यत । संपश्येत । आशिषि—संद्रक्षीष्ट । समदृष्ट । समदृक्षाताम् । लिङ्सिचोः किच्चात् न गुणः; नाप्यमागमः । झलि सिजूलोपे प्रत्ययलक्षणेन 'षढोः कस्सि' इति कत्वं न भवति, सिजूलोपस्य प्रत्ययलक्षणेऽसिद्धत्वादिति तत्रतत्रोक्तम् । कर्मणि—

दृश्यते । अदर्शि—इत्यादि । स्यादिषु पक्षे चिण्वदिडपीति दर्शिष्यते । द्रक्ष्यते । अदर्शिषाताम् अद्दक्षाताम् दर्शिषीष्ट । द्रक्षीष्ट । दर्शिता द्रष्टेत्युभयं भवति ॥

दृश्यम्—'ऋदुपदाचति' इत्यप् । उत्पश्यः । 'पाघ्राध्माधेट्दृशश्शः' इति उपसृष्टात् कर्तरि शे पश्यादेशः । दर्शनं पश्यः अत्र 'पश्यार्थैः' इति निपातनात् भावे शः । अदर्शनमित्यादिनिर्देशात् ल्युडपि भवति । असूर्यंपश्या राजदाराः । मुसिपरं चैतत् । एवं नाम गुप्ता यदपरिहार्यदर्शनं सूर्यमपि न पश्यन्तीति । 'असूर्यललाटयो.' इति खश् । अत एवासूर्येति निर्देशात् दृशिना नञ्संबन्धेन असमर्थत्वेऽपि समासः ॥

उग्रंपश्यः—'उग्रंपश्य' इत्यादिना क्रियाविशेषणे कर्मण्युग्रशब्द उपपदे खशि निपात्यते । तादृशः । तादृक्—'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' इति त्यदादिषु कर्मसूपपदेषु आलोचनात् चक्षुर्विज्ञानात् अन्यत्र वर्तमानात् दृशेः कञ् प्रत्ययः । चकारात् क्विन् । कञः कित्त्वात् न गुणः । तादृशी—'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप् । तादृक्षः—'क्सश्च वक्तव्यः' इति क्सश्च । 'आसर्वनाम्नः' इति दृग्दृशवतुषु परतः सर्वनाम्नोऽन्त्यस्याकारः । 'दृक्षे चेति वक्तव्यं' इति चाकारः । सदृक् । सदृशः । सदृक्षः—'दृग्दृशवतुषु' इति समानस्य सभावः । 'दृक्षे चेति वक्तव्यं' इति दृक्षे च सभावः । अत एव दृगादिषु सभाववचनात् 'समानान्ययोश्च' इति वक्तव्याद्वा कञ्क्विन्क्साः समानान्ययोरपि उपपदयोर्भवन्तीति । सदृशी इत्यत्र पूर्ववत् ङीप् भवति । परलोकदृश्वा—'दृशेः क्रनिप्' इति कर्मण्युपपदे भूते क्रनिप् । स्त्रियां 'वनो र च'

इति ङीब्रफयोः **परलोकदृश्वरी** । **सुदर्शनः** । **दुर्दर्शनः**—'भाषायां शासियुधिदृशेधृषिमृषिभ्यो युज्वक्तव्य' इति खलोऽपवादो युच् ॥

**कन्यादर्शं वरयति** । यां या कन्या पश्यति ता तां वरयतीत्यर्थः । 'कर्मणि दृशिविदोस्साकल्ये' इति कर्मण्युपपदेऽस्मात् साकल्ये गम्ये णमुल् ॥

**पशुः**—'अर्जिदृशी' इत्युप्रत्ययः पशादेशश्च । यदाऽयमस्त्ववचनस्तदा चादित्वान्निपातः यदा 'लोधं नयन्ति पशु मन्यमनाः'* इति । पशु सम्यगिति[1] ह्यत्रार्थः । **दर्शतः**—'भृदृशी' इत्यादिनाऽतच् । **दृक्** । संपदादित्वात् क्विप् । 'क्तिनपीष्यते' इति क्तिनि **दृष्टिः** ॥

## दंश दशने ॥ ९७४ ॥

दशनं दंष्ट्राव्यापारः । अत एव निर्देशादनुनासिकलोप इति स्वामी । **दशति** । 'दंशसञ्ज' इत्यनुनासिकलोपश्शपि । **ददंश** । **ददंशतुः** । **ददंशिथ** । **ददंष्ट** । **ददंशिव** । **दंष्टा** । **दङ्क्ष्यति** । **दशतु** । **अदशत्** । **दशेत्** । **दश्यात्**—'किदाशिषि' इति यासुटः कित्त्वादनुनासिकलोपः । **अदाङ्क्षीत्** । **अदांष्टाम्**—'वदव्रज' इति वृद्धिः । **दिदङ्क्षति** । **दन्दश्यते**—'लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यो भावगर्हायां' इति यङ् भावगर्हायाम् । जपजभदहदशेत्यभ्यासस्य नुक् । **दन्दशीति** । **दन्दष्टि** । **दन्दष्टः** । यङ्विधौ नुग्विधौ च 'दश' इति

[1] सममिति.

कृतनलोपस्य निर्देशात् यङ्लुकि अक्डित्यपि न लोपो नुक् च भवति । दशयति । अददंशत् । दन्दशूकः । 'यजजपदशां यडः' इति यडन्तादूकप्रत्यये 'अतो लोपः' । 'यस्य हलः' इत्यल्लोपयलोपौ ॥

दंष्ट्रा—'दाम्नीशसयुयुज' इत्यादिना ष्ट्रन् । अजादिषु दर्शनात् टाप् । अत्रैव पाठात् नलोपाभावश्च । ष्ट्रनि 'दश' इति नलोपनिर्देशस्तु करणे ल्युडर्थः—दशन इति । दंष्ट्री—'व्रीह्यादिभ्यश्च' इति मत्वर्थीय इनि । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेन उपदंशं इति वा । 'उपदंशस्तृतीयाया' इति णमुल् । 'तृतीयाप्रभृतीनि' इति समासविकल्पः । वासरूपविधिना क्त्वाऽपि भवति । मूलकेनोपदंश्य इति । उक्तं च—'सर्वत्रैवात्र प्रकरणे क्रियाभेदे सति वासरूपविधिना क्त्वाऽपि भवति' इति ननु मूलकोपदंशमित्यत्र मूलकस्य भुजिनैवान्वयो नोपदंशिना । न ह्यत्र मूलकेन करणेनान्य उपदंश्य भुङ्क्त इत्यर्थः । तेन तृतीयान्तस्योपदंशिना सामर्थ्याभावात् उपपदत्वं नेति कथं प्रत्ययः । वचनं च दशनोपदंशं भुङ्क्ते इत्यत्र सावकाशं—उच्यते । यद्यत्रैव स्यात् करण इत्येव ब्रूयात् । तृतीयायामिति वचनात्तु सर्वत्रापि भविष्यति । तद्धि तृतीयान्तस्योपदंशिना आर्थेऽप्यन्वये यथा स्यादिति । अस्ति चात्रार्थोऽन्वयः, कर्मापेक्षस्योपदंशेः सन्निहितेन मूलकेन संबन्धात् ॥

## कृप विलेखने ॥ १७५ ॥

विलेखनमिहाकर्षणम् । तथा च पुरुषकारे—कर्षतिस्त्वाकर्षणे

प्रसिद्ध इति । द्विकर्मकोऽयं—कर्षति शाखां ग्रामम् । चकर्ष । चकृषतुः । चकर्षिथ । चकृषिव । क्रष्टा । कर्ष्टा—'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य' इत्यमागमविकल्पः । कर्क्ष्यति । क्रक्ष्यति । कर्षतु । अकर्षत् । कर्षेत् । कृष्यात् । अकृक्षत् । अकृक्षताम्—'शल इगुपध' इति क्सः । यदा 'स्पृशमृशकृषतृपदृपां सिज्वा' इति सिच् तदा पूर्ववदमागमविकल्पे हलन्तलक्षणायां वृद्धौ अकार्क्षीत् । अकार्ष्टाम् । अक्राक्षीत् । अक्राष्टां इत्यादि । चिकृक्षति—'हलन्ताच्च' इति सनः किच्चान्न गुणो नाप्यमागमः । चरीकृष्यते । चरीकृषीति चरिकर्षिष्टि । चरिक्रक्षिष्टि । चरीकृष्टः । चरिक्रष्टः इत्यादि । लोटि हेर्धित्वे ष्टुत्वजश्त्वयोरमागमपक्षे चरिक्रद्धि अन्यदा चरीकृद्धि । लिडि तिप्सिपोः हलन्त्यादिलोपे च अचरीकर्ट् 'रात्सस्य' इति । नियमान्न संयोगान्तलोपः । अमागपक्षे अचरीक्रट् । एवं वचनान्तरेषु सर्वेषु लकारेषु रुक्रीकोश्रोदाहार्यम् । कर्षयति शाखां ग्रामं देवदत्तं यज्ञदत्तः । अचीकृषत् । अचकर्षत् । 'उरृद्वा' । अत्र कृषेः प्रापणार्थत्वेऽपि अस्ति फलतया गतिप्रतीतिरिति गत्यर्थत्वात् गतिबुद्धीति प्रयोज्यस्य कर्मत्वम् । अत्रैवाणिग्रहणमुपसर्जनीभूतयाऽपि गत्या तदर्थत्वे लिङ्गम् । अन्यथा ण्यन्तस्य गमनार्थ इति किमणिग्रहणेन । अत एव तत्र नीवह्योः प्रतिषेधः कृतः । कर्मणि लादयो नयत्यादिवन्नेयाः ॥

कृष्यम्—'ऋदुपधाच्च' इति क्यप् । कर्षतीति कृषः—इगुपधलक्षणः कः ॥

**पाण्युपकर्ष पयः पिवति** पाणिना उपकृष्य, पाणावुपकृष्य वा पयः पिबतीत्यर्थः । 'सप्तम्यां चोपपीथरुधकर्ष' इति सप्त-

म्यन्ते चशब्दात् तृतीयान्ते च उपपदे उपपूर्वात् अस्मात् णमुल् तृतीयाप्रभृतित्वात् समासविकल्पनात् **पाणावुपकर्षम्**। **पाणिनोपकर्षमित्यपि** भवति। क्रियाभेदे वामरूपेण क्त्वाऽपि भवतीति प्रागेवोक्तम्। अत्र णमुल्विधावुपोपसर्गग्रहणं पीडेरेव विशेषणमिति भाववृत्तौ। भट्टिकारस्त्वतन्त्रं मन्यते। यदाह—धनुर्राभिरसह्यमुष्टिपीडं दधान इति। इदं तावत् साहसमात्रं, यदाचार्येण प्रयुक्तस्यातन्त्रत्वाङ्गीकरणं यदपि पीडिनैव संबन्धकथनं तदपि न न्याय्यं बह्वृक्तस्यास्य पूर्वनिपातायोगात्। अत एव वृत्तिन्यासपदमञ्जर्यादिषु सर्वैरुपस्य संबन्धोऽङ्गीकृतः। **कष्टां शाखां, क्रष्टा शाखां**—अत्र तृनि 'ऋनिन्यादिर्नित्य' इति प्रकृतेराद्युदात्तत्वेऽप्युपदेशावस्थाया कृषेरनुदात्तत्वात् अमागमविधौ चोपदेशग्रहणावर्त्तनात् प्रक्षेऽमागमो भवत्येव। अयं तुदादावपि॥

## दह भस्मीकरणे॥ ९७६॥

**दहति। ददाह। देहतुः। देहिथ। ददग्ध। थलि** भारद्वाजनियमादिट्पक्षे कल्पः। तत्रानिट्पक्षे 'दादेर्धातोर्घः' 'झषस्तथोर्धोऽधः' 'झलां जश् झशि' इति घत्वधत्वजश्त्वानि। **दग्धा। धक्ष्यति**—हकारस्य घत्वे एकाच इति भष्भावेन दकारस्य धकारे घकारस्य 'खरिच' इति चत्वम्। **दहतु। अदहत्। दहेत्। दह्यात्। अधाक्षीत्।** घत्वादि पूर्ववत्। **अदाग्धाम्। अधाक्षुः।** झलि सिज्लोपः। **दिधक्षति। दंदह्यते।** 'लुपसद' इत्यादिना यङ्। 'जपजभदह' इति नुक्—**दंदग्धि। दाहयति। अदीदहत्॥**

परिदाही संपृचादिना घिनुण्। **निदाघः। अवदाघः।**

पर्यायौ । 'संज्ञायां मेघनिदाघावदाघार्घाः' इति न्यङ्क्वादिपाठात् कुत्वं दहनम् ॥

## मिह सेचने ॥ १७७ ॥

मेहति । मिमेह । मिमेहिथ । मिमिहिव—क्रादिनियमादिट् । मेढा । ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपगुणाः । मेक्ष्यति । ढत्वकत्वे । मेहतु । अमेहत् । मेहेत् । मिह्यात् । अमिक्षत्—'शलइगुपधात्' इति क्सः । मिमिक्षति—'हलन्ताच्च' इति सनः कित्त्वान्न गुणः । मेमिह्यते । मेमेढि । मेमीढः—'ढ्रलोपे' इति दीर्घः । मेहयति । अमीमिहत् ॥

मेद्रम्—दात्रीत्यादिना ष्ट्रन् । मेघः । अचि 'संज्ञायां मेघ' इति न्यङ्क्वादिषु पाठात् कुत्वं मीढ्वान्—'दाश्वान् साह्वान्मीढ्वांश्च' इति क्वसावद्वित्वानिट्त्वोपधादीर्घत्वढत्वानि निपात्यन्ते । मिहिर—'इषिमदि' इत्यादिना किरच् । स्कन्द्यादय एतदन्ता अनुदात्ता उदात्तेतः ॥

## कित निवासे रोगापनयने च ॥ १७८ ॥

अयमुदात्तेत् । गुपिवदयमपि नित्यसन्नन्तः । चिकित्सति—'गुप्तिज्' इति सन् । अस्य सनोऽनार्धधातुकत्वान्नेटः प्रसङ्गो नापि गुणस्य । अत्र वृत्तौ व्याधिप्रतीकारे सनिति यदुक्तं तदुपलक्षणं यत् स्वयमेव 'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्य.' इत्यत्र निग्रहापनयननाशाद्यर्थान् वक्ष्यति तथा च "य एवं विद्वान्विचिकित्सति"* इत्यादौ संशयेऽपि प्रयुज्यते । निघण्टुरपि "विचिकित्सा तु संशयः" इति ॥

*तै. ब्रा. २-१-२.

**चिकित्सिपति** । इच्छासनन्तादेव सत् प्रातिपदिक । केनयतीति चौरादिकस्य । अत्राभरणकारो गुपादिसूत्रे 'गुप्तिज किद्भ्यः' इत्यनुक्रम्य 'गुपादिभ्यो बन्धकरणमात्मनेपदार्थं' इति भाष्ये वार्तिके चोक्तत्वात्किति. परस्मैपदिषु पठितोपि आत्मनेपदी । न च गुपादिभ्यिति बहुवचनं वक्ष्यमाणमान्बधापेक्षमिति वक्तुं युक्त, यतस्तु खलु तत्र गुप्तिज्किदित्यनुक्रम्य गुपादिभ्यित्युक्तमित्याह । कैयटे तु—क्रमदर्शनाय किति पठितो न त्वयमनुदात्तेदिति । हरदत्तोपि—गुपादिभ्यिति बहुवचनं मान्बधसूत्राभिप्रायं कितिस्तु परस्मैपदीत्याह । इन्दुरपि—गुप्तिजावनुदात्तेतौ न कितिः तस्य चिकित्सतीत्येव प्रयोग इति एवं स्वामिकाश्यषादयोऽपि । एवं बहुभिर्मह्यग्रन्थैर्विरोधात्परस्मैपदिषु पाठान्नाभरणोक्तं यत्किञ्चित् ॥

## दान अवखण्डने ॥ १७९ ॥

## शान तेजने ॥ १८० ॥

इमावपि नित्यसनन्तौ स्वरितेतौ । **दीदांसति** । **दीदांसते** । **शीशांसति** । **शीशांसते** । 'मान्बध' इत्यादिना सनीत्वे च कृतेऽभ्यासस्य दीर्घः । सन्नयं नार्धधातुक इति नेट्प्रसङ्ग इत्युक्तम् । दानेरार्जवे, शानेर्निशाने, इति वृत्तार्थविशेषेऽयं सनुक्तः ॥

**दानयति** । **शानयतीत्यादि** चान्नादिकस्य ॥

## डुपचष् पाके ॥ १८१ ॥

इतो वहत्यन्ता अनुदात्ताः स्वरितेतः ॥

**पचति पपाच, पेचतुः । पपक्थ । पेचिथ । पक्ता, पक्ष्यति । पचतु । अपचत् । पचेत् । पच्यात् । अपाक्षीत् । पचते । पेचे । पक्ता । पक्ष्यते । पचताम् । अपचत । पचेत । पक्षीष्ट । अपक्त । अपक्षाताम्**—भुलि सिज्लोपः । **स्वामिदासौ पचतः** इत्यत्र दासधर्मस्य स्वामिन्यारोपात् परस्मैपदम् । पचते इत्यत्र स्वामिधर्मस्य दासे समारोपात्तडिति कैयटादौ ॥

**पिपक्षति । पिपक्षते । आपच्यते । पापक्ति । पापक्तः ॥**

कृष्टे स्वयमेव पच्यन्त इति **कृष्टपच्याः** । राजसूयादौ क्यपि निपात्यते । कर्मकर्तरि निपातनमिति वृत्तिः । **पचः** । अच् । श्वानं पचतीति **श्वपचः** । पचादिपाठसामर्थ्यात्कर्मोपपदादप्यच् । उक्तं च—

अज्विधिः सर्वधातुभ्यः पच्यन्ते च पचादयः ।
अण्बाधनार्थमेव स्यात् सिद्ध्यन्ति श्वपचादयः ॥ इति ॥

**श्वपाकः । मांसपाकः । पिण्डपाकः । कपोतपाकः** । अत्र न्यङ्क्वादिपाठात्कर्मण्यणि कुत्वम् । **दूरेपाकः । फलेपाकः** । न्यङ्क्वादिपाठादचि वृद्धिकुत्वे । "तत्पुरुषे कृति" इत्यलुक् । न्यङ्क्वादिपाठादेव चेमौ कर्मकर्तरीति वृत्तौ । **क्षणेपाक** इति केचित्पठन्ति । **दूरेपाका फलेपाकेति** टाबन्तावन्ये । उकारान्तावपरे—**दूरेपाकुः । फलेपाकुरिति** । उप्रत्ययो निपातनादिति वृत्तौ । **प्रस्थंपचः । मितंपचः । नखंपचः**—'परिमाणोऽपचः' 'मितनखे च' इति परिमाणवाचिनि कर्मण्युपपदे मितनखयोश्च खच् । **उत्पचिष्णुः** । 'अलंकृञ्' इत्यादिनेष्णुच् । **पचेलिमाः**

माषाः । 'केलिमर उपसंख्यानम्' इति केलिमर् । अयं कर्मकर्तरीति वृत्तिः । रेफः 'उपोत्तमं रिति' इति स्वरे विशेषणार्थः । **पक्किमम्**—'ङित: क्रिः' इति क्रिप्रत्यये 'क्रेर्मन्निन्यं' इति मप् । पाकेन निर्वृत्तं **पाकिमम्**—'भावप्रत्ययान्तादिमप् वक्तव्यः' इति इमप् । **पक्तिः**—'स्थागापापचः' इति क्तिन् । षित्त्वादङि—**पचा** । **पक्वः** । **पक्वान्**—'पचो वः' इति निष्ठातकारस्य वकारः । तस्य पूर्वत्रासिद्धत्वात् झलादित्वात् 'चोः कुः' ति कुत्वम् । **प्रपक्वानि फलानीत्यत्र** 'कुमति च' इति कवर्गवत्युत्तरपदे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य प्राप्तं णत्वं 'युवादीनां प्रतिषेधः' इति न भवति । **पाकः** । **पचनम्** । मांसस्य पाको **मांस्पाकः, मांसपाकः** । एवं मांसस्य पचनं **मांस्पचनम्, मांसपचनम्**—'मांसस्य पचि युड्घञोः' इति पक्षेऽन्तलोपः । **पचनः**—भृशीत्यादिना युच् ॥

अयं द्विकर्मक इति नाथतावुक्तम् । तेन **तण्डुलानोदनं पचतीति** भवति । अत्र कैयटकारः—अत्र विक्लेदनोपसर्जननिवर्तनार्थो धातुरिति तण्डुलानां विक्लेदनापेक्षं कर्मत्वम् । ओदनस्य तु प्रधानभूतनिवर्तनापेक्षमिति **तण्डुलानोदनं पचतीति** प्रयोगः प्रकृतिविकारभावविवक्षायाम् । **तण्डुलैरोदनं पचतीति** तु साधकतमत्वविवक्षायाम् । **उदुम्बरः फलं पच्यते** । 'दुहिपच्योर्द्वहुलं सकर्मकयोः' इति कर्तुः कर्मवद्भावः । अत्र कैयटो वृक्षस्य कर्तृत्वविवक्षायामत्यन्तमप्राप्ते वचनम् । अन्ये त्वाहुः—पचिरत्र विषये द्विकर्मकः । वृक्षस्य पाकमन्तरेण फलपाकासम्भवात् वृक्षोऽकथितं कर्म । तस्यैव च यदा कर्तृत्वविवक्षा तदाऽयं कर्मवद्भावः एवंविधे विषये कर्मवद्भाव इष्यते, न पुनरोदनं पचतीत्यादाविति ॥

व्यक्तीकरणे पञ्चत इत्यादि गतम् ॥

## षच समवाये ॥ ९८२ ॥

केचिदमुं न पठन्ति । ते 'ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते' इति भाष्यप्रयोगं "ऋदूदरेण सख्या सचेय"* इत्यादिप्रयोगं च "षच सेचने" इत्यस्यानुदात्ततो धातूनामनेकार्थत्वात्समवायार्थस्य सम्बध्यमानकर्तृके व्यापारे वर्तमानस्य समर्थयन्ते । अन्ये तु "षच समवाये, रप लप व्यक्तायां वाचि" इति परस्मैपदिषु गतस्य पकारान्तस्य स्थानेऽमुं पठन्ति । यदाह 'अकथितं च' इत्यत्र हरदत्तः "सचते सम्बध्यते" इति वृत्तिमुपादाय—षच समवाये स्वरितेत् । केचित्तु परस्मैपदिभिस्सह धातुमेनं पठन्ति । षच समवाये रंप लप व्यक्तायां वाचीति त आहुः । षच सेचन इत्यस्यानुदात्ततोऽनेकार्थत्वाद्धातूनां समवाये वृत्तिरितीति । पुरुषकारे तु—हरदत्तोक्तमनुक्रम्य सचत इति भाष्यानौचित्यात्परस्मैपदिषु पाठोऽयुक्त इत्युक्तम् । एवं षच सेचन इत्यस्यानुदात्ततोऽनेकार्थत्वाद्धातूनां समवाये वृत्तिरिति हरदत्तोक्तं प्रौढिवादमात्रम् । न्यासे च सचत इत्यस्य षच समवाय इत्येव धातुरुक्तः । एवञ्च षपेत्येव परस्मैपदिषु पाठः । पान्तकाण्डं चैवमनुसृतं भवति । एवमेव मैत्रेयरक्षितादयः । शाकटायनक्षीरस्वामिनौ तु सप्तसप्तर्तीनुदाहृत्य सचेति केचित्पठन्तीत्याहतुः । सचति । सचत इत्यप्याहेत्युक्तम् । एवं च न्यासकारादीनां बहूनामभिमतत्वादयं धातुरस्माभिः पठितः । अयं च "पचि वचि" इत्यादौ व्याघ्रभूतिकारिकायां चकारान्तानामनिटां परिगणनात्सेट् । अनिटां मध्ये पाठस्तु स्वरितेत्त्वसाम्यात् ॥

*ऋक्सं. म. ८-४८-१०.

सचति । ससाच । सेचतुः । सेचिथ । सेचिव । सचिता । सचिष्यति । सचतु । असचत् । सचेत् । आशिषि—सच्यात् । असचीत्, असाचीत्—"अतो हलादेः" इति वा वृद्धिः । सिसचिषति—"स्तौतिण्योरेव" इत्यषत्वम् । सासच्यते । सासक्ति । साचयति । असीषचत् । सिषाचयिषतीत्यत्र णेः सनि षत्वम् ॥

सचत इत्यादि सेचनार्थवत् ॥

## भज सेवायाम् ॥ १८३ ॥

भजति । बभाज । भेजतुः । भेजिथ, बभक्थ । भेजिव—'तृफलभजत्रपश्च' इति किति लिटि थलि च सेटि-एत्वाभ्यासलोपौ । भक्ता । भक्ष्यति । भजतु । अभजत् भजेत् । भज्यात् । अभाक्षीत् । बिभक्षति । बाभज्यते । बाभक्ति । भाजयति । अबीभजत् ॥ भजते । भेजे । भक्तासे । भक्ष्यते । भजताम् । अभजत । भजेत । भक्षीष्ट । अभक्त । अभक्षाताम् । बिभक्षते ॥

विभक्तव्यः । विभज्यः—'द्विवचनविभज्योपपदे' इति निपातनाद्यत् । जन्मभाक्—'भजो ण्विः' इति कर्मोपपदादस्माण्ण्विः । भागी—संपृचादित्वाद्घिनुण् । भागः—'खनो घ च' इति चशब्दात् घः कुत्वम् । सुभगस्य भावकर्मणी सौभाग्यम्—ब्राह्मणादिपाठात् ष्यञ्; "हृद्भग" इत्युभयपदवृद्धिः । एवं दौर्भाग्यमपि । सुभगाया अपत्यं सौभागिनेयः—'कल्याणादीनामिनङ्' इति ढकीनङादेशोऽन्त्यस्य; पूर्ववदुभयपदवृद्धिः । एवं दौर्भागिनेयः । भागः—घञ् । भागोऽस्मिन् वृद्धिरायो लाभः शुल्कः उपदा वा दीयते भाग्यं शतं, भागिकं शतम्—

'भागाद्यच्च' इति दीयमानवृद्ध्यायादीनामन्यतमोपाधिकात्प्रथमान्तादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे यत्, चकारात् ठञ् च । भाग एव **भागधेयम्**—'भागरूपनामभ्यो धेय' इति स्वार्थे धेयः । **भ्राता**—"नप्तृनेष्टृ" इत्यादिना तृनि भ्रादेशो निपात्यते । **भ्रातरावित्यादौ** सर्वनामस्थाने "अमृन्" इति दीर्घो न भवति, तृन्नन्तत्वादेव नप्त्रादीनां दीर्घे सिद्धे तेषां पुनर्ग्रहणादौणादिकानां संज्ञाशब्दानामेषामेवेति नियमार्थत्वात् । **भ्रातृपुत्रावित्यत्र** तु भाष्ये बिभर्तीति भ्रातेति व्युदपादि । भ्रातुरपत्यं **भ्रातृव्यः** । **भ्रात्रीयः**—'भ्रातुर्व्यच्च' इति व्यच्छौ । **भ्रातृव्यः** सपत्नः—'व्यन्सपत्ने' इति व्यन् । **सौभ्रात्रम्** । **दौर्भ्रात्रम्**—युवादिपाठाद्भावकर्मणोऽण् । भ्राता च स्वसा च **भ्रातरौ**—'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' इति भ्रातुः शेषः । कल्याणी भक्तिरस्य **कल्याणीभक्तिः**—प्रियादिषु भक्तिशब्दस्य पाठात् 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवद्भावो न भवति । **दृढभक्तिरित्येतत्** कुक्कुटाण्डादिवत् स्त्रीपूर्वपदस्याविवक्षितत्वात्सिद्धम् । प्रतिपादितं चैवं भाष्यादौ ॥

भञ्जो आमर्दन इति रुधादौ । भज विश्राणने, भाज पृथक्कर्मणीति द्वयं चुरादौ । तथाऽत्रैव भजतिः भाषार्थो दण्डके ॥

## रञ्ज रागे ॥ ९८४ ॥

**रजति**—'रञ्जेश्च' इति शप्यनुनासिकलोपः । **ररञ्ज** । **ररञ्जतुः** । **ररञ्जुः, ररञ्जिथ** । **ररञ्जिव** । क्रादिनियमादिट् थलि भारद्वाजनियमादिड्विकल्पः । **रङ्क्ता** । **रङ्क्ष्यति** । **रजतु** । **अरजत** । **रजेत्** । आशिषि—**रज्यात्**—'किदाशिषि'

इति कित्त्वादनुनासिकलोपः । **अराङ्क्षीत्** । **अराङ्क्ताम्** । **आराङ्क्षुः**॥ **रजते** । **ररञ्जे** । **रराञ्जिषे** । **रङ्क्षासे** । **रङ्क्ष्यते** । **रजताम्** । **अरजत** । **रजेत** । **रङ्क्षीष्ट** । **अरङ्क्त** । **अरङ्क्षाताम्** । **रिरङ्क्षति** । **रिरङ्क्षते** । **रारज्यते** । **रारङ्क्ति** । **रारक्तः** । तसो डित्त्वादनुनासिकलोपः । **रजयति** मृगान् । **अरीरजत्** । रमयतीत्यर्थः—'रञ्जेर्णौ मृगरमणे' इति नलोपः । 'जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' इति मित्त्वाद्ह्रस्वः । मृगादन्यत्र—**रञ्जयति** पक्षिणः । तथा रमणादन्यत्रापि **रञ्जयति मृगान् तृणादिदानेन** वशीकरोतीत्यर्थः । कर्मकर्तरि 'कुषिरञ्जोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च' इति पक्षे श्यन्परस्मैपदयोः **रज्यति** वस्त्रं स्वयमेव । **रज्यतु** । **अरज्यत्** । **रज्येत्** इति भवति । अन्यदा यगात्मनेपदयोः **रज्यत** इत्यादि । श्यनो डित्त्वाद्यकः कित्त्वाच्च नलोपः । श्यन्विधानं रज्यन्तीत्यत्र 'शपूश्यनोर्नित्यम्' इति नित्यनुमर्थम् । एते च श्यन्परस्मैपदे प्राचा ग्रहणस्य व्यवस्थितविभाषात्वाद्यग्विषये । तथा च वार्त्तिकम्—'कुषिरञ्जोः श्यन्विधाने लसार्वधातुकवचनमवचने हि लिड्लिटोः प्रतिषेधः स्यादिविषये च" इति । अत्र लिडाशीर्विषयः । स हि सार्वधातुकप्रतियोगी । तेन **रङ्क्षीष्ट** वस्त्रं स्वयमेव । **ररञ्जे रङ्क्षासे** । **रङ्क्ष्यते** । **अरञ्जि** । **अरङ्क्षाताम्**इत्यत्र श्यन्परस्मैपदे न भवतः ॥

**रजकः**—'शिल्पिनि ष्वुन्' 'रजकरजनरजस्सूपसंख्यानम्' इति नलोपः । 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' इति भाष्ये प्रयोगादिति न्यासे । ष्वुन्यकृत्यपि रञ्जेर्मित्त्वविधानाद्धिङ्कारान्नलोप इति तरङ्गिणीपदमञ्जर्योः । इदं प्रौढिवादमात्रं—यतो मित्त्वं 'रञ्जेर्णौ'

इति नलोपे 'रजयति मृगान्' इत्यत्र ह्रस्वार्थं स्यात् । तथा नलोपाभावेऽपि 'अराञ्जि । अराञ्जि । रञ्जंरञ्जं । राञ्जंराञ्जं' इत्यत्र 'चिण्णमुलोः' इति दीर्घविकल्पार्थं स्यात् । 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' इत्यत्र भाष्ये तु 'रजकरजनरजस्सूपसंख्यानम्' इति नलोपं चोदयित्वा कित एवैते त्वौणादिका इति परिहृतम्। अत्र कैयटे—रजक· इति 'कुन् शिल्पिसंज्ञयोः' इति कुन् प्रत्ययः। रजकीति तु 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीषि। अपुंयोगे तु ङीषा न भाव्यमिति भाष्यकाराभिप्रायः । रजनमित्यत्र 'रञ्जेः क्युन्' इति क्युन्प्रत्ययः । स च बाहुलकात् टिद्वृष्टव्यः तेन रजनीति ङीप् भवति । रज इत्यत्र 'भूरञ्जिभ्यां कित्' इत्यसुन्प्रत्ययः किद्भवतीत्युक्तम्। एवमेव तत्र पदमञ्जर्यामपि ॥

**रागी**—संपृचादित्वाद् घिनुण् ॥ अत्रैव रजेतिनिर्देशान्नलोपः। **रजनं** रागः । रज्यतेऽनेनेति वा—'घञि च भावकरणयोः' इति नलोपः । अन्यत्र स्वयमेव रज्यन्ति प्रेक्षकानां मनांस्यत्रेति **रङ्गः**—'हलश्च' इति घञ् । विरागमर्हति **वैरङ्गिकः**—'छेदादिभ्यो नित्यम्' इति तदर्हतीति विषये ठक्; अत्र 'विरागविरङ्गं च' इति पाठाद्विरङ्गादेशः। **रजः**—असुनुक्तः। **विरजीकरोति**—'अरुर्मनः' इत्यादिना च्विसलोपौ। 'अस्य च्वौ' इत्यकारस्येकारः । **सरजसम्**—'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना साकल्येऽव्ययीभावः, 'अव्ययीभावे चाऽकाले' इति सहस्य सः; अचतुरादिपाठादच् । अयमव्ययोभाव इति वृत्त्यादौ । तेनान्यत्र सरजस्कं पङ्कजमित्येव भवति । यस्तु बहुव्रीहौ सरजसामिति भारविप्रयोगः स वामनालङ्कारे दूषितः 'न सरजसामित्यनव्ययीभावे' इति । रजोऽस्यास्तीति **रजस्वला**—'रजः कृष्यासुति'

इत्यादिना मत्वर्थे वलच्, 'तसौ मत्वर्थे' इति भसंज्ञया पदसंज्ञाया बाधनात्सकारस्य न रुत्वम् । **रजतम्**—'पृषिरञ्जिभ्यां कित्' इत्यतच् । रजतस्य विकारो **राजतम्**—'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' इति षष्ठचन्ताद्विकारेऽञ्प्रत्ययः । अत्र 'अनुदात्तादेः' इत्येवाञि सिद्धे पुनरञ्विधानं 'मयड्वैतयोः' इति विकारमयटो बाधनार्थम् ॥

अयं दिवादावपि ॥

## शप आक्रोशे ॥ १८५ ॥

इहाक्रोशो विरुद्धानुध्यानम् । **शपति** । **शशाप** । **शेपतुः** । **शशप्थ, शेपिथ** । **शेपिव**—क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमादिड्विकल्पः । **शप्ता** । **शप्स्यति** । **शपतु** । **अशपत्** । **शपेत्** । **शप्यात्** । **अशाप्सीत्** । **अशाप्ताम्** । **शपते** । **शेपे** । **शप्तासे** । **शप्स्यते** । **शपताम्** । **अशपत** । **शपेत** । **शप्सीष्ट** । **अशप्त** । **अशप्साताम्** । **शिशप्सति** । **शाशप्यते** । **शाशप्ति** । **शापयति** । **अशीशपत्** । देवदत्ताय **शपते**, देवदत्तं शपथेन किंचित्प्रत्याययतीत्यर्थः—'शप उपालम्भने' इति अकर्त्रभिप्रायेऽपि तङ् 'श्लाघह्नुङ्' इत्यादिना ज्ञीप्स्यमानस्य संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । वाचा शरीरस्पर्शनमुपलम्भनमिति वृत्तिः । अत्र हरदत्तः—त्वत्पादौ स्पृशामि नैतन्मया कृतमित्येवं रूपः शपथविशेष इति । भागवृत्तिकारस्तु—उपलम्भनं प्रकाशनं; देवतत्ताय शपते; किंचित्प्रत्याययतीत्यर्थः । वाचा शरीरस्पर्शनमित्यदः कस्यचित्काव्यमिति ।* कैयटे चोपलम्भन प्रका-

*शरीरस्पर्शनमित्यर्थः कस्यचित्कार्यामिति ।

शनमिति । शाकटायनस्तु—उपलम्भनं प्रकाशनं, देवदत्ताय शपते एवंभूतोऽसाविति देवदत्तमाचष्ट इत्यर्थः । अथवा—स्वाभिप्रायस्य परत्राविष्करणमुपलम्भनं शपथः । देवदत्ताय शपते । वाचा मात्रादिशरीरस्पर्शनेन च देवदत्ते स्वाभिप्रायं प्रकाशयतीत्यर्थ इति । चन्द्रभोजकौमारास्तु—प्रोषितस्य देवदत्तस्य भावाभावयोरुपलब्धव्ययोः किंचिदासेवनमुपलम्भनं; देवदत्ताय शपत इति, प्रोषितस्य देवदत्तस्य भावाभावयोरुपलब्धव्ययोः किंचिदासेवत इत्यर्थः । भोजीयास्तु—*

शप· **शपथ** इति, शीङश्शपथ इति वा । 'शीङ्शपिरुगमिवञ् चिजीविप्राणिभ्योऽथः' इत्यथः प्रत्ययः । **शवलः**—'शपे वश्च' इति कलप्रत्यये वकारश्चान्तादेशः । **शब्दः**—'शाशापिभ्यां ददनौ' इति दन्; शब्दैर्वैरेति निपातनात् बत्वम् ॥

शब्दं करोति **शब्दायते**—'शब्दवैर' इति क्यङ् । शब्दं करोति **शाब्दिकः**—'शब्ददर्दुरं करोति' इति द्वितीयान्तात्करोतीत्यर्थे ठक् । माशब्द इत्याह **माशब्दिकः**—'तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्' इति वाक्यात् ठक् । एवं **नैयशब्दिक** इत्यादि ॥

अयं दिवादावपि ॥

## त्विष दीप्तौ ॥ १८६ ॥

**त्वेषति** । **तित्वेष** । **तित्विषतुः** । **तित्वेषिथ** । **तित्विषिव**—क्रादिनियमादिट् । **त्वेष्टा** । **त्वेक्ष्यति** । **त्वेषतु** । **अत्वेषत्** ।

*अत्र ग्रन्थो गलित इव भाति ।

आशिषि—त्विक्ष्यात् । अत्विक्षत् । अत्विक्षाताम्—'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति क्सः । त्वेषते । तित्विषे । त्वेष्टासे । त्वेक्ष्यते । त्वेषताम् । अत्वेषत । त्वेषेत । त्विक्षीष्ट । अत्विक्षत । अत्विक्षाताम् । अत्विक्षन्त—'क्सस्याचि' इत्यल्लोपः ॥ तित्विक्षति । तित्विक्षते । तेत्विक्ष्यते । तेत्वेष्टि । तेत्विष्टः । त्वेषयति । अतित्विषत् ॥

त्वष्टा—'त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधायाः' इति तृनि उपधाया अत्वम् । त्वष्टारौ—'ऋतो डि' इति गुणे 'अप्तृन्' इत्यादिना दीर्घोऽसंबुद्धौ सर्वनामस्थाने तृन्नन्तत्वादेव सिद्धे नप्त्रादीना ग्रहणं अव्युत्पत्तिपक्षे विध्यर्थं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थं संज्ञाशब्दानामेषामेवेति वृत्तौ । त्वष्टुरिदं त्वाष्ट्रम् । अचामादेरचो वृद्धिरन्त्यलक्षणा वृद्धिं बाधत इति च वृत्तौ । त्विट्—संपदादित्वात् क्विप् । अवपूर्वोऽयं दाननिरसनयोरिति मैत्रेयादयः ॥

## यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु ॥९८७॥

यजति । इयाज । ईजतुः । ईजुः । इयजिथ, इयष्ठ । ईजिव—क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमादिड्विकल्पः । इडभावे झल्परत्वाद्व्रश्चेत्यादिना षत्वम् । किति 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति संप्रसारणे पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् द्विर्वचनमकिति 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति सिद्धे पुनस्तत्करणं विध्यत्यादौ परमपि हलादिशेषं बाधित्वा संप्रसारणं यथा स्यादिति । यष्टा । यक्ष्यति । यजतु । अयजत् । यजेत् । आशिषि कित्त्वात् संप्रसारणे—इज्यात् । अयाक्षीत् । अयाष्टाम् । यजते । ईजे । यष्टासे । यक्ष्यते । यजताम् । अय-

जत । यजेत । यक्षीष्ट । अयष्ट । अयक्षाताम् । इयक्षति । इयक्षते । यायज्यते । यायष्टि । याजयति । अयीयजत् । इज्यते—यकि संप्रसारणम् । ऐज्यतेत्यत्र लमङ्गं चापेक्षमाणादडागमादन्तरङ्गत्वात् पूर्वं लादेश. । कृते च लादेशे नित्यत्वादटः पूर्वं यक् । अत्र यगटोरुभयोरपि कृताकृतप्रसङ्गित्वाविशेषेऽप्यडागमो यकि कृते तदन्तस्याङ्गस्य अकृते तु केवलस्येति शब्दान्तरप्राप्त्या नित्यः । कृते च यकि नित्यत्वात्संप्रसारणे पश्चादजादित्वादाडागमः । नन्वत्राटः प्राप्तिरबाध्यते न तु संप्रसारणेनैवेति 'यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं व्याहन्यते न तदनित्यम्' इति अट् कथमनित्यः । अत्र हरदत्त'—'यस्य च लक्षणान्तरेण' इति न्यायोऽनित्यत्वादिह नाश्रीयत इति । यद्वा—संप्रसारणं संप्रसारणाश्रयं च बलवदिति अटः आटः पूर्वमेव संप्रसारणं भविष्यति । अथ वा—परिहृत्यापवादविषयमुत्सर्गोऽभिनिविशत इत्याट् पश्चाद्भविष्यतीत्यडागमो नैवात्र प्रसजति ॥

**याज्यम्**—ण्यति 'यजयाच' इति कुत्वनिषेध. । **यागः**—घञि 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इति कुत्वम् । सोमेनेष्टवान् **सोमयाजी**—'करणे यजः' इति करणवाचिन्युपपदे भूते णिनिः । **यज्वा**—'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति भूते ङ्वनिप् । **यजमानः**—'पूङ्चजोः शानन्' इति शानन् । शानचि चैवम् । यजमानस्य भावकर्मणी **याजमानं**—युवादित्वादण् । **यायजूकः**—'यजजपदशां यडः' इति यडन्तादूकः प्रत्यय., अच्छोपयलोपौ च । **इष्टिः**—'श्रुयजीषिस्तुभ्य. करणे' इति क्तिन् । **इज्या**—'व्रजयजोर्भावे क्यप्' इति क्यप् । **यज्ञः**—'यजयाच' इति नङ्-प्रत्यये श्रुत्वम् । यज्ञविद्यामधीते वेद वा **याज्ञविधिकः**—

'ऋतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' इति उक्थादिषु पाठाट्ठक् । याज्ञिकानां धर्म आम्नायो वा **याज्ञिक्यम्**—'छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः' इति षष्ठचन्ताद्धर्माम्नाययोर्ञ्यः । यज्ञमर्हतीति **यज्ञियो** यजमानः 'यज्ञर्त्विग्भ्या घखञौ' इति द्वितीयान्तादर्हतीत्यर्थे घः । यज्ञमर्हति **यज्ञिय** ऋत्विक्—'यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्माहतीति चोपसंख्यानम्' इति घः । **ऋत्विक्**—ऋतौ यजति, ऋतुं यजति, ऋतुप्रयुक्तो वा यजतीति ऋत्विगादिना क्विनि निपातितः । नवयज्ञोऽस्मिन् तिथौ वर्तते **नावयज्ञिकः**—'तदस्मिन्वर्तत इति नवयज्ञादिभ्य उपसंख्यानम्' इति ठक् । एवं **पाकयज्ञिकः** । इष्टमनेन **इष्टी**—'इष्टादिभ्यश्च' इति प्रथमान्तात्तृतीयार्थे इनिः । **यजुः**—'अर्तिपूवपि' इत्यादिनोसिप्रत्ययः । **ऋग्यजुषम्**—अचतुरेत्यादिना द्वन्द्वेऽजन्तो निपात्यते । **यद्**—'त्यजियजितनिभ्यो डित्' इत्यदिप्रत्यये डित्त्वाट्टिलोपः । त्यच्छब्दवत्सर्वनामकार्यं त्यदादिकार्यं च । यस्मिन्काले **यदा**—'सर्वैकान्य' इत्यादिना दाप्रत्ययः, 'प्राग्दिशो विभक्तिः' इति विभक्तित्वात्त्यदाद्यत्वम् । यस्मिन्काले **यर्हि**—'अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्' इति र्हिल्, पूर्ववद्विभक्तित्वात्त्यदाद्यत्वम् । यत्परिमाणमस्य **यावान्**—'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' इति परिमाणोपाधिकार्थात्प्रथमान्ताद्यदादेरस्येति षष्ठचर्थे वतुप् । अर्थादिह षष्ठचर्थः परिमाणी । 'आ सर्वनाम्नः' इति दृग्दृशवतुषु परेष्वित्याकारः । सौ 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः । उगिदचामिति नुम् । हलङ्यादिसंयोगान्तलोपौ । 'उगितश्च' इति ङीपि—**यावती** । 'बहुगणवतुडति संख्या' इति संख्यात्वात् यावतां पूरण इति विगृह्य 'तस्य पूरणे डट्' इति षष्ठचन्तात्संख्याशब्दात्पूरणे डटि कृते 'वतोरिथुक्' इति इथुगागमः—

**यावतिथः** । **यतरो** भवतो देवदत्तः स आगच्छतु—'किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्' इति द्वयोर्मध्ये जातिगुणक्रियासञ्ज्ञाभिरेकस्य निर्धारणे पृथक्करणे गम्यमाने स्वार्थे डतरच् । महाविभाषयास्य विकल्पनात् **यो** भवतोरित्यपि भवति । **यतमो** भवता ब्राह्मण स आगच्छतु—'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' जातिश्च परिप्रश्नश्च जातिपरिप्रश्नं समाहारद्वन्द्वस्तद्विषयेभ्यः किंयत्तद्भ्यो बहूनामेकस्य निर्धारणे वा डतमजिति डतमच् । अत्र जातिग्रहणं सर्वैरभिसंबध्यते । परिप्रश्नग्रहणं तु यत्तदोरसम्भवात्किम एव । वाग्रहणमकजर्थम् । **यको** भवतां ब्राह्मण इति वाक्य तु महाविभाषया भविष्यति । डतरडतमेति सर्वादौ पाठादेतदन्तयोस्सर्वनामकार्यं पूर्ववत् । नपुंसकाभ्यामनुपसर्जनाभ्यां डतरडतमान्ताभ्यां परयोः स्वमोरादेशापवादे 'अड्डतरादिभ्य· पञ्चभ्यः' इत्यदडादेशे डित्त्वाट्टिलोपे च **यतरत्** । **यतमत्** इति भवति । यद्ययं डिन्न स्यात्सोरदादेशे कृते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वं बाधित्वा 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति दीर्घः स्यात् । अमोऽदादेशे तु स्थानिवद्भावेनामिपूर्वो भविष्यतीति न दोषः । एवं तर्हि पूर्वसूत्रादम्ग्रहणमनुवर्त्य सोरप्यमं कृत्वा 'अड्डतरादिभ्यः' इति पञ्चम्याः षष्ठीं प्रकल्प्य द्वयोरमोः स्थानेऽदादेशः कार्यः किं डकारेण । किं चैवमकारेणापि नार्थः दकार एव तु विधेयः, स च 'आदेः परस्य' इत्यमोऽकारस्य भविष्यति । मकारस्य च संयोगान्तलोपे यतरत् यतमदितीष्टं सेत्स्यति । सत्यं सिध्यति हे **यतरदित्यादौ** 'हे कुण्ड' इत्यादिवत् 'एङ्ह्रस्वात्' इति सम्बुद्धिसम्बन्धिनो हल्लो विधीयमानो लोपः स्यात् । तस्मादयं डित्त्ववानकारवांश्च कर्तव्यः । **यका**—'प्रत्ययस्यात्' इतीत्वं 'न यासयोः' इति

निषिध्यते । **यथा** यः प्रकार—'प्रकारवचने थाल्' इति थाल्प्रत्ययः । **यथायथम्**—यो य आत्मा यद्यदात्मीयमिति वा अर्थः । 'यथास्वे यथायथम्' इति यथाशब्दस्य द्विर्वचनं नपुंसकत्वं चोक्तेऽर्थे निपात्यते । **आयथातथ्यम्** । **अयाथातथ्यम्** । **आयथापुर्यम्** । **अयाथापुर्यम्** । यथातथायथापुरयोः शब्दयोरव्ययीभावे नञा समासे ब्राह्मणादिपाठात् ष्यञि 'यथातथयथापुरयोः पर्यायेण' इति पूर्वोत्तरपदयोः पर्यायेण वृद्धिः । भाष्ये तु अयथातथाभाव अयथापुराभाव इति विगृह्यते । तत्र 'सुप्सुपा' इति समासो द्रष्टव्यः ॥

## डु वपृ बीजसन्ताने ॥ ९८८ ॥

**वपति** । **उवाप** । **उवप्थ, उवपिथ** । **उवपिवेत्यादि** यजिवत् । **प्रणिवपति**—'नेर्गद' इति णत्वम् । **प्रण्यवपत्**—'अड्व्यवायेऽपीष्यते' इति णत्वम् । **प्रवपाणि**—'आनि लोट्' इति उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य लोट्सम्बन्धिन आनेर्नकारस्य णत्वम् ॥

**वाप्यम्**—'आसु युवपि' इति ण्यत् । **निवापी**—'रक्षश्रुवसवशां नौ' इति ग्रहादिपाठाण्णिनिः । **उन्निमम्**—'ङितः क्रिः' संप्रसाणम्; 'क्रेर्मन्नित्यम्' इति मप् । **वापिः** पृथिवी—'इन्वपादिभ्यः' इतीञ् । **वापी**—'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीष् । **वप्रः**—'वृषिवपिभ्यां रन्' इति रन्प्रत्ययः ॥

बीजसन्तानः क्षेत्रे बीजानां विकिरणम् । अयं गर्भाधानेऽपि दृश्यते; यथा—'मा वः क्षेत्रे परबीजानि वाप्सुः' । छेदनेऽपि दृश्यते 'केशान्वपति' इति ॥

## वह प्रापणे ॥ ९८९ ॥

**वहति** । **उवाह** । **ऊहतुः** । **उवहिथ, उवोढ** । **ऊहिव**—क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमादिडभावपक्षे **ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपेषु** 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इत्योत्वे—उवोढेति भवति । एवमन्यत्रापि तवर्गादौ ढत्वादि । यजिवत्संप्रसारणम् । **वोढा** । वक्ष्यति—'षढोः कस्सि' इति कत्वे षत्वम् । **वहतु** । **अवहत्** । **वहेत्** । आशिषि कित्त्वात् संप्रसारणे—**उह्यात्** । **अवाक्षीत्** । **अवोढा** । **अवाक्षुः**—अत्रढत्वादीनामसिद्धत्वात्पूर्व मेव हलन्तलक्षणाया वृद्धौ पश्चाड्ढत्वादीति । अवोढामित्यत्राकारस्य 'सहिवहोः' इत्योत्वे पुनर्वृद्धिः प्रागेव कृतत्वान्न भवति । **वहते** । **वोढा** । **वक्ष्यते** । **ऊहे** । **ऊहिषे** । **वहताम्** । **अवहत** । **वहेत** । **वक्षीष्ट** । **अवोढ** । **अवक्षाताम्** । **अवक्षत** । **अवोढाः** । **अवोढम्** । **अवक्षि** । **प्रवहति** । 'प्राद्वहः' इति कर्त्रभिप्राये क्रियाफलेऽपि परस्मैपदम् । केचित् 'परेर्मृषः' इत्यत्र वहिमनुवर्त्य परिपूर्वादपि नित्यं परस्मैपदमेवाहुः **परिवहतीति** । **प्रणिवहति**—'नेर्गद' इत्यादिना णत्वम् । इदमड्व्यवायेऽपीति **प्रण्यवहदित्यत्रापि** भवति । **प्रवहाणि** । 'आनि लोट्' इति णत्वम् । कर्मणि—**उह्यते** । **औह्यत** इत्यत्र यजिवच्छादेशे यकि संप्रसारणे आडागमः । **विवक्षति** । **विवक्षते** । **वावाह्यते** । **वावोढि** । **वावोढः** । **वावहतीत्यादि** । **वाहयति भारं देवदत्तेन** । **अवीवहत्** । अत्र प्रयोज्यस्य 'नीवह्योः प्रतिषेधः' इति कर्मत्वनिषेधः । गत्यादिसूत्रे तु फलतया प्रतीयमानगतयोऽपि गत्यर्थत्वेन गृह्यन्ते इत्ययं प्रतिषेधः । अयं च 'वहेरनियन्तृकर्तृकस्य' इति वचनान्नियन्तृ-

कर्तृकस्य न भवतीति **वाहयति यवान्बलीवर्दानित्यत्र** प्रयोज्यः कर्मैव । **नियन्ता** सारथिः । वहन्त्यनेनेति **वह्यं** शकटादि—'वह्यं करणम्' इति यति निपात्यते । अन्यत्र ण्यति—**वाह्यम्** । **कूलमुद्वहः**—'उदि कूले रुजिवहोः' इत्युत्पूर्वाद्वहेः **कूल**शब्द-उपपदे खश् । वहत्यनेनेति **वहः**—'गोचर' इत्यादिना करणे घः । **पुरुषवाहं वहति** पुरुषप्रेष्यो भूत्वा वहतीत्यर्थः । 'कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहोः' इते यथासंख्यात् कर्तृवाचिनि **पुरुष** उपपदे वहेः णमुल् । कषादित्वात्तस्यैव धातोरनुप्रयोगः । **ऊढः**। **ऊढिः** । निष्ठाक्तिनोः संप्रसारणे ढत्वादि । कल्पनाया अपोढः **कल्पनापोढः**—'अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः' इत्यनेन पञ्च-मीसमास· । **प्रौढः** । **प्रौढि**·—'प्रादूहोढोढ्यैषैष्येषु वृद्धिर्वक्तव्या' इति वृद्धि· । **प्रवाहणः**—ण्यन्तात् नन्द्यादिपाठात् ल्युः । 'कृत्य-च' 'णेर्विभाषा' इति णत्वं 'पूर्वपदात् संज्ञायाम्' इति वा । प्रवाहणस्यापत्यं **प्रावाहणेय, प्रवाहणेयः**—'शुभ्रादिभ्यश्च' इति ढकि 'प्रवाहणस्य ढे' इति पूर्वपदस्य वा वृद्धिः । उत्तर पदस्य तु नित्या । स्वत एवोत्तरपदस्य वृद्धिमत्वेऽपि पुनर्वृद्धि विधानं पूर्वपदवृद्ध्यभावपक्षेऽपि **प्रवाहणेयीभार्य** इत्यत्र 'वृद्धिनि मित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे' इति पुंवद्भावनिषेधो यथा स्यादिति स्त्रियाः पुंवदिति पुंवत्त्वं रक्तविकारव्यतिरिक्तार्थे वृद्धिनि-मित्ततद्धितान्तस्य स्त्रीप्रत्ययान्तस्य नेति सूत्रार्थः । ननु प्रवाह-णेयीशब्दस्य गोत्राभिधायित्वात् 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वात् 'जातेश्च' इति पुंवद्भावनिषेधस्य सिद्धत्वात्किं तदर्थेन वृद्धिविधानेन । एवं तर्हि 'जातेश्च' इत्यस्यानित्यत्वमनेन ज्ञाप्यते । तेन हस्तिनीनां समूहो हास्तिकमित्यत्र लिङ्गविशिष्टपरिभाषया 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' इति ठकि 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंव-

द्भावो भवति । प्रवाहणेयस्यापत्यं **प्रावाहणेयः** । **प्रवाहणेयिः**—'तत् प्रत्ययस्य' इति दान्तस्य प्रवाहणेयशब्दस्य त्रिति णिति किति वा तद्धिते परतः पूर्वपदस्य वा वृद्धिरुत्तरपदस्य तु नित्या । अत्र बाह्यतद्धितनिमित्ता वृद्धिः पक्षे बाध्यते । **इक्षुवाहणम्**—उपरि निपतितेक्षुकं वाहनमित्यर्थः । इक्षुशब्द आहितेष्विक्षुषु वर्तते । 'वाहनमाहितात्' इति णत्वम् । वाहने यदारोपितं तदाहितमित्युच्यते । तादृक्पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य वाहनशब्दस्थनकारस्य णकार इति सूत्रार्थः । अहितादन्यत्र **दाक्षिवाहनम्** । **वह्निः**—'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिम्यो नित्' इति निप्रत्ययः; नित्त्वादाद्युदात्तः । **वधूः**—'वहेर्धश्च' इति ऊकारप्रत्यये धश्चान्तादेशः । वध्वा भावकर्मणी **वाधवम्**—उद्गात्रादित्वादञ् । **अनड्वान्**—'अनसि वहेः' इति क्विप् 'डश्चानसः' इत्युणादिसूत्रेण अनस्युपपदे वहेः क्विप्, अनसोऽन्त्यस्य डकारश्च संप्रसारणपरपूर्वत्वे 'सावनडुहः' इति नुम् । अयं च आदित्यधिकारेणावर्णान्तात् विधानात् 'चतुरनडुहोः' इत्यामं न बाधते । अन्यथा सर्वनामस्थानमात्रे सावकाशामां सौ विशेषविहितो नुम् बाधेत । हकारस्य संयोगान्तलोपः । 'वसुस्रंसु' इत्यादिना दत्वं पूर्वत्रासिद्धत्वात् न भवति । हे **अनड्वन्** इत्यत्र आमं बाधित्वा 'अम् सम्बुद्धौ' इति अमागमः । अनेनापि नुमो न बाधः आदित्यधिकारादेव । **अनडुद्भ्यामित्यादौ** पदत्वे 'वसुस्रंसु' इत्यादिना दत्वम् । **अनडुही** । **अनड्वाही**—गौरादिपाठात् ङीष्यपि पक्षे आमागमः । प्रियोऽनड्वान् यस्य **प्रियानडुत्कः**—उरःप्रभृतिषु अनड्वानिति पाठात् कप् । अस्मिन् स्वादौ पदत्वात् दत्वे चर्त्वम् । अत्रैकवचनान्तस्य तस्य पाठात् वचनान्तरेण विग्रहे 'शेषाद्विभाषा' इति कपो विकल्पनात् प्रिया-

नड्वानित्यपि भवति । 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इत्युक्तत्वादत्रापि नुमादि भवति । धेनुश्च अनड्वांश्च धेन्वनड्वाहम्—'अचतुर' इत्यादिना द्वन्द्वेऽजन्तो निपातितः ॥

पचादयोऽनुदात्ताः स्वरितेतः । सचतिस्तूदात्तः ॥

## वस निवासे ॥ ९९० ॥

अनुदात्त उदात्तेत् । **वसति** । **ग्राममुपवसति**; ग्रामे वसतीत्यर्थः—'उपान्वध्याङ्वसः' इति उपाद्युपसृष्टस्य वसेराधारस्य कर्मत्वात् द्वितीया । एवं **ग्राममनुवसतीत्यादि** । ग्रामे **उपवसति**; अशननिवृत्तिं करोतीत्यर्थः—अत्र 'वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधः' इति कर्मत्वनिषेधः । अत्र अशिशब्देन अशननिवृत्तिरुच्यते । यद्वा—अर्थशब्दो निवृत्तिवचनः; यथा—'श्लेष्मणोऽर्थे कटुकमौषधं प्रयुञ्जीत' इति । तेनाशननिवृत्तेः सम्बन्धिनो वसेरित्यर्थो भवति । **उवास** । ऊषतुः । **उवसिथ, उवस्थ** । ऊषिव । ऊषिम । यजिवत् प्रसारणमिट्च । **वस्ता** । **वत्स्यति**—'सस्यार्धधातुके' इति सकारे तत्वम् । **वसतु** । **अवसत्** । **वसेत्** । **उष्यात्** । **अवात्सीत्** । **अवात्ताम्** । **अवात्सुः** । तकारादौ 'झलो झलि' इति सिज्लोपस्य पूर्वत्रासिद्धत्वात् 'सस्यार्धधातुके' इति तत्वे कृते पश्चात् सलोपः ॥

**क्व भवानुषितः? अमुत्रावात्सम्**—'वसेर्लुङ् रात्रिशेषे जागरणसन्ततौ' इति लुङ् । यदि कश्चित् केन चित् रात्रिशेषे तुर्ये यामे पृष्टो यामत्रयवासं प्रतिवक्ति तदा लुडित्यर्थः । यामत्रयस्याद्यतनत्वाल्लङि प्राप्ते वचनम् । भूतसामान्यविवक्षयैव लुङि सिद्धे वचनमिदं लङ्निवृत्त्यर्थम् । 'जागरणसन्ततौ' इति वच-

नात् सुप्त्वा प्रतिबुद्ध्य प्रतिवचने नायं नियमः । **विवत्सति** । **वावस्यते** । **वावस्ति** । लडि 'तिप्यनस्ते·' इति सकारस्य पदान्तत्वाद्दत्वे—**अवावत्** । सिपि तु 'सिपि धातोरुर्वा' इति रुत्वं चेति—**अवावः** इत्यपि भवति । **वासयति** । **अवीवसत्** । अत्र 'अणावकर्मकात्' इति परस्मैपदस्य 'न पादमि' इत्यादिना निषेधात् **वासयते** इत्यपि भवति ॥

**ऊषिवान्**—'भाषायां सदवस' इति भूतसामान्ये लिटो नित्यं क्वसु· । अस्मादेवादेशविधानात् भूतसामान्ये पक्षे लिङनुमीयते । परस्तादनुवृत्ते· लङ् लिङ्विषयेऽप्ययं लिडिति सीदतावुपपादितम् । **वास्तव्यः**—'वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च' इति वक्तव्यात् णिद्वद्भावात् वृद्धि· । अमा सह वसतः सूर्याचन्द्रमसावत्रेति **अमावस्या**—'अमावस्यदन्यतरस्याम्' इति ण्यति पक्षे वृद्ध्यभावो निपात्यते. अन्यदा वृद्धौ—**अमावास्या** । अमावास्यायां जातं **अमावास्यकम्** । **अमावास्यम्**—'अमावास्याया वा' 'अच' इति सप्तम्यन्ताज्जातार्थे वुनकारौ । चग्रहणात् 'सन्धिवेला' इत्यादिना शैषिकेऽणि **आमावस्य**मिति भवति । एकदेशविकृतन्यायेन त्रय एते प्रत्ययाः अमावस्याशब्दादपि भवन्ति—**अमावास्यकम्** । **अमावास्यम्** । **आमावास्य**मिति । **आवासी**—'याचृव्याह्वसंव्याह्वव्रजवद्वसां प्रतिषिद्धानाम्' इति ग्रहादिपाठाण्णिनिः । प्रतिषिद्धानां नञ्पूर्वाणामित्यर्थः । **प्रवासी**—'प्रेलप' इत्यादिना घिनुण् । **अनुषितो गुरुं शिष्यः** । **अनुषितो गुरुः शिष्येण**—'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादिना कर्तृकर्मणोः क्तः । अत्र वसिग्रहणं सकर्मकार्थम् । अकर्मकत्वे तु 'क्तोऽधिकरणे च' इति कर्तृभावाधिकरणेषु क्तो भवति । **उषितः** । **उषितमनेन** । **इदमेषामुषित्व**मिति । **उषित्वा** । **उषितः** । **उषितवान्**—'वसतिक्षुधो-

रिट्' इति क्तानिष्ठयोरिट् । 'नक्तासेट्' इति निषेधं बाधित्वा "मृडमृद" इत्यादिना सेटः क्तः किन्त्वविधानात् संप्रसारणम् । उपवस्त्रात् प्राप्तोऽस्य **औपवस्त्रम्**—'उपवस्त्रादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तदस्य प्राप्तमिति विषयेऽण्प्रत्ययः । प्रवासाय प्रभवति **प्रावासिकः** । एवम्**औपवासिकः**—'तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः' इति चतुर्थ्यन्तात्प्रभवत्यर्थे ठञ् । **वत्सरः** । **संवत्सरः** । **परिवत्सरः**—'वसेश्च' 'संपरिपूर्वाच्च' इति संपरिपूर्वात्सरप्रत्ययः । चकारात् **अनुवत्सरा**दयः । संवत्सरे जातं फलं पर्व वा **सांवत्सरम्**—सन्धिवेलादिषु 'संवत्सरात् फलपर्वणोः' इति पाठाच्छैषिकोऽण्प्रत्ययः । कालाट्ठञोऽपवादः । संवत्सरे देयमृणं **सांवत्सरिकम्** । **सांवत्सरकम्**—'संवत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ् च' इति सप्तम्यन्ताद्देये ऋणे ठञ् वुञौ । अत्र 'संवत्सराग्रहायणीभ्यां च' इत्युच्यमानेऽप्यनुवृत्त्या वुञ् भविष्यति; तद्विकल्पनात् कालाट्ठञपि । एवं सिद्धे ठञ्चेति प्रतिपदमनयोर्विधानं यदा देयमृणं फलं भवति तदा 'संवत्सरात् फलपर्वणोः' इति प्राप्तस्याणो बाधनार्थम् । **द्विसंवत्सरीणः** । **द्विसांवत्सरिकः**—'रात्र्यहस्संवत्सराच्च' इति रात्र्याद्यन्तात् द्विगोः 'तेन निवृत्तम्' 'तमधीष्टो भृतो भूतो भावि' इति विषये खप्रत्ययः ठञ् च । ठञि 'संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च' इति उत्तरपदवृद्धिः । अधीष्टस्सत्कृत्य व्यापारितः । भृतो वेतनेन क्रीतः । भूतभाविनौ प्रसिद्धौ । अनुसंवत्सरं दीयते कार्यं वा **आनुसांवत्सरिकम्**—'तत्र च दीयते कार्यं भववत्' इत्यतिदेशेन कार्यदीयमानयोर्मवलक्षणः कालाट्ठञ् । 'अनुशतिकादीनां च' इति उभयपदवृद्धिः । **आवसथः**—'उपसर्गे वसेः' इत्यथः । आवसथे वसति **आवसथिकः**—'आवसथात् ष्ठल्' इति ष्ठल् । ष्वित्वात्

स्त्रियां—**आवसिथिकी** । **आवसतिः**—'वहिवस्यर्तिभ्यश्चित्' इत्यतिप्रत्ययः । वसतौ साधु **वासतेयं**—'पथ्यतिथिवसति' इति ढञ् । **वस्त्रं** मूल्यम्—'धापृवस्यज्यतिभ्यो नः' इति नः । वस्त्रं हरत्यावहति वा **वस्त्रिकः**—'वस्त्रद्रव्याभ्या ठन्कनौ' इति द्वितीयान्ताद्वस्त्राद्धरत्यादिष्वर्थेषु यथासंख्यात् ठन् । वस्त्रेन जीवति **वस्त्रिकः**—'वस्त्रक्रयविक्रयाद्वन्' इति तृतीयान्तात् जीवत्यर्थे ठन् । **वसन्तः**—'तुभूवहिवसि' इति झच् । वसन्तसहचरितोऽपि ग्रन्थो वसन्तः तमधीते वेद वा **वासन्तिकः**—'वसन्तादिभ्यष्ठक्' इति द्वितीयान्तात् अध्येतृवेदित्रोष्ठक् ॥

वसन्ते पुष्प्यन्ति **वासन्त्य**. कुन्दलताः—'सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' इति सप्तम्यन्ताच्छैषिकोऽण् । एवं साधुपच्यमानयोरपि । वसन्ते उप्तं **वासन्तम्** । **वासन्तकम्**—'ग्रीष्मवसन्तादन्यतरस्याम्' इति तत्रोप्तमित्येतस्मिन्विषये वुञणौ । **वस्तिः**—'वसेस्तिः' इति ति. । वस्तिरिव **वास्तेयम्**—'वस्तेर्ढञ्' इतीवार्थे ढञ् । वस्तौ भवमपि **वास्तेयं**—'ढतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ्' इति सप्तम्यन्तात् भवार्थे ढञ् । **वस्तु**—'वसेस्तुन्' इति तुन् । **वास्तु**—'अगारे णिच्च' इति तुनो णिच्वाद्वृद्धिः । **वस्त्रम्**—ष्ट्रन् ॥

वस्त्रं समाच्छादयति **संवस्त्रयति**—'मुण्डमिश्र' इत्यादिना णिच् । वस्त्रात्समाच्छादन इति वृत्तिः । **वासिः**—'वसिवपियजिराजिग्रजिध्वजिवदिवजिसदिहनिवाशिवारिभ्य इञ्' इतीञ् प्रत्ययः । **वसु**—'शृपृस्नुहि' इत्यादिना उप्रत्ययः । वसुमत्तमो **वसिष्ठः** । वसुमत्तरो **वसीयान्** । मतुबन्तादिष्ठन्नीयसुनोः 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुकि 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इति वर्तमाने 'टेः' इति

टिलोपः । अस्मादेव लुग्विधानात् गुणवचनादपि मत्वन्तादिष्ठन्नीयसुनावनुमीयेते । **वासिष्ठः** । **वासिष्ठौ** । **वसिष्ठाः**—'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इत्यपत्यार्थेऽण् । तस्य 'अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगौतमाङ्गिरोभ्यश्च' इति बहुषु लुक् । श्वो वसीयः **श्वोवसीयसम्**—'श्वसो वसीयश्रेयसः' इति समासान्तोऽच् ॥

आच्छादनेऽयमदादिः । स्तम्भेने दिवादिरुदित् । स्नेहनादौ कथादिश्चुरादिश्च । 'वास उपसेवायां' 'निवास आच्छादने' इति च कथादिः ॥

## वेञ् तन्तुसन्ताने ॥ ९९१ ॥

**वयति** । **वयते** । **उवाय** । **ऊयतुः** । **ऊयुः** । **उवयिथ** । **ऊयथुः** । **ऊय** । **उवाय, उवय** । **ऊयिव** । **ऊयिम**—'वेञो वयिः' इति लिटि वा वयादेशः । तस्य किति 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्यतीनां ङिति च' इति सम्प्रसारणम् । चकारात् किदनुकृष्यते । अकिति तु 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । सर्वत्र यकारस्य 'लिटि वयो यः' इति निषेधान्न सम्प्रसारणम् । सर्वत्र क्रादिनियमादिट् । थलि 'अचस्तास्वत्' इति निषेधो न भवति वयेस्तासावसत्त्वात् । अत एव भारद्वाजविकल्पोऽपि न भवति । किति लिटि 'वश्चास्यान्यतरस्यां किति' इति पक्षे यकारस्य वकारे—**ऊवतुः** । **ऊवुरित्यादि** । वयादेशस्य स्थानिवद्भावेन क्त्वाक्तवतौ ङिति **ऊये** । **ऊयाते** । **ऊयिषे** । **ऊयिढ्वे** । **ऊयिध्वे** । **ऊयिवहे** । ध्वमि 'विभाषेटः' इति मूर्धन्यविकल्पः । अत्रापि वकारादेशपक्षे—**ऊवे** । **उवाते** इत्यादि । वयादेशाभा-

वपक्षे 'आदे चः' इत्यात्वे—**ववौ** । **ववतुः** । **ववुः** । **ववाथ, वविथ** । **ववथुः** । **वव** । **ववौ** । **वविव** । क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमाद्विकल्पः । 'आत औ णलः' इति णल औत्वम् । अन्यत्र 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपः । 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति च प्राप्तं संप्रसारणं 'वेञः' इति लिटि निषिद्ध्यते । तद्धि **वये** । **वयाते** इत्यादि । **वाता** । **वास्यति; वास्यते** । **वयतु, वयताम्** । **अवयत्, अवयत** । **वयेत्, वयेत** । आशिषि—**ऊयात्, वासीष्ट** । यासुटि 'किदाशिषि' इति कित्त्वात् संप्रसारणे परपूर्वत्वे च 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः । **अवासीत्** । **अवासिष्टाम्** । **अवास्त** । **अवासाताम्** इत्यादि । परस्मैपदे 'यमरमनमाताम्' इति सगिटौ ॥

**विवासति** । **विवासते** । **वावायते** । **वावाति** । **वावेति** । **वावीतः**—'ई हल्यघोः' इतीत्वम् । **वावति**—'श्नाभ्यस्तयोः' इत्याल्लोपः । लोटि हावीत्वे—**वावीहि** । **वाययति** । **अवीवयत्**—'शाच्छा' इति युक् ॥

**प्रवाय**—'न ल्यपि' इति वेञः संप्रसारणनिषेधः । **तन्तुवायः**—'ह्वावामश्च' इति कर्मण्युपपदेऽण् 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कस्यापवादः । **उत्वा** । **उतम्**—संप्रसारणपरपूर्वत्वे । **निष्प्रवाणिः** । नवं वास्यः प्रोयतेऽस्यामिति प्रवाणी तन्तुवायशलाका भण्यते । निर्गताः प्रवाण्यो यस्मादिति बहुव्रीहौ 'निष्प्रवाणिश्च' इति निपातनात्कबभावः । 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वः ॥

## व्येञ् संवरणे ॥ ११२ ॥

**व्ययति** । **व्ययते** । **विव्याय** । **विव्यतुः** । **विव्युः** । **विव्ययिथ** । **विव्यथुः** । **विव्याय** । **विव्यय** । 'न व्यो लिटि' इत्यात्वनिषेधः । णिति वृद्धावायादेशे तस्य 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वात् व्येशब्दस्य द्विर्वचने 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासयकारस्य संप्रसारणे परपूर्वत्वम् । संप्रसारणं चोभयेषां ग्रहणाद्धलादिशेषं बाधित्वा भवति । 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' इति वकारस्य संप्रसारणं न भवति । किति 'वचिस्वपि' इत्यादिना संप्रसारणे परपूर्वत्वे द्विर्वचने 'एरनेकाचः' इति यण् । थलि 'इडत्यर्तिव्ययतीनाम्' इतीट् नित्यम् । अन्यत्र क्रादिनियमादिट् । **विव्ये** । **विव्याते** । **विव्यिषे** । **विव्यिध्वे, विव्यिढ्वे** । **विव्यिवहे** । सर्वत्र 'वचिस्वपि' इत्यादिना संप्रसारणे परपूर्वत्वे च द्वित्वम् । **व्याता** । **व्यास्यति, व्यास्यते** । **व्ययतु, व्ययताम्** । **अव्ययत्, अव्ययत** । **व्ययेत्, व्ययेत** । आशिषि—**वीयात्, व्यासीष्ट** । यासः किच्त्वात् संप्रसारणपरपूर्वत्वयोः 'हलः' इति दीर्घः । **अव्यासीत्** । **अव्यास्ताम्** । परस्मैपदे सगिटौ ॥

**विव्यासति** । **विव्यासते** । **वेवीयते**—'स्वपिस्यमिव्येञां यडि' इति संप्रसारणे परपूर्वत्वे 'हलः' इति दीर्घे च द्विर्वचनम् । **वाव्येति** । **वाव्याति** । **वाव्यीतः** । **वाव्यति** । क्ङितोः 'श्नाभ्यस्तयोः' इत्याकारलोपः । हलादौ 'ई हल्यघोः' इतीत्वम् । **व्याययति**—'शाच्छास' इत्यादिना युक् । **संव्याय**—'व्यश्च' इति ल्यपि संप्रसारणनिषेधः ।

परिपूर्वत्वे तु 'विभाषा परेः' इति संप्रसारणविकल्पनात्—**परिवीय परिव्यायेत्युभयं** भवति ॥

**नीविः**—'नौव्यो यलोपः पूर्वपदस्य च दीर्घः' इति इकारप्रत्यये डित्त्वाट्टिलोपयलोपयोः पूर्वपददीर्घः । **नीवी**—'कृदिकारादक्तिनः' इति वा ङीष् ॥

## ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च ॥ ९९३ ॥

**ह्वयति** । **ह्वयते** । **जुहाव** । **जुहुवतुः** । **जुहुविथ, जुहोथ** । **जुहुव** । **जुहाव, जुहव** । **जुहुविव** । अत्र 'अभ्यस्तस्य च' इत्यभ्यस्तीभविष्यतो ह्वेञः प्रागेव द्विर्वचनात्प्रसारणेऽन्तरङ्गत्वात्परपूर्वत्वे पश्चात द्विर्वचनम् । पूर्वं तु द्विर्वचने 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' इत्यभ्यासस्य संप्रसारणं न स्यात् । व्यवधानान्नायं निषेधः स्यादिति न वाच्यम् । तत्र समानाङ्ग्रहणस्य चोदितत्वात् । तत्र णलि वृद्ध्यावादेशयोः स्थानिवत्त्वाद्धुशब्दस्य द्विर्वचनम् । अत्र पूर्वं परपूर्वत्वाभावे 'आत औ णलः' इति औत्वं स्यात् । **जुहुवतुरित्यादौ** 'आचिश्नुधातु' इत्यादिनोवङादेशः । तत्रापि प्रसारणेऽन्तरङ्गत्वात्परपूर्वत्वमवश्यमेष्टव्यम् । अन्यथा 'आतो लोपः' इत्याल्लोपे तस्य स्थानिवत्त्वात् द्विर्वचने 'असिद्धवदत्र' इत्यसिद्धत्वाद्व्यवधानाद्वङ् न स्यात् । थलि गुणः ; भारद्वाजनियमादिड्विकल्पः । उत्तमे णलि णित्त्वाभावपक्षे गुणेऽवादेशः । **जुहुवे**। **जुहुवाते** । **जुहुविषे** । **जुहुविध्वे, जुहुविढ्वे** इत्यादि । **ह्वाता, ह्वातासे** । **ह्वास्यति, ह्वास्यते** । **ह्वयतु, ह्वयताम्**। **अह्वयत्, अह्वयत** । **ह्वयेत्, ह्वयेत** । आशिषि—**ह्वूयात्** ।

ह्वासीष्ट । यासुटि किन्त्वात्प्रसारणे 'हलः' इति दीर्घः । अह्वत् अह्वताम्—'लिपिसिचिह्वश्च' इति परस्मैपदे सिजपवादोऽङ् । आत्मनेपदे तु 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इत्यडो विकल्पनात्—अह्वत । अह्वेताम् । अह्वन्त । अह्वास्त । अह्वासाताम् । अह्वासतेत्युभयं भवति, अडि सर्वत्र 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपः । इदमङ्विकल्पनं कर्तरीति, कर्मणि—अह्वायि । अह्वासातामित्यादौ चिण्सिचावेव भवतः । चिण्वदिटि—आह्वायिषाताम्मित्यादि । एव स्यसिच्सीयुट्तासिष्वपि—ह्वायिष्यते । ह्वायिषीष्ट । ह्वायितेत्यादि द्रष्टव्यम् । कर्मकर्तरि तु तशब्दे 'अचः कर्मकर्तरि' इति चिणो विकल्पनात्तदभावे 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इति पक्षेऽङ् । तदभावे सिच् । तस्य च पक्षे चिण्वदिटि—अह्वायि । अह्वत । अह्वास्त । अह्वायिष्टेति चातूरूप्यम् ॥

निह्वयते । संह्वयते । उपह्वयते । विह्वयते । आह्वयते 'निसमुपविभ्यो ह्वः' 'स्पर्द्धायामाङः' इत्यकर्त्रभिप्राये तङ् । अत्र स्पर्धा धात्वर्थस्य शब्दनस्य हेतुतया विषय इति वृत्त्यादौ स्थितम् । स्पर्द्धमान आह्वानं करोतीत्यर्थः । अत्र च ह्व इति न प्रयोगस्थस्याकारान्तस्यानुकरणं किन्तु धातोरेवैजन्तस्य आत्वं तु लक्षणवशादिति निह्वयत इत्यादौ तद् भवति । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् निह्वास्यत इत्यादावपि ॥

जुह्वषति । जुह्वषते—'अभ्यस्तस्य च' इति प्रसारणे पूर्वत्वे 'हलः' इति दीर्घे धातोरिगन्तत्वात् 'इको झल्' इति सनः कित्त्वाद्गुणो न भवति । जोह्वयते । जोहोति । जोहूतः । जोहुवति—'हुश्नुवोस्सार्वधातुके' इति यणत्र हुरू-

पस्य लाक्षणिकत्वादनर्थकत्वाच्च न भवति । **ह्वाययति** । **जुहावयिषति** । **अजूहवत्** । **अजूहवताम्** । **अजूहवन्** । अत्र 'ह्वः संप्रसारणम्' इति सन्परे चङ्परे च णौ प्रसारणे परपूर्वत्वे वृद्ध्यावादेशयो 'णौ कृतं स्थानिवत्' इति स्थानिवत्त्वाद्धुशब्दस्य हौ शब्दस्य वा द्विर्वचनम् । चङ्युपधाया ह्रस्वः । इदं च संप्रसारणं 'संप्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलीयः' इति वा 'णौ च संश्चङो.' इत्यस्य विषयसप्तमीत्वाद्वा 'आतो युक्' इति युकः प्राक् प्रवर्तते । कृते चान्तरङ्गत्वात्परपूर्वत्वमिति युक् न भवति । नन्वत्र 'अभ्यस्तस्य च' इति अभ्यस्तकारणस्य ह्वयतेः संप्रसारणविधानात्सिद्धमेव तदिति किं 'ह्वः संप्रसारणम्' इत्यनेनेति । ज्ञापनार्थं तु अभ्यासनिमित्तप्रत्ययेन व्यवधाने यदि भवति णावेवेति । तेन ह्वायकमिच्छति **ह्वायकीयिषति** ह्वायकीयते सन् **जिह्वायकीयिषतीत्यादौ** संप्रसारणं न भवति । एवञ्च सन्परे चङ्परे णावपि 'अभ्यस्तस्य च' इत्येव संप्रसारणम् । तच्चाभ्यस्तीभविष्यत इति **जुहावयिषति** । **अजूहवदित्यत्रापि** णिजुत्पत्तेः प्रागेव प्रसारणेऽन्तरङ्गत्वात्परपूर्वत्वे च नैव युक्तः प्रसङ्गः ॥

**आह्व**—'आतोऽनुपसर्गे कः' इत्यत्र भाष्ये 'सर्वत्र प्रसारणिभ्यो डो वक्तव्यः' इति डप्रत्यये टिलोपमुक्त्वा 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्यये वा परात्वादाछोपे संप्रसारणे यणि आह्व इति सिद्धमित्युक्तम् । उवङ् तु आछोपस्य 'असिद्धवदत्र' इत्यसिद्धत्वाद्वचवधानान्न भवति ॥

**निहवः** । **अभिहवः** । **उपहवः** । **विहवः** । **आहवः** । **ह्वनम्** । **ह्वः**—'ह्वःसंप्रसारणं च न्यभ्युपविषु' 'आङि युद्धे'

'भावेऽनुपसर्गस्य' इत्यप्प्रत्यये प्रसारणम् । **आहावः**—'निपानमाहावः' इत्यपि प्रसारणे वृद्धौ निपात्यते । निपानमुपकूपं जलाशयः । यत्र गावः पानार्थमाहूयन्ते । **आह्वा**—'आतश्चोपसर्गे' इति स्त्रियामङ्चाल्लोपः । **आहूतिः संहूतिरिति** बाहुलकात् क्तिनि । वेत्रादयस्त्रयोऽनुदात्ता उभयतोभाषाः ॥

## वद व्यक्तायां वाचि ॥ ९९४ ॥

**वदति** । **उवाद** । **ऊदतुः** । **उवदिथ** । **ऊद** । **उवाद, उवद** । **ऊदिव** । यजादित्वात्किति संप्रसारणम् । पिति 'लिट्यभ्यासस्य' इत्यभ्यासस्य । **वदिता** । **वदिष्यति** । **वदतु** । **अवदत्** । **वदेत्** । आशिषि—**उद्यात्** । **अवादीत्** । 'वदव्रज' इति वृद्धिः । **विवदिषति** । **वावद्यते** । **वावदीति, वावक्ति** । **वादयति** । **अवीवदत्** । **वादयते** । **अवीवदत** । वदेः कर्माविवक्षाया 'अणावकर्मकात्' इति प्राप्तं परस्मैपदं 'न पादमि' इत्यादिना निषिध्यते । **अभिवदति गुरुं देवदत्तः** । **अभिवादयते गुरुं देवदत्तं देवदत्तेनेति** वा । 'अभिवादिदृशोरात्मनेपद उपसंख्यानम्' इति पक्षे प्रयोज्यस्य कर्मत्वम् । परस्मैपदे तु कर्तृत्वात्तृतीयैव । वदते व्याकरणे यज्ञनारायणार्यः, भासमानस्तत्र सूत्रार्थवक्तीत्यर्थः । **कर्मकरानुपवदते** उपसान्त्वयतीत्यर्थ. । **वदते यज्ञनारायणार्यः**, जानाति वदितुमित्यर्थः । **गेहे वदते** । तद्विषयमुत्साहमाविष्करोतीत्यर्थः । **गेहे विवदन्ते**, विमतिपतिता विचित्रं भाषन्त इत्यर्थ । **कुलभार्यामुपवदते**, उपच्छन्दयतीत्यर्थः । 'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः' इति तङ् । भासनं दीप्तिः । उपसम्भाषणमुपसान्त्वनम् । ज्ञानं

सम्यगवबोधः । यत्न उत्साहः । विमतिर्नानामतिः । उपमन्त्रणं रहस्युपच्छन्दनम् । एषु उपसान्त्वनमुपच्छन्दनं च धातोरर्थतया विशेषणम् । अन्यत् धात्वर्थस्य । **संप्रवदन्ते राजानः**, सम्भूयोच्चारयन्तीत्यर्थः—'व्यक्तवाचा समुच्चारणे' इति तङ् । व्यक्तवाचो मनुष्याः । समुच्चारणं सम्भूयोच्चारणम् । अर्थस्वभावादुपसर्गयोगः । अव्यक्तवाक्षु पर्यायोच्चारणे च परस्मैपदमेव—**संप्रवदन्ति कुक्कुटाः । ब्राह्मणो वदति । क्षत्रियो वदति** इति । **अनुवदते कठः कलापकस्य** । अनुः सादृश्ये, यथा कलापोऽधीयानो वदति तथा कठ इत्यर्थः—'अनोरकर्मकात्' इति अनुवदतेस्तङ् । अत्र 'अनुः सादृश्ये' इति सादृश्यप्रतिपादनपरत्वादकर्मकत्वम् । अयमपि योगो व्यक्तवाग्विषय इति **अनुवदति वीणा गायकस्येत्यत्र** न तङ् । अकर्मकादित्युक्तेः **पूर्वोक्तमनुवदतीत्यत्र** च न भवति । **विप्रवदन्ते मौहूर्तिकाः, विप्रवदन्ति मौहूर्तिकाः**, युगपद्विरुद्धं भाषन्त इत्यर्थ.—'विभाषा विप्रलापे' इति तङ्विकल्पः । विप्रलापो विरुद्धभाषणम् । 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' इति प्राप्ते इयं विभाषेत्यव्यक्तवाक्कर्तृके युगपत् विरुद्धभाषणे तङ् न भवति—**विप्रवदन्ति शकुनय** इति । तथा व्यक्तवाक्कर्तृके विरुद्धाभाषणे क्रमिकेऽपि न तङ्—**मौहूर्तिकाः क्रमेण विप्रवदन्तीति । धनकामो न्यायमपवदते**, धनार्थी न्यायं नाद्रियत इत्यर्थः—'अपाद्वदः' इति कर्त्रभिप्राये तङ् ॥

**अवद्यं** पापम्—'अवद्यपण्य' इत्यादिना यति गर्ह्ये निपात्यते । **ब्रह्मोद्यं**, ब्रह्मणो वदनमित्यर्थः—'वदः सुपि क्यप् च' इत्यनुपसर्गे सुप्युपपदे क्यपि प्रसारणम् । चकाराद्यति **ब्रह्मवद्यम्** । **अनुपपदादुपसृष्टाच्च ण्यति—वाद्यं, प्रवाद्यमिति ।**

**मृषोद्यम्**—'राजसूय' इत्यादिना भावकर्म्मणोः क्यपि निपात्यते। **अवादी**—ग्रहादिषु 'याचिव्याह्व' इत्यादिसूत्रेण नञ्पूर्वो णिनिः। **वदः, वदावदः**—पचाद्यचि 'चरिचलिपतिवदीनाम्' इत्यादिना वा द्विर्वचनमभ्यासस्य त्वागागमः। **प्रियंवदः। वशंवदः**—'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्। **परिवादी**—सपूचादित्वात् घिनुण्। **प्रवादी**—'प्रे लप' इत्यादिना घिनुण्। **परिवादकः**—'निन्दहिंस' इत्यादिना ण्यन्ताद्वुञ्। वावदूकस्यापत्यं **वावदूक्यः**—'कुर्वादिभ्यो ण्यः' इति ण्यः। कुर्वादिपाठादेव यङन्ताद्वदेरूकप्रत्ययः। प्रवावदूकादय.* प्रयोगाश्चिन्त्याः। उदित्त्वात् 'मृडमृद' इत्यादिना सेटः क्तः किच्चात्प्रसारणम्। **अच्छोद्य**—'अच्छ गत्यर्थवदेषु' इति अच्छशब्दस्य गतित्वात्समासे ल्यपि प्रसारणम्॥

**वादि**—'वसिवपि' इत्यादिना इञ्प्रत्ययः। **वत्सः**—'वृतृवदि' इत्यादिना सप्रत्ययः। **वत्सल.** कामवान्—'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लच्प्रत्ययो मत्वर्थीयः। कामबलशब्दादर्शआद्यजन्तौ तद्वति वर्त्तेते। वत्सांशशब्दौ वृत्तौ कामबलार्थौ। **वत्सतरः**—प्रथमवयोतिक्रान्त इत्यर्थः। 'वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे' इति प्रवृत्तिनिमित्ततनुत्वोपाधिकार्थाद्वत्सादेः स्वार्थे ष्टरच्। वत्सशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं प्रथमवयस्सम्बन्धः। षित्त्वात् ङीष् स्त्रियां—**वत्सतरी**। वत्सानां समूहो **वात्सकम्**—'गोत्रोक्ष' इत्यादिना वुञ्। **वादित्रम्**—'अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ' 'इति ण्यन्तादित्रः। अण्यन्ताद्वा बाहुलकाद्वृद्धिः। **वदान्यः**—'वदेरान्यः' इत्यान्यप्रत्ययः॥

**अयमाधृषीयश्च॥**

---

*प्रवादुकादयः.

## टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः ॥ ९९५ ॥

अयं वदतिश्च परस्मैभाषावुदात्तेतौ* । श्वयति । शुशाव । शुशुवतुः । शुशुवुः । शुशविथ । शुशुवथुः । शुशुव । शुशाव, शुश्राव । शुशुविव । 'विभाषा श्वेः' इति लिङ्चङोः संप्रसारणविकल्पः । अत्र 'संप्रसारणं संप्रसारणाश्रयं च बलीयः' इति वा 'लिङ्चङोश्च' इत्यस्य विषयसप्तमीत्वाद्वा पिद्वचनेषु† गुणवृद्धिभ्यामन्यत्र यङश्च पूर्वं संप्रसारणेऽन्तरङ्गत्वात् पररूपत्वे च यथायोगं वृद्धिगुणयोगावबादेशौ । कित्सु तूवङादेशः 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वाच्छुशब्दस्य द्विर्वचनम् । प्रसारणाभावपक्षे—शिश्वाय । शिश्वियतुः । शिश्वियुः । शिश्वयिथ । शिश्वियिथ । शिश्विय । शिश्वाय, शिश्वय । शिश्वायिव । शिश्वायिम । यथायोगं वृद्धिगुणयोरायौ । कितीयङ् पूर्ववत् । स्थानिवत्त्वाच्छ्वशब्दस्य द्विर्वचनम् । पिति 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्य संप्रसारणं 'श्वयतेर्लिट्यभ्यासलक्षणप्रतिषेधः' इति वचनान्न भवति । श्वयिता । श्वयिष्यति । श्वयतु । अश्वयत् । श्वयेत् । आशिषि—शूयात्—कित्त्वात् 'वचिस्वपि' इत्यादिना प्रसारणे 'हलः' इति दीर्घः । अश्वत्—'जुस्तम्भु' इत्यङ् वा; तत्र परे 'श्वयतेरः' इतीकारस्याकारे अतो लोप. पररूपं च । अङोऽभावे 'विभाषा घेट्श्व्योः' इति पक्षे चङि द्विर्वचने इयङि—अशिश्वियत् । आशिश्वियताम् । आशिश्वियन् ।

*उदात्तौ.

†संप्रसारणमुभयेषा ग्रहणात् हलादि शेष बाधित्वा 'न सम्प्रसारणे संप्रसारणम्' इति बाधित्वा न भवति । किति 'वचिस्वपि' इत्यादिना सम्प्रसारणे पररूपत्वे द्विर्वचने शुशुवतु. शुशुवु । पिद्वचनेषु इत्यधिकं मुद्रितकोशे ॥

अशिश्वियः । अशिश्वियम् । अशिश्विय । अशिश्वियाव। चङडोरभावे सिचि अश्वयीत् । अश्वयिष्टामित्यादि । 'ह्रस्वन्तक्षण' इति वृद्धिनिषेधः ॥

शिश्वियिषति । शेश्वीयते । शोशूयते—यडि 'लिब्यडोः'* इति वा संप्रसारणम् । शेश्वयीति, शेश्वेति । शेश्वितः । शेश्वियति । लुडि प्रकृतिग्रहणन्यायेन अङ्चडो. अशेश्वियदित्यादि । अडि 'श्वयतेर' इत्यत्वं स्तिपा निर्देशान्न भवति इति तदेव रूपम् । यङ्लुकि 'लिब्यडोः'* इति संप्रसारणं लुका विषयत्वापहारान्न भवति । सिज्पक्षे अशेश्वयीत् । श्वाययति । अशिश्वयत्, अशूशवत् । शिश्वाययिषति, शुशावयिषति । अत्र 'विभाषा श्वेः' 'णौ च संश्चडोः' इति सन्परेचङ्परे णौ भाविनि पक्षे संप्रसारणे अन्तरङ्गत्वात्परपूर्वत्वे वृद्धचायौ । तयोः स्थानिवत्त्वात् शुशब्दस्य शौशब्दस्य वा द्विर्वचनम् ॥

श्वयथुः—'ट्वितोऽथुच्' । शूनः । शूनवान्—'श्वीदितो निष्ठायाम्' इत्यनिट्त्वम् । अत्र पदमञ्जर्यादौ 'ओदितश्च' इत्योदितोऽनन्तरस्य निष्ठातकारस्य नत्वविधानादेवेडभावस्य सिद्धेः श्वयतिग्रहणं शक्यमकर्तुम् । इति ॥

उदकेन श्वयत इति उदश्वित्—'क्विप् च' इति क्विप् । 'उदश्वितः' इति निर्देशात् प्रसारणाभावः । 'उदकस्योदस्संज्ञायाम्' इति उदकस्योदभावः । उदश्विति संस्कृतं औदश्वित्कम्—'उदश्वितोन्यरतस्याम्' इति सप्तम्यन्तात् संस्कृतमित्यर्थे वा

*"विभाषा श्वेः" इति युक्तम्.

ठक्, तस्य 'इसुसुक्तान्तात्कः' इति कादेशः । ठगभावे प्राग्दीव्यतीयेऽणि—**औदश्वितम्** । श्वा—'श्वन्नुक्षन्' इति कनिनिनिपात्यते । शुनः पश्येत्यादौ 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति तद्धितवर्जिते भसंज्ञानिमित्ते प्रत्यये प्रसारणे परपूर्वत्वम् । अतद्धित इति वचनात् 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' इति विकारावयवयोः प्राणिलक्षणेऽञि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे 'द्वारादीनां च' इत्यैजागमे च—**शौवं मांसमिति** भवति । **शौव संकोचः**—अत्र प्राग्दीव्यतीयेऽणि 'शुनस्संकोचे उपसंख्यानम्' इति 'अन्' इति प्रकृतिभावं बाधित्वा टिलोपः । संकोचादन्यत्र—**शौवनम्** । शुने हितं **शून्यम्**—'शुनस्संप्रसारणं वा च दीर्घत्वम्' इति गवादिपाठाद्यति प्रसारणे वा दीर्घ । अत्र 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः कस्मान्न भवति । न च प्रसारणस्य सामर्थ्यादिति वाच्यम् । यतः कृते परपूर्वत्वे टिलोपार्थमेव तत् स्यात् । अन्यथा 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावः स्यात् । दीर्घविधानसामर्थ्यान्न भविष्यति । अस्तु अत्रैवम्, अदीर्घपक्षे कस्मान्न भवति । तदुच्यते—द्वौ चकारौ क्रियेते वा च दीर्घत्वं चेति । तत्रान्त्यः संनियोगार्थः । आद्यो भिन्नक्रमः संप्रसारणमित्यनेन संबध्यते प्रसारणं चेति । तत्रान्यस्य समुच्चेतव्यस्याभावात् पुनरपि प्रसारण समुच्चीयते । तच्चावस्थापनार्थं सट्टिलोपं बाधिष्यते । **शुनी**—गौरादिपाठात् ङीष् । शुन इव शेपमस्य **शुनश्शेपः** । एवं **शुनःपुच्छः** । **शुनोलाङ्गूलः**—'शेषपुच्छलाङ्गूलेषु शुन उपसंख्यानम्' इति अलुक् । अकारान्तोऽप्यस्ति शेपशब्दो न केवलं सकारान्त इति कैयटपदमञ्जर्यादिषु । शुनो दन्तः **श्वादन्ताः** । 'शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णवराहपुच्छपदेषु' इति पूर्वपदस्य दीर्घः । एवं दंष्ट्रादिषूदाहार्यम् । श्वादंष्ट्रस्यापत्यं **श्वादंष्ट्रिः** । श्वभस्त्रस्यापत्यं

श्वाभस्त्रिः । अत्र 'श्वादेरञ्' इति द्वारादिलक्षण ऐजागमो वृद्धिप्रतिषेधश्च निषिद्ध्यते । अयमेव निषेधो द्वारादौ तदादिविधिज्ञापकः । श्वन्शब्दोऽपि तत्र पठ्यते 'श्वादेरञ्' इत्यत्र वार्तिके इकारादिग्रहणं श्वागणिकाद्यर्थमिति । श्वगणेन चरति **श्वागणिकः**—'श्वगणाट्ठञ् च' इति चरत्यर्थे तृतीयान्ताट्ठञ्-ठञौ । आदिशब्देन श्वायूथिकादिर्गृह्यते । अत्र च 'प्राग्वहतेः ष्ठक्' इति ठक् । इत्याद्यन्ताद्यदाऽन्यस्तद्धित उत्पद्यते तदाऽपि 'श्वादेरञ्' इति प्रतिषेधो भवत्येव । तथा च तत्र वृत्तिः—तदन्तस्य चान्यत्रापि तद्धिते प्रतिषेध इष्यत इति । तेन श्वाभस्त्रेरिदमिति विगृह्य 'इञश्च' इत्यणि कृते ऐजागमवृद्धिनिषेधयोरभावात् **श्वाभस्त्रमिति** भवति । यदा पुनरिकारादेरन्यस्तद्धितो भवति तदा श्वादंष्ट्रायां भवो मणिः **शौवादंष्ट्र** इति वृद्धिप्रतिषेध ऐजागमश्च भवति । श्वापदे भवं **शौवापदम्** । **श्वापदम्** । 'पदान्तस्यान्यतरस्याम्' इति श्वादेः पदशब्दान्तस्य द्वारादिलक्षण ऐजागमो वृद्धिप्रतिषेधश्च पक्षे निषिध्यते । शुनः समीपं **उपशुनम्**—'अव्ययं विभक्तिसमीप' इत्यव्ययीभावेऽचतुरादिषु निपातनादच् टिलोपाभावश्च संप्रसारणं च । गोष्ठे श्वेव **गोष्ठश्वः**—अयमप्यचतुरादावचि निपातितः । श्वानमतिक्रान्तः **अतिश्वः**—'अतेश्शुनः' इति टच् । अतेरिति वचनात् **निश्वा लोष्ट** इत्यादौ न भवति । श्वेव पाषाणः **पाषाणश्वः**—'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति समासः । 'उपमानादप्राणिषु च' उपमानवाची यः श्वन्शब्दोऽप्राणिषु वर्तते

तदन्ताट्टजिति टचि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । अत्र श्वशब्दः सादृश्यात्पाषाणवृत्तिरित्यप्राणिवचनः । अप्राणिष्विति वचनात् श्वेव वानरः **वानरश्वेत्यादौ** टच् न भवति ॥

मातरि सर्वस्य परिच्छेत्तर्याकाशे वर्द्धत इति **मातरिश्वा** वायुः— 'श्वन्नुक्षन्' इत्यादिना मातरि पूर्वपदे श्वयतेः कनिनि इकारलोपोऽलुक निपात्यते । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति वाऽलुक्सिद्धिः ॥

## वृत् ॥

यजादयो वृत्ता इत्यर्थः । भूवादिस्त्ववृत्कृत इति व्याख्यातारः । तेन चुलुम्पतीत्येवमादीनामाप्तप्रयोगसिद्धानां संग्रहः सिद्धो भवति ॥

इति श्रीपूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्राधीश्वरकम्पराजसुतसङ्गमराजमहामन्त्रिणा मायणपुत्रेण माधवसहोदरेण सायणार्येण विरचितायां

माधवीयायां धातुवृत्तौ शब्विकरणा भ्वादयः.

# शुद्धिपत्रिका.

## PART II.

| पुटे. | पङ्क्तौ. | अशुद्धम्. | शुद्धम्. |
|---|---|---|---|
| ३७८ | ६ | थ्वाङ्क्षतीति | ध्वाङ्क्षतीति |
| ३८० | ९ | कर्मे | कर्म |
| ३८४ | २२ | निष | निषे |
| ३८९ | १७ | क्र | क्स |
| ३९० | २ | मृष्ट | मृषु |
| ,, | १८ | च्चतृवच्छ | च्छतृवच्च |
| ४०१ | २२ | ढो ङे | ढो ढे |
| ४०४ | ९ | हदसनिरहिजिनि | दसनिरहिजनि |
| ,, | ,, | युण् | णुण् |
| ४९७ | ९ | रिरेटे | रिरेटे |
| ५३७ | ,, | लिग्लौ | जग्लौ |
| ५७५ | ८ | ऋ | ऋ |
| ,, | ९ | ऋच्छ | ऋच्छ |
| ,, | १९ | ऋच्छ | ऋच्छ |
| ५७६ | ११ | सूत्री | सूत्रि |
| ,, | १४ | ऋशब्दस्य | ऋशब्दस्य |

| पृष्ठे. | पङ्क्तौ | अशुद्धम्. | शुद्धम्. |
|---|---|---|---|
| १२९ | ५ | गो पूर्व | गोः पूर्व |
| ,, | ,, | इतित्थानिवत्त्व | इति स्थानिवत्त्व |
| १३० | १ | सतः | सन· |
| ,, | ७ | यङ्लु | यङ्लुु |
| ,, | १८ | इण षः | इणष्षः |
| १३२ | २४ | विनियाम्याम् | विनियाम्यम् |
| १६२ | ८ | अवोंढा | अवोढाम् |
| ,, | १३ | अवोढम् | अवोढ्वम् |